अपराध, अपराधी और अभियुक्त

परिपूर्णानन्द वर्म्मा
अध्यक्ष
अखिल भारतीय अपराध-निरोधक समिति

रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा–३

[केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (शिक्षा और युवक सेवा मंत्रालय) के लिये प्रकाशकों के सहयोग से कार्यान्वित प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत प्रकाशित)

मूल्य : सात रुपये अस्सी पैसे
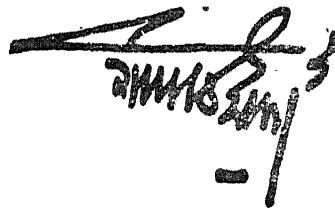
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा एवं समाज कल्याण मन्त्रालय के तत्वावधान में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इन योजनाओं में से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तकों की निश्चित संख्या में प्रतियाँ खरीद कर उन्हें मदद पहुँचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'अपराध, अपराधी और अभियुक्त' इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद तथा कापीराईट आदि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वयं की है। पुस्तक में अपराध के कारण, स्वरूप और उसको कम करने के उपाय सरल एवं रोचक ढंग से लिखे गये हैं। इसमें शिक्षा मन्त्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

विश्वास है कि हिन्दी पाठक पुस्तक का स्वागत करेंगे और यह योजना सभी क्षेत्रों में उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

गोपाल शर्मा
निदेशक

भूमिका

समाज के नियमों के प्रतिकूल आचरण अपराध है। समाज के सन्तुलन को, समाज की व्यवस्था को बिगाड़ने वाला व्यक्ति अपराधी है। इस साधारण विश्वास के आधार पर ही हमारे समाज में अपराध तथा अपराधी की सत्ता है।

किन्तु जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि कथित अपराधी ने वास्तव में अपराध किया है उसे दोषी नहीं कहा जा सकता। उसे दण्ड नहीं मिल सकता। दण्डित व्यक्ति को ही वास्तव में अपराधी कहना चाहिए। इसीलिए अपराध सिद्ध होने के पूर्व अपराधी की संज्ञा है अभियुक्त। जिस पर अभियोग लगाया जाता है वह अभियुक्त होता है।

कौन जाने अपराध की हमारी कल्पना ही दोषपूर्ण हो ! कौन जाने जिसे हम अपराधी कहते हैं वह अपराधी न हो ! कैसे मान लिया जाय कि अभियुक्त पर सही अभियोग लगाया गया है ! वह निर्दोष भी हो सकता है। दण्ड अपराध का मापदण्ड नहीं हो सकता। जरा से अपराध पर विचारपति अनायास कठोर दण्ड दे सकता है। एक ही दृष्टि में दण्ड की कठोरता में ही दण्ड की सार्थकता है तथा दूसरे की दृष्टि में उसकी कोमलता ही उचित है।

इन सब कठिन समस्याओं पर विचार करने के लिए यह पुस्तक लिखी गयी है। अपराध-शास्त्र पर मेरी पुस्तक "पतन की परिभाषा" काफी बड़ी तथा गहन पुस्तक है। विषय को सरल, सुबोध और नवीनतम रूप से समझने-समझाने के लिए "अपराध, अपराधी और अभियुक्त" सेवा में प्रस्तुत है। सम्भवतः इस विषय पर सबसे ताजे आँकड़े का तथा नवीनतम ग्रन्थों का इसमें समावेश है, उद्धरण हैं तथा मीमाँसा भी है। आशा है, ग्रन्थ से समाज की कुछ सेवा हो सकेगी।

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

विषय-सूची

१

अपराध तथा दण्ड का सिद्धान्त

इंगलैण्ड के एक नगर केर्नवनशायर के चीफ़ कांस्टेबुल लेफ्टिनेंट कर्नल जोन्स विलियम ने दण्डनीय अपराधों की एक लम्बी सूची तैयार की है और अपराधों की छ: श्रेणियाँ निर्धारित की हैं। जोन्स का कहना है कि "यदि कोई व्यक्ति लोभवश किसी मूल्यवान वस्तु को यदि जायज़ तरीक़े से न प्राप्त कर सके अत: नाजायज़ तरीक़े से प्राप्त करता है तो वह सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध है।" हो सकता है कि उनकी यह व्याख्या सही हो। पर एक मनोविश्लेषक तुरन्त पूछ बैठेगा कि "कोई व्यक्ति लोभी क्यों होता है? समाज में ऐसा संतुलन क्यों नहीं पैदा होता कि हरेक की माँग जायज़ रूप से पूरी की जा सके? फिर, कोई व्यक्ति आवश्यक वस्तुओं के अभाव से क्यों पीड़ित होता है? यदि ऐसा होता है तो समाज तथा राज्य को किसी व्यक्ति के अपराध के लिए ज़िम्मेदार क्यों नहीं समझा जाता?"

मनोविश्लेषक के इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है। समाजशास्त्री को इतना ही कह देने से संतोष न होगा कि मूलत: अपराधी दोषी है। अपराध-शास्त्रियों ने इस बात को निस्सन्देह सिद्ध कर दिया है कि ९९ प्रतिशत तथाकथित अपराधी स्वभावत: अपराधी नहीं होते। स्वभाव से कोई बुरा नहीं होता।

विश्व के सभी देशों के दण्डविधान को मूलत: एक सूत्र में पिरो देने के लिए आठवें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने निश्चय किया था कि "अपराधी वह व्यक्ति है जो मानवता के विरुद्ध अपराध करता है और मानवता के विरुद्ध वह अपराध है जिसमें मनुष्य के मौलिक अधिकारों पर आघात होता है—विशेषत: किसी के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता तथा शरीर के विरुद्ध।" पर, बेल्जियम की राज-धानी ब्रूसेल्स के एक विचारपति, श्री जोजेफ़ वी० दात्रीकोर्ल ने बड़े साहसपूर्वक कहा था कि "अपराध मानवता के विरुद्ध अपराध नहीं है, उसके प्रति एक अपराध है। ऐसे बहुत से अपराध हैं जो मानवता के विरुद्ध अपराध कहे जा सकते हैं पर कौन कह सकता है कि वे समूची मानवता के विरुद्ध अपराध हैं।"

अपराध है क्या ?

अपराध के कारणों का विश्लेषण करते समय हम अपना धीरज खो बैठते हैं। हमें यह देखकर हैरत होती है कि संसार के सभी राज्य विशद प्रयत्न करते रहते हैं फिर भी चारों ओर अपराध बढ़ते रहते हैं, बढ़ रहे हैं। मनोविश्लेषक, अदालतें, प्रोबेशन (आरक्षण) अधिकारी, पुलिस, जेल, सभी तो अपराध रोकने के काम में जुटे हुए हैं पर अपराध कम नहीं होता। अपनी समझ में हरेक देश अपने स्कूलों में अच्छी से अच्छी शिक्षा दे रहे हैं, फिर भी बाल-अपराध कम नहीं होता। इंगलैण्ड के एक नगर नार्थेम्पटनशायर के चीफ़ कांस्टेबुल डॉन विलियमसन के कथनानुसार "यह भयावह सत्य सामने है कि अपराध का आधार-स्रोत रोकने में कोई सफल नहीं हो रहा है। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि बीमारी का वैज्ञानिक कारण जान लिया जाय; ज़रूरत इस बात की भी है कि उसकी दवा भी तजवीज़ की जाय।"

लेकिन किस चीज़ की दवा तलाश की जाय ? बीमारी की—क्या अपराध एक बीमारी है ? किस चीज़ की बीमारी है ? ब्लैकस्टन ने समुदाय मात्र के प्रति कर्तव्य तथा अधिकार की अवहेलना के कार्यों की टीका करते हुए लिखा है कि "समुदाय मात्र के अधिकारों का बुरी नीयत से उल्लंघन करना अपराध है।"

स्टेफ़न की इस उक्ति की टीका करते हुए डा० पी० के० सेन लिखते हैं—"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि किसी कर्तव्य या अधिकार का उल्लंघन अपराध है।" पर, हरेक के जीवन में ऐसी बहुत सी चीज़ें हैं जो अधिकार या कर्तव्य की परिभाषा में आती हुई भी दण्डनीय नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन अपराध है। पर इसी बात के दोष में हम बच्चों को जेल नहीं भेज देते। कुछ ऐसे देश हैं जहाँ राजनीतिक कारणों से बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाती है कि अपने माता-पिता या गुरुजनों का कहना मत मानो। तुम्हारे देश का शासक जो कहे, वही उचित है। छात्रों को हड़ताल करने की नसीहत देना भी इसी श्रेणी में है। सर्जेन्ट स्टेफ़न "बुरी नीयत" के लिए भी दण्ड देना चाहते हैं। आज यदि इस प्रकार का दण्ड चालू हो जाय तो दण्ड देने वाले ही पहले पकड़ लिये जायँ। मध्ययुग-काल में श्री सी० जी० ब्रियान ने कहा था कि "आदमी को उसके विचारों के लिए दण्ड नहीं दिया जायगा। शैतान को भी नहीं मालूम है कि आदमी के मन में क्या होता है।" फिर भी हम "बुरी नीयत" की उपेक्षा नहीं कर सकते। किसी लड़के ने अपने साथी को पेंसिल बनाने के लिए चाकू दिया—दूर से फेंका। चाकू छटक कर उसके पेट में घुस गया। क्या वह लड़का हत्यारा है ? नहीं, उसकी बुरी नीयत तो थी नहीं। इसीलिए ब्रिटिश क़ानून में अपराध के साथ "नीयत" भी देखते हैं।

बिना बुरी नीयत के बुरी भावना के, किया गया अपराध, अपराध नहीं होता।

संसार में केवल एक ही देश ऐसा है जिसने हज़ारों वर्ष से "दुर्भावना"—"बुरी नीयत" को भी दण्डनीय माना था। वह था हमारा भारत तथा उसका प्राचीन सिद्धान्त। हमारे ऋषि-मुनियों ने मानव-कर्तव्य के दो रूप निर्धारित किये थे—धार्मिक तथा नैतिक। अपनी आत्मा तथा देव-पितरों के प्रति हमारा धार्मिक कर्तव्य था तथा समाज के प्रति नैतिक। यदि अज्ञानवश भी इन कर्तव्यों की अवहेलना की जाती थी तो वह दण्डनीय था। पर दण्ड का अर्थ यह नहीं था कि राजा या शासक ही दण्ड दे। ऐसे उल्लंघनों के लिए "प्रायश्चित्त", "आत्म-शुद्धि", "चित्त-शुद्धि" करनी होती थी। किसी परायी स्त्री की ओर कामुक दृष्टि से देखना भी अपराध था, उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान था।

हमारे प्राचीन स्मृतिकारों को मानव-स्वभाव तथा मानव-मस्तिष्क की बड़ी सूक्ष्म तथा सही जानकारी थी। आधुनिक मनोविज्ञान विशद् खोज करने पर भी उन प्राचीन सिद्धान्तों से ऊपर नहीं उठ सका है। वे प्राचीन सिद्धान्त अकाट्य हैं। उनका कहना था कि "मन को पहचानो", "आत्मा को पहचानो", तब मनुष्य को समझ सकोगे। मन ही मनुष्य के जीवन में बंधन तथा मोक्ष का कारण होता है। मनु ने लिखा था—

मन एव मनुष्याणां
कारणं बंध मोक्षयोः

मन निजी वस्तु है। हरेक व्यक्ति का मस्तिष्क तथा उसका विकास भिन्न होता है। इसीलिए मन अथवा चित्त के दोष से अपराध करने वाला व्यक्ति अपनी पृथक् सत्ता रखता है। हरेक की मानसिक गति की पृथक् सत्ता होने के कारण मन के दोष के कारण अपराध करने वाले हरेक व्यक्ति के अपराध की भी पृथक् समीक्षा करनी होगी। एक-स्वरिता स्थापित करने के लिए शासन 'अधिकांश समान अपराध के लिए एक ही दण्ड की व्यवस्था' कर देता है पर हरेक के मन की पहेली एक साथ नहीं सुलझायी जा सकती।

चित्त के विषय में इतना सब कुछ कहने के बाद हम फिर पुरानी बात पर वापस आते हैं। चित्त के विकार से ही किया गया कार्य अपराध है। क्या अपराध की चिकित्सा के लिए चित्त की चिकित्सा का प्रबन्ध करना पड़ेगा? केवल चित्त ही दोषी नहीं है। उसे अव्यवस्थित करने में समाज का भी बहुत बड़ा हाथ है। सामाजिक संतुलन ज्यों-ज्यों खोता जायगा, ज्यों-ज्यों सामाजिक विषमता बढ़ती जायगी, अपराध भी बढ़ता चला जायगा।

मोटे तौर पर, समाज के नियम या क़ानून की अवज्ञा करना अपराध है। भिन्न देशों के समाज में अपराध की भिन्न व्याख्या है। पुराने ज़माने में रोम में

चोरी करना अपराध नहीं था। चोरी करते हुए पकड़े जाना इतना बड़ा अपराध था कि प्राणदण्ड होता था। यदि चोरी का माल किसी के घर से बरामद हो तो उसे कोई दण्ड नहीं मिलता था। यदि रँगे हाथों पकड़ा जाय तो चोर को कोई बचा नहीं सकता था। अफ्रीका की एक ज़ाति में नियम है कि जिस लड़की से प्यार करो, उसके मुख पर इतने ज़ोर का घूँसा मारो कि सामने के दोनों दाँत टूट कर आगे आ जायँ। बस, शादी पक्की हो गयी। यदि इस प्रकार का प्रेम-प्रदर्शन, या यों कहिए कि सगाई करने का तरीक़ा, लंदन या नयी दिल्ली में अपनाया जाय तो फिर क्या दुर्गति होगी, इसकी कल्पना कर लीजिए।

फिर, क़ानून की अवज्ञा कोई स्थायी अपराध नहीं हो सकता। आज एक क़ानून बना। उसकी अवज्ञा अपराध है। कल यह क़ानून रद्द हुआ। अब वही कार्य करना पूर्ण वैध हो जाता है। बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं जिनको लोग अवैध जानकर भी सह लेते हैं। विगत महायुद्ध के बाद फ्रांस में चोरबाज़ारी घोर अपराध था, पर एक फ्रेंच मन्त्री के शब्दों में "चोरबाज़ार वालों के प्रति सरकार कृतज्ञ भी थी क्योंकि चोरबाज़ारी के प्रचलन के ही कारण **देश भूखों मरने से बच सका**।" ऐसी स्थिति में किसे दोषी मानकर उसे अपराधी समझें।

दण्ड-चर्या

अपराध का नाम लेते ही दण्ड की भी कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है। दोनों का इतना घना सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरा अधूरा रहता है। यों समझिए कि जब नियम होंगे, तभी उनका उल्लंघन होगा। जब उल्लंघन होगा तभी अपराध होगा। जब अपराध होगा, तभी दण्ड की बात पैदा होगी। इसीलिए दण्डशास्त्र में ये तीनों चीज़ें एक साथ आ जाती हैं। नीति-शास्त्र, अपराध-शास्त्र तथा दण्ड-विधान, इन तीनों को एक साथ मिलाकर "अपराध-विज्ञान" बनता है। केनी नामक लेखक का कथन है कि "अपराधी विधान (ज़ाब्ता फौजदारी) में वे बातें आती हैं जिनको राज्य ने आचार-शास्त्र का नियम बना रखा है और जिनका उल्लंघन समाज के विरुद्ध अपराध समझा जाता है।" हर समाज में ये नियम ही दण्ड कहलाते हैं। इनका उद्देश्य होता है "वैसा उल्लंघन दुबारा होने से रोकना।" अपराध के लिए दण्ड का आधार (१) प्रतिशोध, (२) भय पैदा करना, (३) निषेधात्मक यानी फिर वैसा न करने के लिए भयत्रस्त कर देना, (४) प्रायश्चित्त, तथा (५) सुधार हो सकता है। आज के युग में दण्ड का आधार या लक्ष्य अपराधी का सुधार करना है। उसे ऐसी नसीहत देना है कि फिर वह भूल न कर बैठे। इसलिए, आज का दण्डशास्त्री दण्ड देने के विषय में यही ऊहापोह करेगा कि इस अपराधी के मन

की वस्तु-स्थिति क्या है ? उसके मन की स्थिति जाँच करते समय यह देखना पड़ेगा कि उसकी वंश-परम्परा अच्छी है या बुरी, वह कैसे वातावरण में रहता है, उसके शरीर की रचना कैसी है, उसका व्यक्तित्व कैसा है, इत्यादि। आज हम सब यह मानते हैं कि मनुष्य के शरीर को दण्ड नहीं देना है। उसके मन का सुधार करना है, समाज में उसके विकृत मन को पुनः स्थापित करना है। प्रचलित नियम तथा विधान समाज की चेतना तथा जागरूकता को व्यक्त करते हैं। यदि आज जनसमूह ने यह अनुभव कर लिया है कि हर अपराधी की व्यक्तिगत चिकित्सा आवश्यक है, दण्ड का पात्र अपराध नहीं, अपराधी है, तो कोई भी न्यायाधीश केवल अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के आधार पर किसी को दण्डित नहीं कर सकता।

अस्तु, यदि पुराने विचार के अनुसार अपराध किसी अधिकार या कर्तव्य का उल्लंघन है "तो क्या केवल दण्ड देने से यह मान लिया जायगा कि अब वह अपराधी फिर कभी ऐसा अपराध न करेगा। एनरिको फेरी ने अपनी पुस्तक[1] में लिखा है कि "दण्ड केवल क़ानून द्वारा निषेध है कि अब दुबारा ऐसा मत करना।" पर, क्या क़ानून जिस बात को मना करता है, उसका नैतिक दृष्टि से भी वही प्रभाव होता है। क़ानून के बारे में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। यूरोप में सन् १७९० की २१ जनवरी को मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा हुई थी। तब से हरेक व्यक्ति के लिए यह अधिकार प्रतिपादित हो गया कि "हरेक को अधिकार है कि उचित न्याय प्राप्त करे।" पर, यह उचित न्याय क्या है ? दण्डशास्त्र या अपराध-शास्त्र ऐसा ठोस शास्त्र नहीं है कि उसे हर देश, काल व पात्र में समान रूप से लागू किया जा सके। संयुक्त राज्य अमेरिका के विसकौंसिन विश्वविद्यालय के विद्वान अध्यापक डा० मार्शल बी० क्लिनार्ड[2] ने सत्य लिखा है—

"निस्सन्देह यदि हमको अपराध का वैज्ञानिक या सामाजिक अध्ययन करना है तो हम उसके सिद्धान्तों को एक विशिष्ट ऐतिहासिक परम्परा से तथा एक ही समाज की बातों से नहीं प्राप्त कर सकते। वास्तव में हरेक राष्ट्र का अपना भिन्न राष्ट्रीय अपराध-शास्त्र होता है।"

इसलिए हमको अपनी बुद्धि से अपना अपराध-शास्त्र बनाना होगा। बिना असली क़ुसूर के जाने क़ुसूरवार को सज़ा कैसे दी जायगी। हमारी भावना से जो नीचे उतरा, वह अपराधी है। दण्ड ही उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। देखना होगा कि किस वातावरण में, किस परिस्थिति में अपराध हुआ है।

दुष्कार्य की वास्तविक ज़िम्मेदारी किस पर है ? बहुत से लोग कठोर अपराधी हो सकते हैं। वे अपराध करते-करते अपनी आत्मा खो बैठते हों, पर क्या हमको उनकी आत्मा को वापस दिलाने का प्रयत्न नहीं करना है ? चोरी, हत्या, डकैती आर्थिक कारणों से भी तो हो सकती है। परिस्थिति को व्यक्ति नहीं, राज्य तथा समाज उत्पन्न करता है। अतएव अपराधी के सुधार की ज़िम्मेदारी केवल क़ानून पर नहीं है, समाज तथा राज्य पर भी है। अनेक देशों में, ज्यों ही किसी ने अपराध किया, "राज्य की ज़िम्मेदारी उसके प्रति, उसके सुधार के प्रति" शुरू हो जाती है।

सुधार के लिए दण्ड आवश्यक नहीं है। अभीष्ट भी नहीं है। कोड़े या बेंत लगाना या सूली पर चढ़ा देना सुधार के लिए बाध्य नहीं करता। यह सोचना भी ग़लत है कि इससे इतने भय का संचार होता है कि दूसरे व्यक्ति अपराध करने से डरते हैं। पुराने ज़माने में हर प्रकार के अपराध का एक ही दण्ड था—प्राणदण्ड। जेल तो काफ़ी बाद की चीज़ है। प्राचीन भारत में तो किसी प्रकार का कारागार होता था। इंगलैण्ड में पहला जेल सन् १५५७ में बना। मध्य-युग में यूरोप तथा इंगलैण्ड में आर्थिक-व्यवस्था इतनी विकृत हो गयी थी कि बेकारी आदि के कारण आवारागर्दी तथा अपराध बढ़ गये थे। तत्कालीन अंग्रेज़ नरेश एडवर्ड चतुर्थ ने सन् १५५७ में अपना एक क़िला ऐसे आवारों को बन्द रखने के लिए दिया था। इस क़िले के भीतर एक कुँआ था जिसे सेन्ट ब्रिजेज़ वैल कहते थे। उसका पानी अपने औषधिक गुण के लिए विख्यात था। उसी कुँए के नाम के अपभ्रंश से इस प्रथम जेल को बिडवेल कहने लगे थे। सदियों तक इंगलैण्ड में जेलों को बिडवेल कहते थे। कुछ समय बाद इंगलैण्ड में एक महापुरुष पैदा हुए जिनका नाम था लार्ड हावर्ड। उन्होंने आन्दोलन किया कि बन्दी भी मनुष्य हैं और उसको एक अच्छे स्थान में, ठिकाने का काम देकर बन्द करना चाहिए। इस प्रकार उनके आन्दोलन के बाद, इंगलैण्ड में पहला ठिकाने का जेल सन् १७७६ में बना। सन् १७७९ के क़ानून के अनुसार हरेक नगर में एक "सुधार-गृह" की स्थापना करने का निश्चय हुआ जिसमें "लफंगे-उचक्के" रखे जा सकें। हरेक बन्दी, एक गोशाला की तरह, एक साथ बन्द कर दिये जाते थे। बाद में, हरेक के व्यक्तित्व की रक्षा के लिए, रात्रि में उसे अलग कोठरियों में बन्द करने का नियम बना। ब्रिटेन का पहला ठिकाने का मानवी जेल सन् १८९२ में पेंटनविले में स्थापित हुआ।

व्यक्तित्व की रक्षा

इंगलैण्ड ने इस सिद्धान्त को मान लिया था कि बन्दियों का भी अपना व्यक्तित्व होता है और उसकी रक्षा करनी चाहिए। धीरे-धीरे ब्रिटिश

अपराध-शास्त्रियों ने यह समझा कि किसी व्यक्ति को अनेक वर्षों के लिए जेल में बन्द रखने से बड़ी निर्दयता होती है। उसे बीच-बीच में, यदि लम्बी सज़ा है, तो यह भी अवसर मिलना चाहिए कि वह अपने घर-द्वार को भी सम्हाल सके। "पैरोल" पर—ज़मानत पर—रिहाई का तरीक़ा मैकनसिली ने इंगलैण्ड में जारी कराया। इसके बाद "जेल में सुधार-प्राप्त बन्दी" को "तारांकित बन्दी" की श्रेणी देने की प्रथा सन् १८७९ से चालू हुई। ऐसे बन्दियों को सींखचों में बन्द रखना अनुचित, अवांछनीय तथा निर्दय समझा जाता है। वे "खुले जेलों" में रखे जा सकते हैं। उनको अपने बारिकों के बाहर घूमने-फिरने की अनुमति दी जा सकती है। इंगलैण्ड तथा अमेरिका, दोनों देशों ने अन्य सभ्य देशों से पहले यह पाठ पढ़ लिया था कि चाहे कितना ही गुरुतर अपराध हो, अपराधी का अपना व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता। हमको उस व्यक्तित्व को विकसित कर बन्दियों को सन्मार्ग पर खड़ा कर देना है।

दक्षिण अमेरिका में निकारागुआ नामक एक राज्य है। उसके दण्ड-विभाग के शास्त्रीय संचालक डा० राबर्तो पेत्तिनातो ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा लन्दन में आयोजित द्वितीय अपराध निरोधक कांग्रेस (८ से २० अगस्त, १९६०) में कहा था—

"दण्ड का स्वरूप निर्धारित करते समय तथा कारागार की समस्या का हल निकालते समय यह ध्यान रखना पड़ेगा कि इनके द्वारा अपराधी के व्यक्तित्व को पुनः स्थापित करना है।"

आज हरेक सभ्य राज्य अपने कारागारों में बन्द व्यक्तियों के व्यक्तित्व की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कोलोराडो के एंगलउड नामक स्थान में केन्द्रीय सरकार की ओर से एक सुधार-गृह सन् १९४० में स्थापित हुआ था। इसमें १५ वर्ष से १७ वर्ष की उम्र के लड़के रहते हैं। जनसंख्या ४०० है। उसकी ताज़ी (सन् १९५९ की) रिपोर्ट में शुरू में ही लिखा है—

"हमें अपनी केन्द्रीय कारागार-प्रणाली में एक विशिष्ट कार्य करना है। हमें इन लड़कों को, जो कई बार दण्डित हो चुके हैं, ऐसे साँचे में ढालना है कि वे उपयोगी एवं अच्छे नागरिक बन सकें। चूँकि समाज के नैतिक, कर्तव्यशील तथा सामाजिक नियमों में वे असफल रहे हैं इसीलिए हम अपने सुधार-गृह में उनकी सामाजिक शिक्षा पर विशेष ज़ोर दे रहे हैं।"

ब्रिटिश कारागारों का दृष्टिकोण भी इसी प्रकार एकदम बदल गया है। ट्रेवर फ़िलपाट ने एक कारागार का वर्णन करते हुए लिखा है कि "बन्दियों के मित्र तथा रिश्तेदार मैदान में उनके साथ टहल रहे थे। चाय पी रहे थे। सभी इतने प्रसन्न थे मानो कहीं बाहर मनोरंजन के लिए गये हों

"...कुछ लोगों के मन को हल्का-सा धक्का भी लग सकता है कि कारागार के जीवन में बन्दियों को इतनी अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।"

अपराध में वृद्धि

हमने ऊपर लिखा है कि असन्तुलित सामाजिक व्यवस्था के कारण अपराध बढ़ता है। सन् १९३८ में इंगलैण्ड में ५,१३२ स्त्रियाँ तथा ८०,९२८ पुरुष बन्दी थे। सन् १९४१ में पुरुषों की अच्छी ख़ासी संख्या लड़ाई के मैदान में चली गयी अतएव वहाँ के कारागार में पुरुषों की संख्या घटकर ४२,१०१ हो गयी और स्त्रियों की संख्या बढ़कर ५,९३८ हो गयी। सन् १९३८ में वहाँ पुरुष बाल-अपराधी १२२६ तथा ८८ लड़कियाँ थीं। सन् १९४१ में इनकी संख्या बढ़कर क्रमशः १,१२८ तथा ३३३ हो गयी। लड़ाई की समाप्ति पर सन् १९४५ में क़ैदियों की औसतन संख्या २०,२६८ थी जब कि सन् १९३८ में ८,२४१। सन् १९४७ तक इंगलैण्ड की हालत सुधरी नहीं थी। सन् १९३८ में पुलिस के पास २,८३,००० अपराधों की जानकारी थी। सन् १९४७ में यह संख्या ४,९९,००० हो गयी थी। ट्रेवर फ़िलपाट के कथनानुसार सन् १९५८ में ब्रिटिश जेलों में आने-जाने वाले बन्दियों की संख्या १० लाख तक पहुँच गयी थी। बच्चों के बोर्स्टल इंस्टीट्यूट में २००० से ४००० से कम बच्चे कभी नहीं थे।

पुलिस-प्रबन्ध की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन, ये दोनों ही बहुत आगे बढ़े हुए देश हैं। इन दोनों देशों में सन् १९०० से ही महिला पुलिस चालू हो गयी थी। लन्दन के १०८ थानों में कुल ५७३ महिला कांस्टेबुल हैं। भारत में पुलिस-प्रबन्ध की दृष्टि से सबसे आगे बढ़ा हुआ प्रदेश बम्बई है। पर, लन्दन की २५ प्रतिशत पुलिस-क्षमता भी उसमें नहीं है। ब्रिटिश पुलिस का हम मुक़ाबला नहीं कर सकते। उत्तर प्रदेश में सन् १९५८ में ५७,९५८ पुलिसमैनों पर ९·४२ करोड़ रुपया खर्च हुआ था जब कि उसी वर्ष ग्रेट ब्रिटेन में ७४,१४८ पुलिसमैनों पर १३५ करोड़ रुपया ख़र्च हुआ था।

अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९५४ में ग्रेट ब्रिटेन में प्रति एक लाख व्यक्ति पीछे दण्डनीय अपराधों की संख्या १३०० थी, पश्चिमी जर्मनी में २९००, संयुक्त राज्य अमेरिका में १५०० तथा भारत में २०० थी। रोम में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस कांग्रेस हुई थी। उस कांग्रेस के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन में फ़ी १२००० व्यक्ति पीछे ५ अपराध हुए थे। संयुक्त राज्य अमेरिका में ६·५, तुर्किस्तान में १, जापान में ४, इटली में ४, फ्रांस में १·५ तथा भारत में केवल १। सन् १९६० की एक रिपोर्ट के अनुसार भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश में सन् १९५९ में ६५,००० अपराध हुए थे जबकि उसी वर्ष उत्तर प्रदेश के समान ही आबादी वाले ब्रिटेन में ५,१९,००० अपराध हुए थे। संयुक्त राज्य

अमेरिका में सन् १९६१ में १९,२६,०९० गम्भीर अपराध हुए थे। किसी प्रकार की भी शासन-प्रणाली हो, अपराधों की संख्या बराबर है। "नोवा कल्चुरा" नामक पोलिश समाचार-पत्र के अनुसार कम्यूनिस्ट पोलैण्ड में लगभग २ लाख बाल-अपराधी हैं। सोवियत रूस की राजधानी मास्को से प्रकाशित होने वाले मुख-पत्र प्रावदा ने कुछ समय पूर्व शिकायत की थी कि मास्को में चोरियाँ काफ़ी बढ़ गयी हैं। भारत में उड़ीसा ऐसे छोटे से प्रदेश में, ३० सितम्बर, १९६२ को समाप्त होने वाले चार महीने में, वहाँ की सरकार की रिपोर्ट के अनुसार, पिछले तीन वर्षों के, उसी महीने की अवधि की तुलना में डकैतियों की संख्या में १२·३, हत्याओं की संख्या में १·० तथा लूटपाट की संख्या में १५·० की वृद्धि हुई थी।

क्या अपराध की संख्या में इतनी वृद्धि होने पर भी दण्ड से अपराध की वृद्धि रुक सकती है?

दण्ड-प्रणाली

सोवियत रूस में नियम है कि ज्योंही कोई व्यक्ति जेल के भीतर पहुँचता है, उसके प्रति राज्य की ज़िम्मेदारी शुरू हो जाती है। उसका सुधार, उसका पुनर्स्थापन राज्य के ज़िम्मे होता है। यों तो ब्रिटिश कारागार बहुत ही प्रगतिशील तथा सुधरे हुए सुधार-गृह हैं, पर अमेरिकी तथा रूसी जेल भी बन्दी-सुधार की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गये हैं। पुर्तगाल ऐसे छोटे से देश ने भी २८ मई, १९२६ को एक क़ानून पास कर बन्दी के सुधार का संकल्प किया था। हर पुर्तगीज़ बन्दी को दिन भर के परिश्रम की मजदूरी मिलती है और ऐसी कमाई का अधिकांश बन्दी के नाम जमा होता रहता है। जेल से छूटने के समय उसे अच्छी ख़ासी रक़म मिल जाती है जिससे बड़ी सहायता मिलती है। पुर्तगीज़ जेलों में ५०० से अधिक बन्दी एक कारागार में नहीं रखे जाते। प्रसिद्ध ब्रिटिश जेल-सुधारक जान हावर्ड सन् १७७५ में हालैण्ड गये थे। वहाँ उन्होंने कारागारों को बहुत स्वच्छ तथा हवादार पाया था। वहाँ बन्दी के लिए अपना अलग कमरा भी था। किन्तु, उसी वर्ष जब वे डेनमार्क गये तो वहाँ के जेलों को हालैण्ड जेलों से एकदम उलटा पाया था।

जर्मनी में कारागार की प्रथा सन् १७७० से प्रारम्भ हुई। गुण्डे और लफंगों को एक स्थान पर एकत्र कर उनसे काम लेते थे। प्रथम अपराधियों को अलग रखते थे। आस्ट्रिया में क़ैदियों को भयानक काल-कोठरियों में रखते थे। बिना मुक़द्दमा हुए, विचाराधीन बन्दी बरसों सड़ा करता था। लार्ड जान हावर्ड ने इस दुर्गति को दूर करने का काफ़ी प्रयत्न किया। फलतः सन् १७८५ से वह निर्दय प्रथा वहाँ भी समाप्त हो गयी। सन् १९२५ से आस्ट्रिया में एक

बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हुआ। दो वर्ष कारागार भुगतने के बाद हरेक बन्दी के अपराध का पिछला इतिहास—पिछला रेकर्ड—जला दिया जाता है जिससे उसके जीवन में कलंक की कोई निशानी बाक़ी न रह जाय। सन् १९२८ से आस्ट्रिया में कतिपय प्रतिबन्धों पर रिहाई का नियम भी लागू हो गया। एशिया महाद्वीप में जेल-सुधार का काम काफ़ी विलम्ब से शुरू हुआ। फिर भी, कई देशों ने इस दिशा में काफ़ी प्रगति की है। सन् १९२५ तक चीन में नये प्रकार के कारागारों की संख्या ७४ थी। सन् १८७३ में जापान सरकार ने सभी जेलों में प्रचलित एक संक्रामक रोग की जाँच के लिए डा० जान सी० बेरी को बुला भेजा। जापानी जेलों की दुर्दशा देखकर वे बड़े दुःखी हुए। उन जेलों में तरह-तरह के दण्ड दिये जाते थे, जैसे आदमी को मुर्गा बनाकर उसे कोड़ों से पीटना। जापान में जेल-सुधार सन् १९१८ से प्रारम्भ हुआ। अब तो वहाँ के कारागार बहुत ही उन्नत दशा में हैं तथा बन्दी के सुधार के लिए—बाल-अपराधी के सुधार के लिए—वहाँ काफ़ी काम हो रहा है। कई दृष्टियों से, बाल-अपराधी के सुधार के लिए अमेरिकन जेलों से ज़्यादा अच्छा काम जापानी जेलों में होता है।

जेल-सुधार की बात महापुरुषों के मन में काफ़ी पहले आ चुकी है। ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल ने अपनी जवानी के दिनों में ही, सन् १९१० में ही पार्लमिन्ट में जेल-सुधार का प्रश्न उठाया था। संयुक्त राज्य अमेरिका में राजनीतिक तथा सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन-समिति ने सन् १९३१ से ही जेल-सुधार का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। गिलिन्स ने अपनी पुस्तक[१] में "सामाजिक कोढ़ियों को जीवन में पुनर्स्थापित" करने की आवश्यकता पर बहुत ज़ोर दिया था। सन् १९४५ में "इंगलैण्ड में बच्चों की देखरेख" पर कर्टिन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। मैजिस्ट्रेटों के कार्यों की जाँच के लिए वहाँ एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ था। इन दोनों रिपोर्टों से दण्ड-सुधार के विज्ञान पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा था। पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक लियोनार्ड जे० माश ने दण्ड-सुधार के मनोवैज्ञानिक पहलू पर अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने सिद्ध किया है कि चाहे हम नये अपराध न रोक सकें, पर अपराधी को सही मार्ग पर चलने वाला नागरिक अवश्य बना सकते हैं। इंगलैण्ड के एक अवकाश प्राप्त मैजिस्ट्रेट श्री क्लाड मलिन्स ने अपनी "याददास्त"[२] में लिखा है कि ब्रिटिश न्यायाधीश हर अपराधी को प्रथम अपराधी समझकर ही उस पर विचार करता है। वह पुलिस की इस दलील से प्रभावित नहीं होता कि अपराधी ने वही अपराध अन्य बार भी किये हैं। पुलिस

१ Gillins : *Tuning the Criminal.*
२ Claud Mullins : *Reminiscences.*

को अदालत में यह कहने का भी अधिकार नहीं है कि अपराधी उसी अपराध में पहले भी सज़ा काट चुका है। ब्रिटिश न्याय का सिद्धान्त है कि चाहे ९९ अपराधी "अपराध में सन्देह" का लाभ उठाकर भले ही छूट जायँ पर एक भी निरपराध को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। निरपराध को दण्ड मिलना न्याय का बड़ा भारी अपराध होगा। डा० रावर्तो पेत्तिनातो ने लिखा है :—

"सामाजिक पुनर्शिक्षण देने वाली संस्थाओं के समान ही कारागारों को भी अपने संरक्षण में आये हुए बन्दियों को अपनी खोयी हुई मानवता पुनः वापस दिलाना है। उनमें श्रम—परिश्रम—की मर्यादा के प्रति आस्था भर देना है। उनके जीवन को निजी पुनर्निर्माण की ओर अग्रसर करना है। जेल में आने वाला व्यक्ति समाज से अलग नहीं हो गया है। उसे समाज के प्रति तथा अपने परिवार के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाना ही पड़ेगा। मनुष्य के गुण-दोष सबको आँक कर उसे उपयोगी कार्य में लगाना होगा। उसके प्रति उपेक्षा तथा कड़वा व्यवहार उसके भीतर के दोषों को और बढ़ा देगा, समाज के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न कर देगा और समाज से टूट जाने का स्थायी बीज बो देगा। जेलों को बन्दियों को आवश्यक श्रम तथा यंत्रीय शिक्षा देकर राज्य के लिए उपयोगी श्रमिक बना कर वापस लौटाना है।"

तीन बातें

पिछले दस वर्षों में संसार के जिस कोने में भी दण्ड-सुधार आदि पर सम्मेलन हुए हैं उनमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि जेल की सज़ा को सज़ा नहीं समझना चाहिए। उसके तीन उद्देश्य हैं—शिक्षा देना, संयम सिखाना तथा काम पर नियमित हाज़री। सामाजिक पुनर्शिक्षण के लिए ये तीनों बातें साथ-साथ चलनी चाहिए। यदि सज़ा देने की भावना है तो उसका अर्थ होगा अधिकार से वंचित करना, सम्पत्ति से वंचित करना, स्वाधीनता से वंचित करना। नागरिक अधिकार छीन लेने पर शिक्षा देना, संयम सिखाना, काम सिखाना—यह तो दण्ड नहीं है। जेल में काम सिखाने के साथ जो नया दृष्टिकोण बन्दी को प्रदान किया जाता है, उसका अपना अलग ही महत्व है। समाज के हरेक प्राणी को उपयोगी काम सीखने तथा उपयोगी काम प्राप्त करने का अधिकार है, उसे इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

यदि हम समाज के स्वतन्त्र तथा कारागार के परतन्त्र जीवन में भेद को कम से कम करना चाहते हैं तो हमको अपने कारागारों में बन्दियों के लिए अच्छे से अच्छा तथा उपयोगी काम देने का प्रबन्ध करना होगा। साधारणतः बन्दी साधारण वर्ग का होता है। उसका परिवार होता है। उसकी पत्नी, उसके बच्चे होते हैं। पेट की आग को शान्त करने के लिए उसकी पत्नी

वेश्यालय में जा सकती है, उसकी बेटियाँ व्यभिचार से धन कमा सकती हैं। आख़िर वे अपना पोषण कैसे करेंगी ? यदि बन्दी छूट कर बाहर आ भी गया तो वह कौनसा काम करके उनका पेट भरेगा। अपराध करेगा तो पुनः जेल जायगा। इसलिए यदि बन्दी को जेल में ठिकाने का काम दिया गया तो वह भीतर से बैठा-बैठा कमा कर अपने परिवार का पेट भर सकेगा, बाहर निकलने पर सही ढंग से अपनी जीविका चला सकेगा। इसलिए प्रश्न केवल एक अपराधी का नहीं है, पूरे परिवार का है। एक के अपराध से सब को अपराधी बनने से रोकना है।

कारागार में परिश्रम

सन् १९५० में हेग नगर में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन इस बात पर विचार करने के लिए हुआ था कि कारागार में बन्दियों को ऐसा कौन-सा काम दिया जाय कि उससे उनका नैतिक सुधार भी हो तथा वे सामाजिक और आर्थिक रूप से भी लाभान्वित हों। सम्मेलन ने जो मूल बातें तय की थीं वे ये हैं—

१. जेल के बन्दियों को जो कार्य दिया जाय वह उसके दण्ड का एक अंग न समझा जाय बल्कि उसके सुधार का एक उपाय माना जाय।

२. हरेक बन्दी का काम करना आवश्यक है।

३. प्रशासकीय तथा संयम की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए तथा बन्दी के घरेलू पेशे पर भी विचार रखते हुए यह उचित है कि बन्दी को यथाशक्य अपने मन लायक़ काम चुनने का अवसर दिया जाय।

४. सरकार का कर्तव्य है कि बन्दी के लिए पर्याप्त कार्य की व्यवस्था करे।

५. कारागार के कार्य तथा स्वतन्त्र व्यक्ति के कार्य में एक समानता होनी चाहिए। उनके परिश्रम का कोई उद्देश्य होना चाहिए तथा समुचित संगठन होना चाहिए। कोई भी काम हो पर मानव की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल न हो। यदि इन बातों का ध्यान रख कर जेल में बन्दी को काम दिया जायगा तो वह नैतिक दृष्टि से लाभदायक तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उपयोगी होगा।

६. यदि कारागार के कार्य करने में अंग-भंग हो जाय या काम के कारण बीमारी हो जाय तो बन्दी को मुआवज़ा भी मिलना चाहिए।

७. सामाजिक सुरक्षा के लिए, चाहे वह स्वास्थ्य का बीमा हो या बुढ़ापे की पेंशन हो, जो भी नियम सरकार ने बनाये हों, उनका लाभ बन्दी को मिलना चाहिए।

८. हरेक बन्दी की, जो काम कर रहा हो, प्रचलित पारिश्रमिक के समान मज़दूरी नहीं हो सकती पर जहाँ तक हो सके, इस प्रणाली को लागू करना चाहिए।

दण्ड का यह नया रूप है, दण्ड-सुधार की यह नयी दृष्टि है। हमने देख लिया कि दण्ड की कठोरता से अपराध रुकता नहीं। अपराध घटता नहीं। जेल-यात्री सुधरता नहीं। तब नया उपयोग क्यों न करें कि मानव को दानव न बनने दें। यह बात तो भ्रमपूर्ण साबित हो चुकी है कि दण्ड की कठोरता से दूसरे लोग अपराध करने से डरते हैं। ब्रिटेन में जब बच्चों को बारह आने मूल्य की चोरी करने पर भी प्राणदण्ड मिलता था तो एक बड़े पादरी ने लिखा था कि फाँसी पर लटकने के पूर्व ऐसे १६७ अपराधी बच्चों से उन्होंने बात करके पता लगाया था कि उनमें से ९० प्रतिशत उसी अपराध के लिए दूसरे बच्चों को फाँसी पर लटकते देख चुके थे। ऐसे जल्लाद जो दर्जनों साल तक अपराधी लोगों को फाँसी पर लटकाते रहे हैं, स्वयं वही अपराध कर फाँसी पर लटकाये गये हैं। इसलिए दण्ड के भय से अपराध कम होंगे, यह कल्पना मात्र है।

सभ्यता तथा संस्कृति में संसार के दो श्रेष्ठ देश ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की अपराधी-स्थिति देखकर आश्चर्य होता है। इंगलैण्ड और वेल्स में सन् १९३८ में पुलिस की जानकारी में २,८३,२२० अपराध हुए थे। सन् १९५२ में ५,१३,५५९ तथा सन् १९६१ में ८,०६,९०० की संख्या थी। सन् १९६१ में इस देश में ११,५२,३९७ व्यक्तियों को सज़ा सुनायी गयी थी।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १९६० की तुलना में ६३,४१० गम्भीर अपराध अधिक हुए, यानी कुल संख्या १९,२६,०९० थी। उस देश में प्रति ४ मिनट पर एक गम्भीर अपराध, प्रति ३३ मिनट पर एक बलात्कार, प्रति घण्टे पर एक हत्या, प्रति ६ मिनट पर एक डकैती, प्रति ३७ सेकण्ड पर एक सेंध मारी, प्रति एक मिनट पर साधारण चोरी तथा प्रति डेढ़ मिनट पर एक मोटर कार की चोरी होती है।[2]

अपराध बढ़ रहा है, अपराध की समस्या विषम हो रही है। आधुनिक वैज्ञानिक तथा यंत्र-युग की समस्याओं के कारण अपराध की धारा भी बदल गयी है। अपराध के रूप-रंग, उसके कलेवर भी बदल गये हैं। पर, सभ्यता अपने अनेक झगड़ों में फँसी हुई है। राजनीतिक सिद्धान्तों के वितंडावाद तथा चुनाव के चक्कर में वह दम मारने की फ़ुरसत नहीं पा रही है कि इन महत्वपूर्ण मसलों पर भी विचार कर सके।

१ Criminal Statistics. England and Wales, 1961, Her Magesty's Stationary Office, London.

२ Crime in the United States—Uniform Crime Reports, 1961, published in July, 1962.

२

अपराध के भिन्न स्वरूप

सितम्बर, १९६० में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में अपराध निरोध पर द्वितीय कांग्रेस का अधिवेशन लन्दन में हुआ था।[१] प्रथम कांग्रेस का अधिवेशन सन् १९५५ में जेनेवा में हुआ था। द्वितीय कांग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव में स्वीकार किया है कि विश्व में चारों ओर अपराध बढ़ रहे हैं। अपराधी प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसकी रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि दण्ड की अधिकता के स्थान पर सहानुभूतिपूर्ण तथा सूचनापूर्ण कार्यक्रम को अपनाया जाय। सन् १९६० में संयुक्त राज्य अमेरिका की बड़ी पुरानी तथा सम्मानित संस्था "अमेरिकन करेक्शनल असोशियेसन" ने अपराध-निरोध के सम्बन्ध में कतिपय सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे।[२] उस संस्था ने लिखा है कि "आज के समाज-विज्ञान वालों के लिए अपराध-निरोध की समस्या बड़ी भारी चुनौती बन गयी है। आजकल वैज्ञानिक ज्ञान की क्रमागत वृद्धि तथा समाज में अपराध की समस्या से संघर्ष करने वालों की बुद्धिमत्ता का मिला-जुला लाभ उठाकर हम अपराध-निरोध के लिए समुचित क़दम उठा सकते हैं।"

अतएव, इस समस्या का हल समाज की रचनात्मक शक्ति के सदुपयोग से ही निकलेगा। परिवार, पाठशाला, मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा या गुरुद्वारा के सम्मिलित सहायता तथा सहयोग से चरित्र-निर्माण हो सकेगा। अपराध निरोध की असली कुंजी समाज के हाथों में है। सोवियत रूस के मुख्य सरकारी वकील एम० रोमन रोडेंको ने अभी हाल में परामर्श दिया है कि दण्ड-विधान के बजाय जनता के सहयोग तथा पारिवारिक-चरित्र-गठन पर ध्यान देने से ही समस्या

१ 2nd U.N.O. Congress on Prevention of Crime and Treatment of Offenders.

२ Prison Association, New York, 116th Report, 1960.

सुलझ सकेगी।[1] लन्दन कांग्रेस ने भी इसी बात पर ज़ोर दिया था। उसने स्पष्ट कहा था कि दण्ड-विधान में ऐसा संशोधन करते रहना चाहिए कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति समाज की प्रगति तथा भावनाओं के अनुकूल हो। दण्ड देते समय क़ानून की धारा पर ही न चलकर व्यक्ति की समस्याएँ, परिस्थितियाँ तथा व्यक्तित्व, हर एक का ध्यान रखना चाहिए।[2]

क़ानून बदलते रहते हैं, समाज के नियम बदलते रहते हैं। आज जो अपराध है, कल वही अपराध न भी रहे। कोई व्यक्ति जन्मजात अपराधी नहीं होता। कर्नल जोन्स विलियम ने लोभ को, लालच को अपराध का मुख्य कारण बतलाया है। पर ऐसा कौन व्यक्ति है जिसमें लोभ किसी न किसी रूप में विद्यमान न हो। अधिकार का लोभ, धन का लोभ, ऐसे अनेक लोभों के शिकार हम सभी हैं। अफ्रीका के अनेक प्रदेशों में तथा जंगलों में यात्रा करने के बाद बाल-अपराध पर एक यात्री ने लिखा है—

"आपको उस लड़के की बात याद होगी जिसने चॉकलेट इसलिए नहीं चुराया था कि उसे मिठाई का लोभ था बल्कि इसलिए चुराया था कि उस पर चमकता पन्नीदार काग़ज़ चिपका हुआ था। अपनी यात्रा के अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि हम सभी पन्नीदार—चमकदार—काग़ज़ के लोभ के शिकार हैं।"[3]

इसलिए किसी को आसानी से अपराधी कह देना बड़ा कठिन है। प्रत्येक देश के लोग इसी छानबीन में लगे हुए हैं कि वास्तविक अपराधी कौन है। सोवियत रूस की सरकार के प्रधान वकील रोडेंको ने इस बात की शिकायत की है कि पुलिस अपराध की ठीक से छानबीन नहीं करती। ठीक से मुक़द्दमे तैयार नहीं करती। रूसी न्यायालय ठीक से फ़ैसला नहीं कर पाते। बड़ा देश हो चाहे छोटा हो, सभी जगह समस्या बराबर गम्भीर है। उड़ीसा के छोटे से प्रदेश में, जिसकी जनसंख्या केवल १ करोड़ ७५ लाख है, ३१ मार्च सन् १९६२ को समाप्त होने वाली तिमाही में ७३ हत्याएँ तथा ७४ डकैतियाँ हुईं। गत वर्ष की इसी तिमाही के औसत में क्रमशः १२·३ तथा २८·६ की वृद्धि हुई थी।

पर यह सब कहने पर भी साधारण पाठक को सन्तोष नहीं होगा। उसे अपराध की एक वास्तविक, सही और मन को सन्तोषदायक व्याख्या चाहिए। बिना अपराध की व्याख्या किये हम किसी को अपराधी कैसे कह सकते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात और भी माननी चाहिए। श्री क्लकहॉन[4] ने

Soviet Prosecutor-General M. Roman Rodenko : See *Pravda*, Moscow, May 27, 1962.
Prison Association of New York, 116th Report, p. 20.
Dan Q. R. Mulock Houwer : *Newsletter of the International Union for Child Welfare*, No. 88, March-April, 1962.
C. Kluckhohn : *A Mirror for Man* (1950), p. 269.

सही लिखा है कि "समाजशास्त्री व्यावहारिक तथा वर्तमान पहलू को देखता है।" इस दृष्टि से अपराध की शास्त्रीय व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है, व्यावहारिक व्याख्या करनी है। समाज-विज्ञान स्वतः एक विशद् विज्ञान है। प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर इसे अन्य सामाजिक समस्याओं की जननी कहा करते थे।[१] अपराध-शास्त्र समाज-शास्त्र का अंग है। समूचे समाज के सामाजिक वातावरण से ही इसका प्रारम्भ तथा अन्त होता है। इसीलिए समाज-शास्त्र का विद्यार्थी सामाजिक कारणों में ही अपराध का स्रोत ढूँढ़ता है। अब हम उन पुरानी बातों के आधार पर यह फ़ैसला नहीं कर सकते कि कौन पापी है और कौन पुण्यात्मा। यह भगवान से डरता है और वह भगवान को नहीं मानता। आज की दुनिया में ऐसे व्यक्ति काफ़ी मिलेंगे जो भगवान की सत्ता में ही विश्वास नहीं करते। फिर भी, उनमें से बहुत से ऐसे व्यक्ति होंगे जो भगवान की सत्ता में विश्वास करने वालों से अधिक कर्तव्यपरायण तथा पुण्यात्मा होंगे। वेक्कारिया और बेंथम का कहना था कि अपराधी एक साधारण नागरिक है, अन्तर केवल इतना है कि वह लोभ के जाल में पड़ गया।

इटालियन अपराधशास्त्री लोम्ब्रोज़ो इस मत के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि अपराधी साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है। उसकी सत्ता ही भिन्न होती है। अपराधशास्त्री गोरिंग का कहना है कि अपराधी साधारण व्यक्ति से भिन्न है, उसकी बुद्धि उनसे कहीं अधिक दुर्बल होती है। इस प्रकार एक अपराध-शास्त्री दूसरे की बात काटता चला गया है। किन्तु, आधुनिक युग के अपराध-शास्त्री सत्य के अधिक निकट हैं। वे प्राचीन भारतीय पण्डितों के अधिक निकट हैं। हमारे प्राचीन शास्त्रियों ने कहा था कि हरेक मानव का अपना व्यक्तित्व होता है। आज हरेक अपराधशास्त्री यह स्वीकार करता है कि हरेक अपराधी का अपना व्यक्तित्व है और उस के व्यक्तित्व पर विचार कर दण्ड देना चाहिए। मानव-स्वभाव बड़ी विषम वस्तु है। समाज का वातावरण बड़ा विषम है। इन विषमताओं के बीच में मनुष्य का व्यक्तित्व विकसित होता है या डूब जाता है। यदि कोई व्यक्ति समाज के नियमों के साथ अपने को संतुलित नहीं कर सकता तो उसे ही जीवन में असफल कहा जाता है। समाज में असफल व्यक्ति कुछ भी हो सकता है—पागल, अपराधी, दूसरे को हानि पहुँचाने वाला, स्वार्थी, अपनी हानि करने वाला, इत्यादि। डा० बी० एस० हेकड़वाल[२] ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "समाज ने अपनी सत्ता के लिए मानव के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कुछ मौलिक नियम बना रखे हैं। उन नियमों से छेड़-छाड़ करने को

[१] Herbert Spencer : *The Principles of Sociology* (1906).
[२] B. S. Haikerwal : *A Comparative Study of Penology* (1956).

ही समाज अपराध समझता है। जहाँ व्यक्ति तथा वर्ग के स्वार्थ में संघर्ष होता है, वहीं अपराध समझा जाता है।"

किन्तु, डा० हेकड़वाल स्वयं ऊपर लिखी व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं प्रतीत होते। वे लिखते हैं—

"किन्तु, आज तो क़ानून की अवज्ञा ही अपराध है। यदि क़ानून न होते तो अपराध भी न होता। किन्तु, अपराध की स्थिति के लिए यह आवश्यक है कि वह कार्य प्रकट तथा निन्दनीय इच्छा से हो।"

मानसिक रोग

जो व्यक्ति समाज में अपना संतुलन नहीं स्थापित कर सकता, उसमें कोई दोष तो होगा ही। यदि दोष का पता न चले तो चिकित्सा नहीं हो सकती। क्या इसका कारण उसके मन का विकार है! सर एच० स्मॉली कहते हैं कि ब्रिटेन के कारागारों में जो बन्दी हैं उनमें ३० प्रतिशत की बुद्धि में दुर्बलता है, कोई न कोई ख़राबी है। डा० विल्सन के कथनानुसार ब्रिटिश बन्दियों में २० प्रतिशत की बुद्धि दुर्बल है, औसत जनता की बुद्धि से कमज़ोर है। अपराधी कार्य के निर्णय में आजकल मानसिक दुर्बलता को काफ़ी महत्व दिया जाता है। सन् १९१३ में ब्रिटेन में मानसिक-दुर्बलता-विधान बना था। उसके अनुसार मन के रोग की चार श्रेणियाँ हैं—(१) जड़ता, (२) मानसिक, (३) दुर्बल चित्त अथवा बचपना, और (४) नैतिक शिथिलता। जड़पुरुष की मानसिक अवस्था ६-७ वर्ष के बच्चे की सी होती है। ऐसा व्यक्ति न तो किसी ख़तरे को देख सकता है और न पहचान सकता है। मानसिक रूप से शिथिल व्यक्ति ख़तरों से अपने को बचा लेता है पर उसका दिमाग़ इतना कमज़ोर होता है कि वह न कुछ सोच सकता है और न कर सकता है। उसकी मानसिक अवस्था ६ से ७ वर्ष उम्र की होती है। दुर्बल-चित्त व्यक्ति न तो जड़ है और न शिथिल है, उसका मन इतना कमज़ोर होता है कि वह न तो अनुभवों से कुछ सीखता है और न याद रख सकता है। नैतिक-शिथिल व्यक्ति में प्रायः स्थायी दोष आ जाता है। वह दण्ड से भी नहीं डरता। उसकी अपराधी प्रवृत्ति स्थायी-सी हो जाती है।

यहीं पर यह सवाल उठता है—पागल को किस श्रेणी में रखा जाय? क्या अपराधी कार्य पागलपन है? क्या पागल को अपराध का ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है? यदि पागल व्यक्ति किसी के शरीर पर आग फेंक दे तो क्या वह दोषी है? क्या वास्तव में दण्ड देने के पूर्व मानसिक रोग की समीक्षा करना चाहिए? यदि एक पागल किसी की जान ले ले तो वह हत्या का दोषी है? सन् १८३५ में लार्ड हेल[1] ने अपने एक प्रसिद्ध परिपत्र में लिखा था कि "यदि

[1] Lord Hale : *Pleas of the Crown.*

कोई व्यक्ति चित्त की उदासी के रोग के कारण क्रोधवश अपराध करता है और यदि उसकी मानसिक अवस्था १४ वर्ष के बच्चे के समान है, तब तो वह दोषी है, अन्यथा नहीं।" लार्ड हेल के कुछ समय बाद डा० इज़ाक रे[१] ने बोस्टन में एक लेख लिखा था, जिसमें उनका कहना था कि "अपराध के सम्बन्ध में पागल आदमी की ज़िम्मेदारी के क़ानून उस समय बने थे जब चिकित्सा-विज्ञान आज की तरह उस बीमारी की जड़ तक पहुँच भी नहीं सका था। इसलिए जैसा कि होना चाहिए, क़ानून के नाम पर इस विषय में बहुत सी भूलें तथा अन्याय हो चुके हैं।"

मेनॉटन का मामला

जिस समय इंगलैण्ड में पागल की ज़िम्मेदारी के बारे में ऐसी चर्चा चल रही थी, मेनॉटन नामक एक राजनीतिक सनकी व्यक्ति का मामला पेश हो गया। वह ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सर राबर्ट पील की हत्या करना चाहता था पर उसकी गोली के शिकार हो गये उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री ड्रमण्ड। यह घटना २० जनवरी, १८४३ को अपराह्ण में ४ बजे की है। डाक्टरों ने अपराधी को पागल घोषित कर दिया। पर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के सॉलिसिटर जनरल ने अपराधी को दण्ड देने का अदालत से आग्रह करते हुए कहा था—"कोई नहीं चाहता कि जिसका दिमाग़ ठीक नहीं है, उसे दण्ड दिया जाय। पर जनता की रक्षा का ध्यान रखते हुए ऐसी दलीलों को कि पागल को दण्ड नहीं देना चाहिए, कदापि नहीं सुनना चाहिए।"

मेनॉटन का मुक़द्दमा इतिहास-प्रसिद्ध हो गया है। उसी के द्वारा "पागल को अपराधी माना जाय या नहीं" इस सिद्धान्त की भूमिका बन गयी। मेनॉटन के वकील काकबर्न ने अभियुक्त की तरफ़ से जो बहस की थी, वह पठनीय है। उन्होंने कहा कि लार्ड हेल या लार्ड कुक की दलीलों को डा० इज़ाक रे ने यह कहकर काट दिया था कि "पहले इतने पागल होते भी नहीं थे···लेकिन जो जड़ है, मूर्ख है, जिसका मस्तिष्क एकदम रोगी न होने पर भी जड़तापूर्वक एक बात से चिपक जाता है—उसका क्या होगा ?"

विचारणीय विषय है कि उन्माद किसे कहते हैं। पागलपन क्या है ? डा० काकबर्न ने ठीक लिखा है कि "इस बीमारी के बारे में जो जानकारी प्राप्त हुई है, वह बहुत बाद की चीज है।" अतएव मेनॉटन के सम्बन्ध में केवल तर्क-वितर्क का सहारा लिया गया था। सरकारी वकील का कहना था कि यदि "आदमी की विवेक-बुद्धि बिलकुल समाप्त हो गयी हो, तभी उसे पागल और निर्दोष कहना चाहिए।" इस तर्क के उत्तर में काकबर्न ने एक पुराने मामले

---

[१] Dr. Isaac Ray : *Medical Jurisprudence of Insanity.*

का हवाला दिया था। सम्राट् जार्ज तृतीय की हत्या करने के लिए एक पागल व्यक्ति ने उन पर गोली छोड़ी। सम्राट् बच गये। पागल पकड़ा गया।

सफाई के वकील लार्ड अर्सकाइन ने हैडफ़ील्ड की तरफ़ से कहा था—

"यदि पागलपन से हमारा तात्पर्य यह है कि आदमी के दिमाग़ की हालत ऐसी हो जाय कि वह न तो अपना नाम याद रख सके, अपने को भी पहचान न सके, दूसरे के साथ अपने सम्बन्ध को एकदम भूल जाय, ऐसा पागलपन दुनिया में न मिलेगा।"

मेनॉटन के मामले में सरकारी वकील ने "विवेक-शून्यता" को पागलपन कहा था। पर, काकबर्न ने अपने तर्क से यह सिद्ध कर दिया कि एकदम विवेक-शून्य व्यक्ति मिलना बहुत कठिन है। कुछ विवेक बने रहने पर भी व्यक्ति पागल हो सकता है। उस मुक़द्दमे पर विचार करने वाले प्रधान विचारपति टिंडल ने जूरी (पंचों) से पूछा कि उनकी क्या राय है, और सब ने एक स्वर में कहा—"अपराधी को उन्माद रोग है। अतएव निर्दोष है।" उन दिनों महारानी विक्टोरिया का शासनकाल था। मेनॉटन के छूटने से ब्रिटेन में तहलका मच गया। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की सरदार सभा (हाउस ऑव लार्डस्) ने प्रधान विचारपति से इस सम्बन्ध में क़ानूनी पहलू को स्पष्ट करने की माँग की और उन्होंने सरदार सभा के सम्मुख उपस्थित होकर उत्तर दिया—

पागलपन की परिभाषा

"आपका पहला प्रश्न है कि यदि कोई व्यक्ति वास्तव में उन्मत्त (पागल) न हो पर किसी वस्तु या व्यक्ति विशेष के प्रति उसके मन में उन्माद हो गया हो, तो क़ानूनन उसे क्या दण्ड मिलना चाहिए। सम्राट् के विचारपतियों की सम्मति में यदि अपराधी को अपराध करने के समय यह ज्ञान रहे कि वह देश के क़ानून के विपरीत कार्य कर रहा है, तो वह दण्डनीय है......आप लोगों का मुझ से अन्तिम प्रश्न है कि जूरी किस सिद्धान्त के आधार पर किसी व्यक्ति के पागलपन का निर्णय करे? हमारा उत्तर है कि जूरी लोगों को मुक़द्दमे के आरम्भ में ही बता देना चाहिए कि वे इस आधार पर चलें कि हरेक अपराधी सही दिमाग़ का है। उसमें इतनी बुद्धि का होना मान लें कि वह अपने कार्य के प्रति ज़िम्मेदार है। यह धारणा वे तब तक बनाये रखें जब तक इसके विपरीत न प्रमाणित हो जाय। दण्ड देने के समय यह ध्यान रखना होगा कि अभियुक्त की बुद्धि मन के रोग से इतनी कुण्ठित तो नहीं हो गयी है कि उसे इसका भी ज्ञान नहीं है कि क्या और कैसे कर रहा है। यदि इतनी बुद्धि हो तो जो कार्य कर रहा है उसके भले-बुरे का उसे आभास न हो।"

मुख्य विचारपति टिंडल की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया कि

उन्माद के लिए दिन के चौबीसों घण्टे उन्मत्त रहना ज़रूरी नहीं है। जब कोई कार्य हो रहा है तो उसकी यदि अच्छाई-बुराई की जानकारी न हो तो वह उन्माद अवश्य है। पर, बहुत से मनोवैज्ञानिक तथा क़ानून-पण्डित इस बात से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि मन की गति केवल एक नहीं अनेक कारणों से मिलकर बनती है तथा हमारा एक कार्य अनेक क्रमागत घटनाओं तथा विचारों का परिणाम है। अतएव अपराधी-कार्य के समय का उन्माद ही उसे पागल सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। तीस वर्ष पूर्व शेल्डन ग्लूक[१] ने इसी सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी। ग्लूक ने ऊपर लिखे मनोवैज्ञानिक तर्क को निरर्थक सिद्ध किया था। उनका कहना था कि मनोविश्लेषण के वे पुराने सिद्धान्त अब लागू नहीं हो सकते। हरेक कार्य का अपना पृथक् गुण अथवा पृथक् कारण और स्वभाव होता है। यह जरूरी नहीं है कि एक काम के अनेक कारण हों। अनेक कारणों का परिणाम एक काम हो सकता है। किसी काम को "उचित या अनुचित" के दायरे में बाँधने से ही काम के औचित्य या अनौचित्य की समीक्षा नहीं हो सकती। डा० इज़ाक रे ने सन् १८३८ में ही यह बात कही थी। शेल्डन ग्लूक ने उनके इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है।

कुछ अमेरिकन न्याय-शास्त्रियों का कहना है कि मानसिक रोगियों के अपराध का दण्ड साधारण अपराधियों के समान होना चाहिए क्योंकि उचित-अनुचित की पहचान उनमें होती है। शेल्डन ग्लूक इस तर्क के बिलकुल विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि सभी मानसिक रोगियों का रोग समान नहीं होता। फिर उनके मन में किसी न किसी वस्तु का भय तो रहता ही है। यदि उचित-अनुचित का ज्ञान न हो, यदि ग़लत काम करने से दण्ड मिलने का भय न हो तो पागलखानों में या पागलों के अस्पताल में सैकड़ों पागलों को नियन्त्रण में रखना असम्भव हो जाय। पर, क्या उनकी मानसिक स्थिति ऐसी है कि उनको अपराधी कहा जा सकता है?

मानसिक रोग के कतिपय गम्भीर कारण होते हैं। क्रायडन नगर, इंगलैण्ड के पागलखाने के सुपरिंटेंडेंट डा० पारसनीज़ ने कहा है कि "मूलतः सभी मानसिक रोगों का एक कारण होता है—**इकेलापन**। जो व्यक्ति समाज में अपने साथियों, अपने परिवार वालों या स्त्री-पुरुष के साथ अपने सन्तोष के अनुकूल नहीं रह सकता, वह सबसे खिंचकर अपने साथ ही रहने लगता है, अपने मन की सवारी करने लगता है।"

क़ानूनी दृष्टि से, मानसिक रोग तथा रोगी के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में सन् १९५४ में संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलम्बिया राज्य की बड़ी अदालत

[१] Sheldon Glueck : *Mental Disorder and Criminal Law.*

का एक फ़ैसला है। डरहम नामक व्यक्ति को अदालत ने पागल घोषित कर उसे अपने अपराध का ज़िम्मेदार नहीं माना। अदालत ने आज्ञा दी कि उसे तब तक पागलखाने में रखा जाय जब तक कि सामाजिक रक्षा के लिए आवश्यक हो। अपने निर्णय में विचारपति बैज़ेलोन ने कहा था—

"मानसिक रोग अथवा मानसिक दोष के कारण यदि कोई अपराध करता है तो वह अपने अपराध का उत्तरदायी नहीं है। पश्चिमी जगत् की यह क़ानूनी तथा नैतिक परम्परा है कि जब तक स्वतः अपनी इच्छा से तथा बुरी नीयत से कोई बुरा कार्य न किया जाय, वह अपराध नहीं है। यही हमारी परम्परा रही है। यदि ऐसे बुरे कार्य मानसिक रोग के कारण किये जाते हैं तो कर्त्ता को दण्डनीय नहीं समझा जायगा।" इस फ़ैसले पर राय देते हुए अपराध-शास्त्री शेल्डन ग्लूक ने कहा है कि शुद्ध मानसिक रोग के कारण किये गये अपराध पर दण्ड देना अन्याय है।

पर, एक दूसरे अमेरिकन विचारपति श्री लेम्मन ने, संयुक्त राज्य की ९वीं अदालत के अध्यक्ष पद से, डरहम के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। मामला उस देश की सबसे बड़ी अदालत में पहुँचा जिसने डरहम के पागलपन के सिद्धान्त को तथा मानसिक रोगी के निरपराधी होने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।

विचारपतियों में इस प्रकार के मतभेद सदा से चले आये हैं। फ़ौजदारी अदालत के प्रसिद्ध वकील एस० रोमिली ने सन् १८१० में लिखा था—

"यह अक्सर होता रहता है और होता रहेगा कि एक विचारपति जिस बात को साधारण तथा माफ़ी के योग्य समझेगा, दूसरा विचारपति उसे गम्भीर अभियोग समझेगा। एक अनुभवी मजिस्ट्रेट सर हेनरी हाकिन्स ने इस प्रकार की विभिन्नता की कटु आलोचना की थी। उनका कहना था कि दण्ड-प्रणाली में दूर से भी समानता का कोई लक्षण न होना दण्डशास्त्र का दोष नहीं है, यद्यपि कई दृष्टियों से यह आवश्यक है। फिर भी यह अस्वाभाविक, नहीं है कि विचारपति के विचारों में काफ़ी विभिन्नता हो।"

विचारपतियों के दृष्टिकोण में अन्तर होना स्वाभाविक है—यह इसलिए कि क़ानून की खींचतान का शिकार तो उन्हें भी होना पड़ता है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यास में वकालत के पेशा की वेश्या के पेशे से तुलना की गयी है। लेखक का कथन है कि दोनों ही अपनी दूकान लगाकर ग्राहक को—अजनबी ग्राहक को आकर्षित करने की चेष्टा करते हैं।[1]

Robert Traver : *Anatomy of a Murder*, Faber & Faber, London, 1958, p. 40.

मनोवैज्ञानिकों के सहारे से अपराधी को समझने के बारे में भी लेखक का कहना है कि सरकार से वेतन पाने वाले, सरकार की ओर से नियुक्त मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषण करने वाले की राय को ही सब कुछ मान लेना भूल है।[१]

पागलपन के क़ानून के बारे में उसी लेखक ने लिखा है कि इस सम्बन्ध में आज जो क़ानून प्रचलित हैं, वे उस बर्बर ज़माने की तुलना में अधिक सभ्य नहीं हैं जब लोग पागल व्यक्तियों को बड़ी क्रूर यातनाएँ दिया करते थे।[२]

सब क़ायदा-क़ानून के परे एक ऐसी भी स्थिति है जिसमें मनुष्य जानते-बूझते भी ऐसा काम कर बैठता है जिसे नहीं करना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका के मिचिगन प्रदेश में इस प्रकार के कार्य को "न रोकी जा सकने वाली प्रेरणा"[३] का कार्य कहते हैं और ऐसी दशा में किया गया कार्य चाहे वह हत्या ही क्यों न हो, क्षम्य होता है।

आदर्श दण्डविधान

शेल्डन ग्लूक तथा उनकी पत्नी एलीनर ने मिलकर सन् १९३० में ५०० अपराधियों की तुलनात्मक जीवनियाँ प्रकाशित की थीं।[४] इनमें से तालिकाओं द्वारा शारीरिक, सामाजिक तथा चारित्रिक समानताओं का सम्बन्ध सिद्ध किया गया था। अर्थात्, अनेक प्रकार के अपराधों और अपराधियों में एक समानता के प्रमाण मिल गये। अतएव एक ऐसे आदर्श दण्ड-विधान की आवश्यकता है जो कि भिन्न अपराधियों के अनुमानित आचरण को ध्यान में रखे तथा विचारपति के सामने मामला जाने पर जिन बातों का वांछनीय महत्व हो, उनके आधार पर दण्ड दिया जा सके।

आदर्श दण्ड-विधान तो तब बने जब दण्डनीय की परिभाषा बनायी जा सके। अपराध की व्याख्या ही नहीं हो पा रही है। क्रेसी नामक लेखक का कहना है कि हरेक बालक बाल्यकाल में अपराधी होता है, अपराधी कार्य करता है। डा० क्लिनार्ड कहते हैं कि जब सभी अपराध करते हैं तो एक आदमी को ही क्यों पकड़ते हो? जीवन के प्रवाह में कोई अपराध की ओर बह जाता है, कोई उससे दूर चला जाता है। डा० क्लिनार्ड ने स्पष्ट लिखा है कि अपराधी कार्य भी मानवी कार्य हैं। मानव के कार्यों की सीमा के बाहर नहीं हैं। विद्वान् रारशांश ने खोज करके यह साबित कर दिया था कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१ *Ibid*, pp. 161-162.
२ *Ibid*, p. 61.
३ *Irresistible Impulse*.
४ Sheldon and Eleanor Glueck : *Five Hundred Criminal Cases*.

तथा परीक्षण से जो लोग ज़िद्दी स्वभाव के पाये गये उनमें से ८९ प्रतिशत अपराधी थे तथा जो लोग शान्त स्वभाव के पाये गये उनमें से ३९ प्रतिशत अपराधी थे। अतएव अपराध मानव-स्वभाव के परे की वस्तु नहीं है।

इन बातों से यह सिद्ध होता है कि असाधारणता प्रत्येक के मस्तिष्क में है और जब यह उग्र हो जाती है, मानसिक रोग हो जाता है। इसलिए यह उचित नहीं प्रतीत होता कि असाधारण, उग्र तथा मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति को उसके कार्यों के लिए ज़िम्मेदार समझकर दण्ड दिया जाय। उसे पागलखाने भेजना चाहिए। यही उसका सबसे बड़ा दण्ड है। आदर्श दण्ड-विधान में इस बात की गुंजाइश होनी चाहिए।

भारतवर्ष के सबसे बड़े प्रदेश, उत्तर प्रदेश में सन् १९६० में ६५,५८१ अपराध हुए जबकि उसी वर्ष इंगलैंड तथा वेल्स में ७,४३,७१३ अपराध हुए। हिमाचल प्रदेश (जनसंख्या १३ लाख) में सन् १९६१ में २० हत्याएँ तथा २२६ चोरियाँ हुईं। भारतवर्ष में चार प्रदेशों को छोड़कर सन् १९५९ में जेलों में दण्डित व्यक्तियों की संख्या १,५१,१६८ थी। इंगलैण्ड और वेल्स में सन् १९४१ में जेलों में दण्डित क़ैदियों का औसत ८२४१ था। सन् १९६१ में १४००० था। सन् १९३८ में उस देश में २,८३,२२० अपराध हुए थे। सन् १९६१ में ८,०६,९०० अपराध हुए। इनमें से काफ़ी अपराधी अनायास अपराधी बन गये होंगे।

पारिवारिक वातावरण

कलहपूर्ण तथा उच्छृङ्खल पारिवारिक जीवन का बच्चे पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। लेखक बर्ट का कहना है कि अपराधी बालकों में यदि एक अपराधी कलहहीन परिवार का है तो दो कलहपूर्ण परिवार के होंगे। हीली और बोनर नामक लेखकों का कहना है कि जिस बच्चे को अपनी माता या परिवार के किसी अन्य सदस्य का स्नेह तथा अच्छा सम्बन्ध प्राप्त होता है, उसको जीवन में गति तथा प्रगति प्राप्त होती है। श्री शिपले का कहना है कि यदि परिवार के बच्चों को स्नेह नहीं प्राप्त होता, ममता नहीं मिलती, यदि माता-पिता अपने बच्चों की दुर्बल बुद्धि को नहीं पहचान पाते, यदि वे बच्चों को अवकाश के समय का सदुपयोग नहीं सिखाते, यदि उनके मानसिक संघर्षों के प्रति सहानुभूति नहीं दिखायी जाती तो बच्चा बड़ा होने पर अपराधी बन जाता है।

यदि परिवार का जीवन स्थिर नहीं है, यदि पड़ोस अच्छा नहीं है तो बच्चा बिगड़ जाता है। मद्रास सरकार के हिसाब से देहातों के मुक़ाबले में शहर में बाल-अपराधी अधिक होते हैं, जिसका अर्थ यह है कि अभी भी

देहातों का पारिवारिक जीवन शहरों के मुक़ाबले असंयत नहीं हुआ है। शायद यह भी एक कारण हो कि शहर के रहने वालों का जीवन निरन्तर धर्म तथा नैतिकता से दूर होता जा रहा है। शिपले का कथन है कि "पुराने ज़माने में बच्चे की आधारशिला उसके माँ-बाप थे तथा उसके माँ-बाप की आधारशिला उनका धर्म था।" यह मार्के की बात है और विचार करने योग्य है।

पारिवारिक जीवन का बच्चे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में १००० अपराधी बालकों की जाँच की गयी तो पता चला कि उनमें से ६३ प्रतिशत के मकान दरिद्र, भद्दे और भीड़ से भरे थे, २४ प्रतिशत के मकान कुछ अच्छे थे तथा १३ प्रतिशत के मकान अच्छे थे। केवल ३ प्रतिशत का पड़ोस अच्छा था, ११·२ प्रतिशत का पड़ोस कुछ अच्छा था तथा ८५·५ प्रतिशत का पड़ोस अवांछनीय और अनुचित था। यदि अमेरिका की यह हालत है तो ग़रीब तथा अपढ़ भारत में क्या दशा होगी? आर्थर कोलिस तथा वेरा ई० पूल ने एक बड़ी मार्के की पुस्तक लिखी है—"ये हमारे बच्चे"[१]। पुस्तक में लिखा है कि छोटी उम्र वालों को साधारण अपराध पर बारबार अदालत के सामने हाज़िर कराने का परिणाम यह होता है कि बालक या बालिका अपने को "क़ानून का शत्रु" समझने लगती है, न कि मित्र। उसकी दृष्टि में क़ानून उसके विरुद्ध युद्ध करने के लिए खड़ा है। एक बार मैजिस्ट्रेट के सामने पेशी के बाद फिर तो अदालत के प्रति उपेक्षा तथा दुर्भाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिए यदि बाल-सुधार की बात करनी है तो शिक्षा का स्तर ऊँचा करना होगा, माता-पिता तथा सन्तान का सम्बन्ध दृढ़ करना होगा, अवकाश के समय का सदुपयोग करना होगा तथा जीवन का स्तर ऊपर उठाना होगा।

कल और आज

इसलिए यदि दण्ड का उद्देश्य सुधार है तो हरेक विचारपति को अपराधी के अतीत और वर्तमान दोनों अवस्थाओं पर विचार करके निर्णय देना होगा। श्री विलसन ऐंडरसन[२] की राय है कि सज़ा देने के पहले विचारपति को अपराधी के गुज़रे हुए कल और आज की अवस्था का पता लगा लेना चाहिए। ऐसी खोज से अपराधी के सम्बन्ध में बहुत सी मार्के की बातें मालूम हो जाती हैं। ऐसी खोज से उसके मनोभाव तथा प्रवृत्तियों की बहुत जानकारी हो जाती है।

[१] Arthur Collis and Vera E. Pool: *These our Children.*

[२] *The Prison Journal*, July, 1950, Pennsylvania, Article by C. Wilson Anderson, Director, Family Courts, Wilmington, Delaware, U. S. A.

अपराधी बालक के पक्ष या विपक्ष की दोनों प्रकार की बातें मालूम हो जाती हैं। दण्ड देने के पहले अपराधी के सम्बन्ध में पता लगा लेने से हम दोषी व्यक्ति को यह अवसर दे सकते हैं कि वह अपनी कठिनाइयों पर, अपने अवगुणों पर स्वयं विचार करे तथा अपने ग़लत कार्य को सुधारने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर भी ले तथा प्रोबेशन (आरक्षण) अधिकारी की सहायता से अपने को समाज का उपयोगी अंग बना सके। इस दृष्टि से, प्रत्येक के जीवन के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल से बहुतों के जीवन में त्वरित परिवर्तन हो सकता है और प्रायः होता है।"

विल्सन का विचार बड़ा उपयोगी है। यदि अदालत इस ढंग से काम करे तो वह अनगिनत बालक-बालिकाओं तथा वयस्क अपराधियों का जीवन नष्ट होने से बचा सकती है। किन्तु, ऐसा कठिन कार्य करने के लिए संयत अन्वेषकों की एक बड़ी टोली होनी चाहिए। अपराधी के मनोभाव को उचित महत्व देना ही चाहिए।

हमने यह पहले ही लिख दिया है कि अपराध की नहीं, अपराधी की महत्ता है। जब तक अपराधी व्यक्ति की जानकारी न हो, दण्ड की मात्रा से दण्डित का सुधार न होगा। इसकी एक रोचक मिसाल लीजिए।

प्रोफेसर हावर्ड हार्लेन ने एक महत्वपूर्ण खोज की है। सन् १९४४ में संयुक्त राज्य अमेरिका के अल्बामा राज्य के बर्मिंघम नगर में ५०० हत्याएँ हुईं। इनमें से ४२७ यानी ८५.४ प्रतिशत नीग्रो तथा ७३ यानी १४.६ प्रतिशत गोरे थे। इनको मारने वाले जिन ४९२ व्यक्तियों का पता चल सका था, उनमें से ४१८ यानी ८४.९ प्रतिशत नीग्रो ही थे तथा ७४ यानी १५.० प्रतिशत गोरे लोग थे। नीग्रो लोगों की जनसंख्या केवल ४०.७ प्रतिशत थी। नीग्रो लोगों ने इतनी अधिक हत्याएँ क्यों कीं, यह जान लेने की बात है। उनको सभ्यता, संस्कृति तथा सामाजिक मर्यादा से दूर रखने की ज़िम्मेदारी गोरों पर है। ऐसा पिछड़ा व्यक्ति अपने अधिकार की रक्षा के लिए उन सामाजिक सुरक्षाओं पर, जैसे पुलिस, जेल, अदालतें आदि पर, कम भरोसा करता है। वह अपने अधिकार की रक्षा अपने हाथों में लेता है। ठीक वही हालत है जैसी हमारे देहातों में जहाँ नागरिक सभ्यता से दूर देहाती प्रायः क़ानून अपने हाथ में ले लेता है। देहात में जितनी हत्याएँ आदि होती हैं, उतनी शहर में नहीं। हार्लेन के शब्दों में "जहाँ झगड़ों का फ़ैसला लड़कर निपटाने की परम्परा चली आती हो, वहाँ झगड़ा होना स्वाभाविक है।"

बाल-अपराध की समस्या संसार में चारों ओर बढ़ती जा रही है। इंगलैण्ड और वेल्स में सन् १९५६ में ८ से २१ वर्ष की उम्र के भीतर के बाल-

अपराधियों की संख्या ४६,००० थी। सन् १९६१ में वही संख्या ४४,४४४ थी। सन् १९६० की तुलना में ११·५ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। इसी उम्र के बच्चों में ४९५५ सन् १९५६ में तथा ११,५१९ सन् १९६१ में मारपीट आदि के अपराध में दण्डित हुए थे। २२२९ ने सन् १९५६ में तथा ६१,५०० ने वासना के अपराध किये थे। इंगलैण्ड-वेल्स में सभी उम्र के १०,६७२ पुरुष सन् १९५६ में मकानों में सेंध लगाये या चोरी की नीयत से घुसे। सन् १९६१ में यह संख्या ३६,२४० हो गयी थी।

सन् १९३८ में सब प्रकार के दण्डनीय अपराधों में दण्डित व्यक्तियों की संख्या ७८,४६३ थी। सन् १९६१ में यह संख्या १,८२,२१२ हो गयी थी। वास्तव में कुल मिलाकर ३,००,००० दण्डनीय अपराध सन् १९३९ में तथा ८,०६,९०० सन् १९६१ में हुए। इन आँकड़ों से उस देश में अपराधों की, विशेषकर बाल-अपराधों की विभीषिका का अनुमान लग सकेगा।

इंगलैण्ड तथा वेल्स के ऊपर दिये गये आँकड़ों को भली प्रकार समझने के लिए अपराधियों की उम्र की भी जानकारी हो जानी चाहिए :—

उम्र	सन् १९३८		सन् १९६१	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
८-१४ वर्ष	१४,७२४	८३५	२९,८९०	२,८४५
१४ से १७ वर्ष	११,६४५	९१२	२८,२४४	३,३०५
१७ से २१ वर्ष	१० १३१	१३२०	२७,६६७	३,१९८
२१ से ३० वर्ष	१४,३२१	२०७१	३५,७७०	३,९३०
३० से ऊपर	१७,८५८	४६४८	३७,१४६	१०,२२७
	६८,६७९	९७८६	१५८७१७	२३,५०५

सन् १९६० की तुलना में इंगलैण्ड-वेल्स में अपराध में वृद्धि १९·८ प्रतिशत है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में अपराध अधिक बढ़ा है।

लम्बी क़ैद या प्राणदण्ड देने के बजाय यही उचित होगा कि अपराध की भावना दूर की जाय, झगड़ालू स्वभाव वालों को सामाजिक सुरक्षा—पुलिस, अदालत आदि—की शरण लेना सिखलाया जाय तथा ऐसी सुरक्षाओं के साधन सुलभ तथा सरल बनाये जायँ। हाथ के हथियार तभी छूटेंगे जब अपनी सुरक्षा तथा अपने प्रति न्याय का सामाजिक विश्वास होगा।

इन सब दृष्टियों से यही सिद्ध होता है कि अपराधी का अतीत और वर्तमान उसके अपराध से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

3

बाल-अपराध की समस्या

संयुक्त राज्य अमेरिका की लोकसभा अर्थात् कांग्रेस के ८५वें अधिवेशन के दूसरे सत्र की बैठक में राज्य के सरकारी व्यय से सम्बन्धित जाँच-समिति की एक उप-समिति ने बाल-अपराध की समस्या पर एक बड़ी महत्वपूर्ण रिपोर्ट पेश की थी।[1] इस रिपोर्ट में अमेरिकन बाल-अपराधियों के सम्बन्ध में बड़े रोचक आँकड़े हैं। १० वर्ष से १८ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं की गणना करके उसी उम्र के भीतर के अपराधियों का हिसाब निकाला गया है। पिछले दस साल में १० से १७ वर्ष की उम्र के बीच की आबादी में पचास प्रतिशत वृद्धि हो गयी है और सन् १९४८ से १९५७ के बीच में बाल-अपराधी अदालतों में अभियुक्तों की संख्या दुगुनी हो गयी है। सन् १९६१ में ७ लाख ५२ हज़ार बाल-अपराधियों के मामले पुलिस के सामने आये। इन पर अनुचित व्यवहार का आरोप था। बाल-अपराधी अदालतों के सामने २,७६,४३६ बाल-अपराधी पेश किये गये। इनमें वे अपराधी भी शामिल हैं जो सड़क पर खड़ी मोटरकार की चोरी करने में पकड़े गये थे। ऊपर लिखी रिपोर्ट के अनुसार यदि बाल-अपराध की वर्तमान गति में कोई अन्तर नहीं पड़ा, उसमें वृद्धि न भी हुई तो आगामी दस साल में, यानी सन् १९६८ तक, बाल-अपराधी अदालतों में लगभग ४०-५० लाख बालक-बालिकाएँ पेश होंगे जिनमें से एक-तिहाई दुबारा अपराधी होंगे। सन् १९६१ में जो बाल-अपराधी पकड़े गये थे उनमें से लगभग २० प्रतिशत तो डाकाज़नी या चोरी के लिए पकड़े गये थे। लड़कियों का औसत पाँचवाँ हिस्सा है। यदि पाँच बालक पकड़े जाते हैं तो एक बालिका गिरफ़्तार होती है। अपराधिनी बालिकाओं के अपराध प्रायः कामवासना, उद्दण्डता या आवारागर्दी के होते हैं।

[1] *Report to the Congress on Juvenile Delinquency*, U. S. Department of Health, Education and Welfare, 1960, p. 3.

बाल-अपराध की अमेरिकन व्याख्या

उपर्युक्त रिपोर्ट के लिखने वालों ने बाल-अपराध की व्याख्या करने की चेष्टा भी की है। उनकी राय में, ज़्यादातर लोग बाल-अपराध उसे कहते हैं जिसमें बच्चों या युवकों के द्वारा वे काम किये जायँ जिन्हें लोग पसन्द न करते हों। पर, इसका मतलब तो यह हुआ कि हमारे मन के विरुद्ध जो भी काम किया जाय, उसे बाल-अपराध समझ लिया जाय। दूसरे शब्दों में, "बाल-अपराध बालिकाओं तथा बालकों द्वारा किया गया वह आचरण है जिसे समाज स्वीकार नहीं करता तथा जिस आचरण के लिए वह ताड़ना देना, दण्ड देना, या सुधार के कार्य करना सार्वजनिक हित में आवश्यक समझता है।"[१]

क़ानूनी तौर पर इसकी व्याख्या करना सरल है। यह कहा जा सकता है कि अदालत क़ानून की दृष्टि से जिस काम को अनुचित कहे, वही बाल-अपराध है। पर, क़ानून की बात जाने दीजिए। अपराधी आचरण, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ, चरित्र के भ्रष्ट होने के कारण तथा वास्तविक मानसिक रोग का सम्बन्ध, इन सब का सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। ऐसे बच्चे भी हो सकते हैं जिनको अपने परिवार से, अभिभावकों से सदैव तिरस्कार, उपेक्षा और अवज्ञा प्राप्त हुई हो। उनके मन में ऐसे व्यवहारों से ऐसी घृणा उत्पन्न हो गयी हो कि वे परिवार तो क्या, समूचे संसार के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे हों। इस प्रकार ऐसा बाल-अपराधी एक मनोवैज्ञानिक पहेली बन गया। पर, यह नहीं भूलना चाहिए कि बाल-अपराध केवल मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है। इसका बहुत महत्वपूर्ण सामाजिक पहलू भी है। ऐसा देखा गया है कि ग़रीब तबके के लोगों में, विशेषकर शहर की आबादी में, ग्रामीण जीवन की अपेक्षा बाल-अपराधी अधिक संख्या में पाये जाते हैं।[२]

आधुनिक समाज में, नागरिक जीवन में, आबादी के एक स्थान से दूसरे स्थान जाने में, सामाजिक जीवन की विषमता में, सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति करने के साधनों में, पारिवारिक जीवन की अनस्थिरता में, तुरन्त धनी बनने की प्रेरणा में—इन सब कारणों में बाल-अपराध की खोज करनी चाहिए। कम से कम ऊपर लिखे कारण बाल-अपराध की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

किन्तु, लोग स्पष्ट जानना चाहते हैं कि बाल-अपराध के वास्तविक कारण क्या हैं ? यह तो कहा ही जा सकता है कि ग़रीबी, कतिपय पारिवारिक तथा परम्परागत परिस्थिति तथा कतिपय असाधारण मनोवैज्ञानिक परिस्थिति

१ *Ibid*, p. 2.
२ *Ibid*, p. 4.

में बाल-अपराध होता है। किन्तु, ये ही कारण नहीं हैं। ये तो मूलभूत कारण कहे जा सकते हैं। इनसे बड़े-छोटे, सभी के आचरण का निर्णय हो सकता है। वास्तव में बाल-अपराध का कोई निश्चित कारण नहीं कहा जा सकता। बहुत से कारणों तथा प्रवृत्तियों के सम्बन्ध से बाल-अपराध की उत्पत्ति होती है।[1]

दक्षिणी अमेरिका में इस सम्बन्ध में जो गणना हुई है उसके अनुसार (१) ग्रामों की तुलना में शहरों में बाल-अपराध अधिक है, (२) बाल-अपराधियों से कहीं अधिक वयस्क—बालिग़—अपराधी होते हैं, तथा (३) स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में बाल-अपराधी अधिक होते हैं।[2]

ऐसा क्यों होता है? देहाती बालक की तुलना में शहरी बालक अधिक अपराधी क्यों होता है? इसका उत्तर तो तभी दिया जा सकता है जब हम निश्चित रूप से कह सकें कि बाल-अपराध क्या है। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी इस विषय की ठीक से व्याख्या नहीं कर सका है। बाल-अपराध की देश-देश में भिन्न व्याख्या है। संयुक्त राज्य अमेरिका के ८ प्रदेशों में बाल-अपराध की कोई व्याख्या ही नहीं की गयी है। केवल अदालतों के अधिकार निश्चित कर दिये गये हैं। अनेक देशों में जो चीज़ बाल-अपराध है, वह अन्य देशों में नहीं है। मध्य-पूर्व (ईराक, ईरान इत्यादि) के देशों में बाल-अपराधी तथा बाल-आवारागर्दी में फ़र्क़ कर दिया गया है। भिन्न देशों में बाल-अपराधियों की क़ानूनी उम्र में भी बड़ा अन्तर है।[3]

किन कारणों से बाल-अपराधी पैदा होता है, यह कहना और भी कठिन है। अच्छे मकान, अच्छा स्वास्थ्य, सद्परिवार, आर्थिक सहायता आदि से बाल-अपराध कम होता है। पर संयुक्त राज्य अमेरिका या इंगलैण्ड में यह सभी साधन बहुत कुछ होते हुए भी—आर्थिक दृष्टि से उपलब्ध—बाल-अपराधी बढ़ते जा रहे हैं। सब सुख होने पर भी अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए ऐसी प्रवृत्ति की तुरन्त रोकथाम की जाय, ठीक से चिकित्सा की जाय तभी भावी अपराधी रुक सकता है।[4]

साधारण व्यक्ति यह सोचने की भूल करता है कि यदि पुलिस का प्रबन्ध अच्छा हो तो अपराध में कमी हो सकती है, अपराधियों की संख्या घट सकती है। किन्तु, थोड़ी सी जानकारी प्राप्त करने पर ही यह भ्रम दूर हो जाता है। लन्दन में पुलिस का प्रबन्ध बहुत अच्छा है। वहाँ औसतन ४२ हज़ार

International Review of Criminal Policy, United Nations, January—July, 1957, Nos. 7-8, p, 23.
Ibid, No. 5, Januray 1954, p. 14.
U. N. O. Report, Nos. 7-8, p. 18.
Ibid, p. 47.

कांस्टेबुल सदैव काम पर तत्पर रहते हैं। आबादी के लिहाज से प्रति १७५ व्यक्तियों के पीछे एक कांस्टेबुल है। फिर भी वहाँ अपराध बराबर बढ़ता जा रहा है। भारत में पुलिस की संख्या बहुत कम है। मद्रास नगर में लगभग सवा तीन हज़ार कांस्टेबुल हैं यानी प्रति ४३८ व्यक्तियों के पीछे एक कांस्टेबुल। बम्बई में १२.३ हज़ार कांस्टेबुल हैं, यानी प्रति २०३ व्यक्तियों के पीछे एक। इस लिहाज़ से बम्बई पुलिस के प्रबन्ध के विचार से है सबसे आगे। कानपुर में केवल दो हज़ार कांस्टेबुल हैं यानी प्रति ४५० व्यक्तियों के पीछे एक। इतनी कम पुलिस-शक्ति होने पर भी हमारा कोई भी नगर अपराध की दृष्टि से लन्दन से कहीं अधिक अच्छी स्थिति में है। ब्रिटेन में बाल-अपराध के आँकड़े हमने पिछले अध्याय में २६वें पृष्ठ पर दे दिया है। पुलिस-शक्ति के विचार से उत्तर प्रदेश काफ़ी पिछड़ा हुआ है। पर उसी के बराबर जनसंख्या वाला ग्रेट ब्रिटेन अपराध की दृष्टि से उत्तर प्रदेश से पाँच गुना अधिक है।

क्या पुलिस बाल-अपराध रोक सकती है ?

बहुत से लोगों की यह धारणा है कि यदि पुलिस सतर्क हो तो बाल-अपराधों में काफी कमी हो सकती है। यानी, पुलिस को इस दिशा में काफ़ी ध्यान देना चाहिए। पर, जिन देशों में इस दिशा में काफ़ी ध्यान दिया जाता है, पुलिस काफ़ी सतर्क भी है, वहाँ बाल-अपराध कम नहीं हुआ है। बाल-अपराधी हो या वयस्क अपराधी, दोनों की संख्या काफ़ी बढ़ रही है। इस सम्बन्ध में दण्ड-सुधार के लिए सतत् प्रयत्न करने वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त समिति "हावर्ड लीग फ़ार पेनल रिफ़ार्म" ने बड़े महत्व के आँकड़े प्रकाशित किये हैं।[1]

नीचे सूची में जो देश दिये जाते हैं, उनकी आबादी में प्रति एक लाख व्यक्ति पीछे १० अपराधी क़ैदियों की संख्या के हिसाब से बन्दियों की कुल संख्या का औसत दिया गया है। यानी एक लाख व्यक्ति पीछे यदि दस बन्दी हों तो समूची आबादी में नीचे लिखी संख्या में बन्दी होंगे, अर्थात् दी गयी संख्या को दस गुना कर देने से हिसाब समझ में आ जायगा।[2]

एस्टोनिया	२७५.२	नाव	५७.१
फिनलैण्ड	२३१.८	फ्रांस	५५.६
स्विटज़रलैण	१६४.८	रूमानिया	५३.८
बेल्जियम	६१	लिथुआनिया	१६१.५

Howard League for Penal Reform, London,
Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 141.
ये आँकड़े द्वितीय महायुद्ध के पूर्व के हैं। अब इनमें डेढ़ गुनी वृद्धि हुई है।

जर्मनी	१५६·६	यूगोस्लाविया	५०·७
बलगारिया	१५२·०	डेनमार्क	४३·८
पोलैण्ड	१५०·७	स्वीडन	३८·५
इटली	१२६·४	आयरलैंड	३०·६
आस्ट्रिया	१०४·६	इंगलैण्ड और वेल्स	२६·६
हंगरी	६६·७	स्कॉटलैण्ड	२६·७
जे़कोस्लोवाकिया	६७·७	आयरिश फ्री स्टेट	१६·५
नीदरलैण्ड	५२·४		

जिन देशों में समाज अधिक जाग्रत है, जहाँ दण्ड-सुधार का कार्य काफ़ी अच्छा हुआ है, वहाँ अपराधियों की संख्या कम होती गयी है। इंगलैण्ड में लगभग १५,००० क़ैदी रोज़ जेल में रहते हैं। भारत में अकेले उत्तर प्रदेश में इसका दुगुना औसत है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १६३६ में ७५,६८२ व्यक्ति जेलों में बन्द थे। सन् १६६१ में १,६०,००० की संख्या थी।

फ्रांस की राजधानी में सन् १६५२ में १४,६२५ बाल-अपराधी थे जिनमें से १२,४१५ लड़के तथा २,३६८ लड़कियाँ १३ वर्ष की उम्र के नीचे थीं। ५,१०४ अपराधी १३ से १५ वर्ष की उम्र के भीतर थे तथा ७,१२२ अपराधी १६-१८ वर्ष की उम्र के भीतर थे।[१] इंगलैण्ड में सन् १६३७ में ६,८८१ बाल-अपराधी मकानों में सेंध लगाने या अनाधिकार प्रवेश के लिए दण्डित हुए थे। इनमें से ३,८३७ चौदह वर्ष की उम्र से कम के थे। ३८ प्रतिशत १३ से १७ वर्ष की उम्र के थे तथा १३ प्रतिशत १७ वर्ष से २१ वर्ष की उम्र के भीतर थे।[२] सन् १६५२ तथा १६५३ में कुल मिलाकर ७२,८३४ तथा ६२,७७० बाल-अपराधी भिन्न अपराधों के लिए दण्डित हुए थे।[3]

संयुक्त राज्य अमेरिका के ३४३० नगरों में (आबादी ६,७२,११,८४८) कुल १,८६,०६३ पुलिसमैन कर्मचारी थे। सभी नगरों तथा देहातों में औसतन फ़ी १००० व्यक्ति पीछे १·५ से १·६ पुलिसमैन का औसत पड़ता था। अमेरिकन पुलिस हर प्रकार के सामानों से सुसज्जित है, फिर भी सन् १६६०-६१ में बदमाशों ने ६५ पुलिस कर्मचारियों को गोली मार दी। ७१ पुलिसमैन सन् १६६१ में अपराध की खोज का कार्य करते समय मार डाले गये। बड़े शहरों के मुक़ाबले में छोटे शहरों में पुलिस पर अधिक हमले हुए। फिर भी, वहाँ की पुलिस अपने कार्य में काफ़ी तत्पर है। उसने ६३·१ प्रतिशत हत्याएँ,

१ Report Annual, 1952, p. 10.
२ *Criminal Statistics for England and Wales*, 1937.
३ *Annual Abstract of Statistics*, No. 91, 1954, p. 57.

७२·६ प्रतिशत बलात्कार के मामले, ७८·७ प्रतिशत मारपीट के मामले, ४१·६ प्रतिशत डकैतियाँ, ३० प्रतिशत सेंधजनी, २०·८ प्रतिशत छोटी चोरियाँ तथा २७·८ प्रतिशत मोटर कार चोरियों का पता लगा लिया था। पुलिस द्वारा जो गिरफ़्तारियाँ की गयी थीं उनमें ६ प्रतिशत १५ वर्ष से कम उम्र के बच्चे थे, ७·४ प्रतिशत १५ से १६ वर्ष की उम्र के थे तथा ६·१ प्रतिशत २० से २४ वर्ष की उम्र के थे। जो बाल-अपराधी पकड़े गये थे उनमें से १,७६,५६४ यानी ४५·१ प्रतिशत को बिना अदालत भेजे ही डाँट-डपट कर, समझाकर छोड़ दिया गया था। १,६०,८७७ यानी ४८·८ प्रतिशत बाल-अदालतों को भेजे गये थे, ७,५८६ यानी १·६ प्रतिशत को समाज कल्याण संस्थाओं को भेज दिया गया था, इत्यादि।[१]

अस्तु, सभी बड़े देशों में पुलिस का प्रबन्ध बहुत अच्छा है। फिर भी, बाल-अपराध क्यों बढ़ रहे हैं? एक कारण यह दिया जाता है कि आजकल यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि हरेक मामला चाहे कितना भी साधारण क्यों न हो, आपस में, अपने घर या पड़ोस में न निपटाकर, सीधे अदालत में ले जाया जाता है। इससे हमारे पारिवारिक, पड़ोसी तथा नागरिक जीवन में बड़ी कड़वाहट पैदा हो गयी है। परिवार, कुटुम्ब, अभिभावकों के ज़िम्मे कोई काम हम छोड़ना नहीं चाहते। "इसलिए बाल-अपराधों की संख्या में जो वृद्धि दिखायी पड़ती है, उसका एक कारण यह भी है कि पुलिस तथा अदालतों का उपयोग बढ़ता चला जा रहा है।"[२] इसीलिए, सभी अपराधियों को जेल भेजने का विरोध करते हुए अपराध-शास्त्री पॉल रेवाल्ड कहते हैं कि इस प्रथा से हमारे समाज की पीड़ाजनक स्थिति तथा जीवन-निर्वाह के लिए उचित मानवी परिस्थिति उत्पन्न करने की मानव की विफलता का अन्दाज़ लगता है। क्या हम अधिक मानवी ढंग से इस मामले पर विचार नहीं कर सकते।[3]

बाल-अपराध के सम्बन्ध में भ्रान्ति

बाल-अपराध के सम्बन्ध में हमारे मन में कितनी भ्रान्ति है, कितनी ग़लत धारणा है, इसका विवेचन इस विषय के एक बड़े विद्वान व्यक्ति ने किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के समाज-रक्षा विभाग के महामन्त्री मैनुएल लोपेज़ रे ने इस विषय में एक बड़ी अच्छी पुस्तिका लिखी है जिसे अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति ने प्रकाशित किया है। हम उनकी कही हुई बातों को कुछ विस्तार के साथ उद्धृत करना चाहते हैं। वे लिखते हैं—

[१] Crime in the United States--F.B.I. Report, 1961, pub. July, 12, 1962.

[२] Report to the Congress on Juvenile Delinquency, U.S.A., 1960, p. 3.

[3] Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 144.

"निष्कर्ष तो यह है कि यद्यपि समाज में अपने को संयत न रख सकना तथा अपराध करना, ये दोनों निकट सम्बन्धित चीज़ें हैं पर यह आवश्यक नहीं है कि हर अपराधी व्यक्ति असंयत हो या असंयत व्यक्ति अपराधी हो जाय। असल बात तो यह है कि अपने जीवन में हरेक व्यक्ति किसी न किसी समय असंयत हो जाता है और तब भी उसे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती या वह बाल या वयस्क अपराधी नहीं गिना जाने लगता है। इस जीवन में दोनों प्रकार की आवश्यकता होती है—किसी से शिष्ट तथा संयत या इसका उलटा होना कहीं पर मेल खाता है, कहीं पर नहीं खाता। सच तो यह है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की रक्षा के लिए, अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए कभी यह ज़रूरी हो जाता है कि हमारा किन्हीं तथा किसी से मेल न खाय। इसलिए कुछ समुचित सीमा तक अपराध और असंयत जीवन के लिए अरक्षा, निराशा, मेल न खाना आदि जिन चीज़ों को हम मापदण्ड बनाते हैं, वे साधारण जीवन के सदैव अंग रहेंगे, हमारे जीवन में उनका स्थान रहेगा ही। सभी भौतिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति का यह अर्थ नहीं है कि उस व्यक्ति का जीवन समाज के साथ पूरा मेल खा गया है। इसलिए जब तक ऊपर लिखे क़ारणों का कोई गम्भीर प्रभाव न पड़े, यह कहना अनुचित होगा कि उनके द्वारा ही अपराध होता है या अपराध करने के पूर्व की स्थिति पैदा होती है। जो आदमी समाज के साथ पूरा मेल खाकर रहता है, वह निश्चयतः कभी अपराधी नहीं होगा, यह नहीं कहा जा सकता। अपराध तथा अपराधी प्रवृत्ति को हम असाधारण घटना मान सकते हैं, पर सामाजिक दृष्टिकोण से, आम बात तो यह है कि जिस समाज में अपराध या अपराधी नहीं हों, वही असाधारण समाज है। दूसरे शब्दों में, उचित मात्रा तक अपराध और अपराधी कम किये जा सकते हैं, उनका पूर्ण उन्मूलन असम्भव है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में 'अपराध' शब्द बड़े हल्के ढंग से प्रयोग में लाया जाता है। कम से कम ८ प्रदेशों (राज्यों) में बाल-अपराध की व्याख्या ही नहीं की गयी है। यह अदालत पर छोड़ दिया गया है कि जिसे बाल-अपराध समझें, दण्ड दे। कुछ प्रदेशों में घर से लापता रहना, आदतन आवारागर्दी, रेलवे ट्रैक पर घूमना, किसी का कहना न मानना, माता-पिता के नियन्त्रण में न रहना, गन्दी एवं भद्दी गालियाँ बकना, किसी भी रूप में तम्बाकू का प्रयोग करना, बिना स्त्री या पुरुष की स्वीकृति के शादी करने की चेष्टा—ये सब अपराध बाल-अपराध गिने जाते हैं।

यह सही है कि कुछ प्रदेश ऊपर लिखी बातों में से कुछ बातों को बाल-अपराध नहीं मानते, पर ज़्यादातर बालक-बालिकाएँ इन्हीं व्यवहारों, आचरणों

के दायरे में आते हैं। क़ानून की सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी धारणा हो पर ऊपर लिखी बातों में से कई बातें आज के ऐतिहासिक युग में अपराध नहीं मानी जा सकतीं। हमारी सम्मति में, बाल-अपराध के सम्बन्ध में जो प्रारम्भिक विचार थे और जिनके आधार पर पश्चिमी देशों में बाल-अपराधी अदालतें बनीं या स्वीडन तथा नार्वे में 'बाल कल्याण बोर्ड' बने, वे आज मान्य नहीं हो सकते। आज जिस तेज़ी से संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे देशों में आर्थिक परिवर्तन हो गये हैं, उनको देखते हुए सत्तर वर्ष पूर्व बच्चों की देख-रेख तथा चिन्ता के विषय में जो धारणाएँ थीं, वे ठहर नहीं सकतीं। अब बच्चों तथा युवकों के महत्व, उनके पद, उनके अधिकार के सम्बन्ध में विचार काफ़ी बदल गये हैं और सामाजिक संतुलन या उनकी सामाजिक परिपक्वता के बारे में भी विचार काफ़ी बदल गये हैं। इसीलिए बाल-अपराध सम्बन्धी वर्तमान उपचार कारगर नहीं होते।

इसीलिए एक ओर तो बालक-बालिकाओं का सामाजिक विकास तथा महत्व भिन्न रूप से, भिन्न क्रम से हो रहा है, दूसरी ओर हम पुराने दक़ियानूसी ढंग से इस समस्या को हल करना चाहते हैं। अतएव बाल-अपराध रोकने के वर्तमान कार्यक्रम अधिकांशतः असफल होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बच्चों, बालकों की चिन्ता करना आवश्यक है। उनकी सुरक्षा आवश्यक है। पर इस कार्य के सम्बन्ध में हमको अपने दृष्टिकोण को बदलना होगा। उसे आज के युवक की समस्याओं के तदनुरूप बनाना होगा। मौजूदा प्रणालियों तथा धारणाओं का फल यह हो गया है कि हम बड़ों की दुनिया से बच्चों तथा युवकों को एकदम अलग किये दे रहे हैं। हम उनके बीच खाई बढ़ाते जा रहे हैं। यह सामाजिक औपचारिक धारणा इस बात से और भी दृढ़ होती जा रही है कि हम बच्चों के बालिग़ होने की उम्र को भी आगे बढ़ाते चले जा रहे हैं। उनमें आवास, निवास, शिक्षा आदि की सुविधा बढ़ती जा रही है। फिर भी हम कतिपय चिकित्सक-मनोवैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर उनको कम ज़िम्मेदार, कम परिपक्व समझते जा रहे हैं। फलतः पहले १४ या १५ वर्ष की उम्र के नीचे का बाल-अपराधी दण्ड-विधान से मुक्त था। अब संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में उम्र को बढ़ाकर १६, १८, २१ तथा २३ वर्ष कर दिया गया है। बाल-अपराधों के सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञ ३६ वर्ष के नीचे के लोगों को 'बच्चा' कहते हैं। सामाजिक वास्तविकता से यह बात भी बहुत दूर है कि आज जो उपाय तथा विधियाँ बाल-अपराधियों के लिए काम में लायी जा रही हैं वे उन उपायों तथा विधियों की भूमिका होंगी जो वयस्क अपराधियों के लिए उपयोग में आवेंगी। हम मानते हैं कि बाल-अपराधी के सम्बन्ध में चिकित्सक मनोविज्ञान की काफ़ी ज़रूरत है पर यह नहीं सोचना है कि इन सिद्धान्तों से

ही समस्या हल हो जायगी। यह समस्या सामाजिक है। इस पर केवल मनोविज्ञान या चिकित्सा-शास्त्र का सहारा नहीं लिया जा सकता। मुझे भय है कि मैं मौजूदा सिद्धान्तों के विपरीत बातें कर रहा हूँ। मेरा ध्रुव विश्वास है कि बाल-अपराध के कारणों का पता लगाने से काम नहीं चलेगा। पहले तो यह तय करना होगा कि कारण किसे कहते हैं। कारण कोई कीटाणु नहीं है जो पृथक् किया जा सके। यह भी तय नहीं है कि एक वर्ग में जो कीटाणु मिलेगा, वही दूसरे वर्ग में भी मिलेगा। इस विषय की समीक्षा करने से पता चलेगा कि प्रायः जिन्हें हम कारण मान बैठते हैं वे केवल आधार मात्र हैं जिनसे अपराध की घोषणा कर दी जाती है।

अपराधी की ठीक से व्याख्या कर देने से पुलिस तथा समाज-सेवी संस्थाएँ दोनों का काम हल्का हो जायगा। जब तक हम बच्चों के सभी दुर्व्यवहारों को अपराध मानते रहेंगे, यह समस्या कभी हल न होगी। समस्या का आकार तथा उसकी दुरूहता बढ़ती जायगी। यदि हम माता-पिता या गुरुजनों की अवज्ञा, उनके प्रति आदर का अभाव, ज़िद्दीपन, आवारागर्दी, सड़क पर जले हुए सिगरेट-बीड़ी को बटोरना, इत्यादि ऐसे कार्यों को बाल-अपराध समझते रहेंगे, जैसा कि बहुत से देशों में समझा जाता है, तो यह समस्या हल होने की नहीं। यह हो सकता है कि पुलिस वाले कभी-कभी ऐसा कर सकें कि इस तरह की बातें रोकते रहें पर यह काम पुलिस से नहीं हो सकता। यह काम सामाजिक संस्थाएँ ही कर सकती हैं।

सौभाग्य की बात है कि बहुत से देशों में, जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका भी शामिल है, बाल-अपराध के सम्बन्ध में अपने पिछले विचार बदल रहे हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ का सामाजिक-सुरक्षा-विभाग इस विकट, पर साथ ही अनायास बढ़ायी हुई समस्या पर खोज तथा समीक्षा कर रहा है ताकि वस्तु-स्थिति स्पष्ट हो जाय। उसकी राय है कि 'बाल-अपराध' को उन्हीं तक सीमित रखा जाय जो वास्तव में दण्डनीय अपराध करते हैं। बाल-अपराधी तथा दुर्व्यवहारी बालक में अन्तर करना चाहिए।

सन् १९६० के अगस्त महीने में अपराध निरोध पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपराध निरोधक द्वितीय कांग्रेस लन्दन में हुई। सम्मेलन ने यह स्वीकार किया कि बाल-अपराध में वृद्धि का एक कारण यह भी है कि बहुत से देशों में जो चीज़ें पहले अपराध नहीं समझी जाती थीं, वे अब अपराध गिनी जाने लगी हैं। कई देशों में बहुत साधारण असंयम की बातें भी बाल-अपराध में शामिल हैं तथा कई देशों में अपराध की रोकथाम का संगठन अधिक दृढ़ हो गया है। सम्मेलन ने निश्चय किया है कि—

'कांग्रेस की राय में बाल-अपराध की समस्या को आवश्यकता से अधिक

गम्भीर नहीं समझना चाहिए। बिना इस बात का प्रयत्न किये कि हरेक देश के लिए बाल-अपराध की एक निश्चित व्याख्या बना दी जाय, सम्मेलन की राय में—

(अ) बाल-अपराध का तात्पर्य केवल दण्ड-विधान की अवज्ञा समझा जाय।

अपराध-निरोध के लिए बालक-बालिकाओं को अपराधी बनने से बचाने के लिए जो कार्यक्रम हों, उनमें नाबालिग़ों को साधारण असंयत जीवन तथा सामाजिक प्रतिकूलता के लिए उसी सीमा तक दण्डनीय समझा जाय, जिस सीमा तक बालिग़ों को समझा जाता है।"

हमने प्रोफ़ेसर मैनुएल लोपेज़ रे को विस्तार के साथ उद्धृत किया है। यह इसलिए कि हम उनके मूल्यवान नवीन दृष्टिकोण से तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्याख्या से बिलकुल सहमत हैं। इस प्रकार हमने इस समस्या का सरसरी तौर पर निरूपण कर दिया और उसकी व्याख्या भी कर दी है। अब इस सम्बन्ध में कुछ और बातें जान लेनी चाहिए।

एक विशद् प्रयोग

पचास वर्ष पूर्व इस सम्बन्ध में एक बड़ा भारी क़दम उठाया गया। ग्रेट ब्रिटेन ने प्रोबेशन प्रणाली—आरक्षण प्रणाली—का श्रीगणेश किया। बाल-अपराध के लिए विशेष अदालतें तथा बोर्स्टल संस्थाएँ खुलीं। पिछले पचास वर्षों में संसार में अभूतपूर्व प्रगति हो गयी है। अब तो मनुष्य बलवान अणुओं पर सवारी करता है। दरिद्रता पर विजय प्राप्त करने में वह काफ़ी आगे बढ़ गया है। बड़ी-बड़ी बीमारियों तथा महामारियों को उसने परास्त कर दिया है। संसार में युद्ध-विरोधी नारा भी बलवान होता जा रहा है। पर, लार्ड सैमुएल के शब्दों में मनुष्य अपराध पर विजयी न हो सका।

उस अपराध-शास्त्री ने बड़े दुःख के साथ यह बात स्वीकार की है। लार्ड सैमुएल ब्रिटिश सरकार में उस समय उपमन्त्री (अण्डर सेक्रेटरी) थे जब सन् १९०८ में विश्वविख्यात "चिल्ड्रेन्स बिल" (बाल अधिनियम) ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में पेश हुआ था। इसी नियम के द्वारा बाल-अदालतों की रचना हुई थी। मार्च १९५८ में लन्दन के "संडे टाइम्स" में लार्ड सैमुएल ने गत पचास वर्षों में दण्ड-सुधार के लिए किये गये कार्य तथा उनके परिणाम की समीक्षा की थी। वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उनसे संसार के सभी देशों की आँखें खुल जानी चाहिए। वास्तव में, उन्होंने यह साबित किया है कि दण्ड-सुधार के कार्यों से अपराध की रोकथाम नहीं हो सकती है।

संसार में बाल-अपराध की समस्या को हल करने के लिए सबसे अधिक काम करने वाला प्रगतिशील देश ग्रेट ब्रिटेन है। उसने सन् १९०७ से इस

कार्य को शुरू किया था। सन् १९०७ में वहाँ प्रोबेशन ऐक्ट बना। सन् १९०८ में गृह-मन्त्री हर्बर्ट ग्लेडस्टन ने पार्लियामेन्ट द्वारा "अपराध निरोध" बिल पास करवाया था, जिसके द्वारा बोर्स्टल संस्थाएँ खुलीं तथा अपराधी मनोवृत्ति वालों को सरकारी संरक्षण में लेने का क़ानून बना था। लार्ड सैमुएल ने उसी वर्ष "चिल्ड्रेन्स (बाल) बिल" पेश किया था। इस क़ानून में १३० धाराएँ थीं और इसी के द्वारा विशिष्ट दृष्टिकोण से बाल-अपराधियों पर विचार करने के लिए बाल-अदालतों की रचना हुई। सन् १९३३ तथा १९४८ में इस क़ानून में संशोधन किये गये और इसका कार्य-क्षेत्र बढ़ा दिया गया।

इंगलैण्ड और वेल्स में सभी अपराधियों के लिए एक और विशेष सुविधा की गयी। वे कारागार या "अर्थ-दण्ड" की सज़ा, दो में से एक ही कई मामलों में प्राप्त कर सकते थे। सन् १९०५ से ब्रिटिश कारागरों में २१,००० बन्दी थे। सन् १९१८ में जुर्माना की सुविधा के कारण उनकी संख्या घटकर ९०० ही रह गयी थी। चालीस वर्ष पूर्व जेलों की आबादी इतनी कम देखकर ब्रिटिश सरकार यह सोचने लगी थी कि आधे जेल तोड़ दिये जायँ। सन् १९३८ तक ब्रिटिश जेलों की आबादी १०,३०० से ९,००० के बीच में थी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद विज्ञान तथा सभ्यता में अत्यधिक प्रगति हो गयी है। मानव-जीवन का कार्य-क्षेत्र हर दिशा में काफ़ी आगे बढ़ गया है। इसी तरह अपराध-क्षेत्र में भी प्रगति हो गयी है। सन् १९३८ में ब्रिटेन में बाल-अपराधियों की संख्या ३६,००० हो गयी थी। सन् १९५६ में ४९,००० हो गयी थी। ब्रिटिश गृहमन्त्री श्री आर० ए० बटलर के कथनानुसार यह संख्या बढ़ती ही जा रही है। सन् १९५६ में हिंसात्मक आक्रमण करने वाले पुरुष अपराधी १९५५ थे जब कि सन् १९५७ में ५,६४८ हो गये। इसी अवधि में कामवासना के अपराधी २,२२९ से ५३०२ हो गये। मकान में सेंध लगाने वाले १८,१६८ से बढ़कर १९,६७२ हो गये। दण्डनीय पुरुष अपराधियों की संख्या सन् १९३८ में ६८,००० से बढ़कर सन् १९६१ में १,५८,७१७ हो गयी थी। सन् १९६१ में इंगलैण्ड और वेल्स में बाल-अपराधियों की संख्या ४४,४४४ थी—सन् १९६० से ११·५ प्रतिशत अधिक।

ये आँकड़े दण्डित लोगों के हैं। ब्रिटिश पुलिस रिपोर्ट के अनुसार वास्तव में सन् १९३९ में ३,००,००० अपराध हुए। सन् १९५१ में ५,००,००० तथा सन् १९६१ में ८,०६,९००। इनमें सभी प्रकार के अपराध शामिल नहीं हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १९५३-५४ में फ़ी १८ सेकण्ड पर एक अपराध होता था। अब फ़ी १० सेकण्ड पर होता है। बाल-अपराध वहाँ काफी

बढ़ गये हैं। श्री माटंगोमरी, सदस्य, ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के कथनानुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग १०,००,००० बालक-बालिकाएँ प्रति वर्ष अपराध करते हैं। सन् १९६१ में अकेले न्यूयार्क नगर में ५७३ हत्याएँ हुई थीं।

इंगलैण्ड और वेल्स में कुल अपराधियों में से ८-१४ वर्ष की उम्र के बाल-अपराधियों का औसत निम्नलिखित था :—

	१९६१
चोरी	१८·३
सेंधमारी	२७·३
चोरी का माल लेना	२९·६
जालसाज़ी	२·२
कामवासना के अपराध	४·३
हत्या मारपीट आदि	२·६
डकैती	११·२

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात कि सन् १९६१ में ९,०३६ लड़के तथा ३,८७३ लड़कियाँ इंगलैण्ड और वेल्स में प्रोबेशन (आरक्षण) पर छोड़े गये थे।

यौन-संचार का प्रश्न

आजकल बाल-अपराधों की वृद्धि का एक नया कारण बतलाया जा रहा है। कहते हैं कि परिवार तथा समाज का रहन-सहन ऐसा हो गया है कि लड़के या लड़कियों में पहले की तुलना में यौन-संचार—जवानी—का श्रीगणेश जल्दी हो जाता है। शारीरिक परिवर्तन तो हो जाता है, पर बुद्धि का कच्चापन बना रहता है। इस प्रकार शरीर तथा बुद्धि की अवस्था में भेद होने के कारण वे अपराधी बन सकते हैं। हमारे बच्चे अधिक "कामुक" हो गये हैं और उनकी "भावुक गति" में व्याघात उत्पन्न हो गया है।

लीसेस्टर के रैटक्लिफ कालेज के आचार्य लीथम ने लिखा है कि सन् १९५० में यह पता चला कि पहले की तुलना में हमारी सन्तान में यौन-संचार पाँच वर्ष पहले हो जाता है, यानी यदि सौ वर्ष पूर्व १५ वर्ष की उम्र में कामुक भावना पैदा होती थी तो अब दस वर्ष में हो जाती है। इंगलैण्ड के शरीर-विज्ञान-पंडितों की संस्था ने तथा बाल-विशेषज्ञों ने चेतावनी दी है कि पहले ज़माने की तुलना में लड़के-लड़कियों में यौन-संचार काफ़ी जल्दी हो जाता है। इसलिए यदि उनको ठीक से न सम्हाला जाय तो वे "वासना के अपराधी तथा व्यभिचार के दोषी" हो सकते हैं। शरीर-विज्ञान वाली संस्था ने तो यहाँ तक पता लगा लिया है कि सन् १९३८ से १९५१ के बीच में यौन-संचार पहले से १८ महीने

पहले होने लगा है। इसीलिए लीथम कहते हैं कि "अभी तक तो हम अपनी धार्मिक परम्परा से बचते चले आये हैं पर अब हमको युवक-युवतियों की स्पष्ट आन्तरिक वासना को पहचानने से मुख नहीं मोड़ना चाहिए।"

यदि बालक-बालिकाओं का यौन-संचार पाँच वर्ष पहले होने लगा है तो एक विकट क़ानूनी तथा सामाजिक समस्या उत्पन्न हो जाती है। "बाल" किसे कहें ? बाल-अपराध का मतलब क्या होगा ? किस उम्र से अपराध की ज़िम्मेदारी मान ली जाय ? इंगलैण्ड वग़ैरह में पुराना विचार तो यह था कि सात वर्ष के नीचे की उम्र में किया गया अपराध अपराध नहीं है। सन् १९३२ से इंगलैण्ड ने इस उम्र को बढ़ाकर ८ वर्ष कर दिया है। साधारणतः कई देशों में १४ वर्ष की उम्र के नीचे के अपराध दण्डनीय नहीं समझे जाते। श्री बटलर ने एक सवाल किया है कि क्या इस उम्र को बढ़ाकर १५-१६ वर्ष कर दी जाय ताकि हरेक अपराधी तथा दण्डनीय अपराधी में कोई अन्तर न रह जाय। क्या बाल-अदालतों में २१ वर्ष तक के लोग भेजे जायँ ? अभी तो बाल-अदालतों में जो अपराधी जाते हैं उनमें से एक-तिहाई या तो एकदम छूट जाते हैं या कुछ शर्त के साथ छूटते हैं। एक-चौथाई प्रोबेशन पर छूटते हैं। अब जो बच गये उनमें से एक-तिहाई पर जुर्माना होता है और बाक़ी अपने अभिभावकों से छीनकर सरकारी सुधार-गृहों में भेज दिये जाते हैं। सन् १९६१ में ७,८९६ लड़के-लड़कियाँ बोर्स्टल आदि संस्थाओं में भेजे गये।

यूरोप में भी यह समस्या गम्भीर हो गयी है। वियना के मनोवैज्ञानिक केन्द्र (विश्वविद्यालय) के एक प्रोफ़ेसर ने इस सम्बन्ध में काफ़ी आँकड़े एकत्र किये हैं। उनका कहना है कि यूरोप के बाल-अपराधी अमेरिकन बाल-अपराधियों की तरह से ख़राब नहीं हैं। यदि आस्ट्रिया में कोई बाल-अपराधी किसी पर पिस्तौल तान दे तो उसे बातों से समझाया जा सकता है, अगर अमेरिका में ऐसा हो तो बात करते-करते वह गोली दाग देगा।

यूरोप में एक काम अच्छा होता है। कुछ साल बाद बाल-अपराधी के अपराध का रेकर्ड नष्ट कर दिया जाता है। इससे उसका कलंक धुल जाता है। प्रायः अधिकांश यूरोपीय देशों में ऐसा ही होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसा नहीं होता। एक बार अपराध कर लिया तो जीवन भर के लिए कलंकित हो गये।

अपराध-शास्त्र, अन्य सभी शास्त्रों के समान, अनुभव से निरन्तर सीखते जाने की वस्तु है। यद्यपि कुमारी हर्सबी स्मिथ ने, जो सन् १९५८ में ग्रेट ब्रिटेन में संयुक्त पार्लियामेन्टरी सेक्रेटरी थीं, अनुदार दल की महिलाओं के सम्मेलन में यह कहा था कि बाल-अपराध बढ़ा नहीं है—फिर भी, वैज्ञानिकों ने इसकी

गम्भीरता को समझा है और वे इसके नये कारण ढूँढ़ रहे हैं। वे सामाजिक अरक्षा, ग़रीबी, दरिद्रता तथा गन्दे निवास के कारणों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अब वे हमारे प्राचीन सिद्धान्त—धर्म, माता-पिता तथा व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी—को धीरे-धीरे मानते जा रहे हैं।

भग्न परिवार

कम्युनिस्ट देश पोलैण्ड के समाचारपत्र 'नोवा कल्चुरा' ने सन् १९५८ में लिखा था कि बाल-अपराध बढ़ने का कारण उस देश में बढ़ता हुआ भग्न पारिवारिक जीवन है। माता-पिता भिन्न शहरों में जीविकोपार्जन करते हैं। इससे बच्चों की ठीक से देख-रेख नहीं हो पाती।

संयुक्त राज्य अमेरिका के इलिनाय नगर में "अभिभावक तथा अध्यापक सम्मेलन" में भाषण देते हुए शेरिफ़ जोज़ेफ़ ने कहा था कि "संयुक्त राज्य अमेरिका में बाल-अपराधियों की आधी समस्या तो बालक-बालिकाओं के प्रति हमारे व्यवहार के कारण उत्पन्न है—हमारी समूची पुलिस-शक्ति का एक-तिहाई तो सड़क पर सवारियों के नियन्त्रण में लगा हुआ है। कितने पुलिसमैन बाल-अपराधियों की ओर ध्यान देते हैं? हम अपने पुलिस-संगठन को इस प्रकार से संगठित करने में असफल रहे हैं कि वह अपराध के मानवी पहलू पर विचार कर सके। बाल-अपराधी के प्रति उसका ग़लत दृष्टिकोण प्रकट है। चोरी के अपराध में अमेरिका में गिरफ़्तार होने वाले ८५ फ़ीसदी बच्चे कभी अकेले अपराध नहीं करते। वे एक अपराधी गिरोह से सम्बद्ध होते हैं। यदि अमेरिकन लोग अपनी मोटरगाड़ियों की जितनी देखभाल करते हैं, उसका आधा भी ध्यान अपने बच्चों की तरफ़ देते तो आज इस देश में बाल-अपराध की समस्या ही नहीं रहती।"

ब्रिटिश गृहमन्त्री बटलर (१९५८) तथा लार्ड सैमुएल दोनों ने लिखा था कि खण्डित पारिवारिक जीवन, माता-पिता की ग़ैर-जिम्मेदारी, घर पर प्रेम तथा संरक्षण का अभाव, बचपन में ही काफ़ी पैसा ख़र्च करने के लिए मिलना, आदि बाल-अपराधों में वृद्धि के कारण हैं। श्री बटलर लिखते हैं—"हम में से जो माता-पिता हैं, उनको अपने से ही पूछना चाहिए कि क्या ऐसा तो नहीं है कि अपने बच्चे की देख-रेख के लिए स्कूल, अध्यापक, युवक-संगठन आदि के ऊपर हम बहुत ज्यादा निर्भर करते हैं।" बर्क ने लिखा था—"मानव जाति एक पाठशाला है और मनुष्य और कहीं अन्य से कुछ नहीं सीखता।" क्या हम बच्चों के लिए सही उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं।

लार्ड सैमुएल ने लिखा है कि "हम देख रहे हैं कि यह युग बेचैनी का है।" हरेक व्यक्ति आध्यात्मिक तथा बौद्धिक रूप से घपले में पड़ा हुआ है।

इस युग में मानव यह तो समझ रहा है कि उसमें कोई रोग घुस गया है, पर वह अपनी बीमारी तथा उसका कारण नहीं समझ पाया है······हमें यह शंका होने लगी है कि क्या वे साधन जिनके द्वारा हम सामाजिक वातावरण उत्पन्न करते हैं, यथा पारिवारिक प्रभाव, नित्य का मिलना-जुलना, समाचार-पत्र, पुस्तकें, रेडियो, टेलिविज़न, सिनेमा, थियेटर—जैसा कि वे आजकल हैं, हमारी भावी पीढ़ी को नैतिक रूप से स्वस्थ बना सकेंगे ?" कुमारी डोरोथी पैटर्न प्राइस ने लिखा है कि "आजकल की नक़ली सभ्यता तथा उसके मनोरंजन ने हमको निजी प्रयत्न तथा निजी देखरेख से दूर कर दिया है। आज का ज़माना यह है कि हम जब जो चाहें हमको मिल ही जाय।"

लन्दन के एक बाल-मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि "आज का बालक दण्ड से डरता नहीं, उसे उसमें मजा मिलता है। उनमें से तो बहुत से ऐसे हैं जिनको घर रहने का ठिकाना नहीं है। उनके कार्य भी इस अनिश्चित जीवन की पृष्ठ-भूमि में होते हैं······उनकी "बुद्धि में मक्कारी" आ गयी है······ मैं अभि-भावकों की परेशानी को समझता हूँ पर मेरा निश्चित विश्वास है कि बहुत सी ख़राबी की जड़ घर में धार्मिक शिक्षा का अभाव है।"

श्रीमती रॉबर्ट ने लिखा है कि "आजकल बच्चों को यह सिखाया जाता है कि तुम अपने माता-पिता से अधिक महत्वपूर्ण हो। यदि माता-पिता का जीवन निम्न स्तर का है, तो बच्चे भी वैसा ही जीवन बिताएँगे। आसानी से तलाक़ हो जाता है। नैतिक चरित्र गिर गया है। ये सभी बात हमारे समाज का नैतिक स्वास्थ्य नष्ट कर रही हैं।"

वाल्टर वीलेज़ ने "संडे टाइम्स" में सन् १९५८ में लिखा था कि बच्चों को भ्रष्ट करने के लिए सिनेमा क्या कम थे, अब टेलिविज़न आ गया है। बचपन से ही उनको विलासी तथा कामुक दृश्य देखने को मिलते हैं। उनमें भ्रष्ट बहादुरी की भावना भरी जाती है। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के सदस्य श्री हचिंसन ने लिखा था कि "हम अन्तर्राष्ट्रीय रूप में हिंसा को बुरा समझते हैं, पर फिल्म-जगत में हिंसात्मक दृश्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। बच्चों को समुचित विकास का अवसर नहीं मिलता, अतएव उनकी कार्य करने की प्रेरणा उन्हें अशिष्ट विद्यार्थी तथा शरारती बालक-बालिका बना देती है।"

भारत में बाल-अपराध

भारत में बाल-अपराध तथा वयस्क-अपराध, दोनों ही बढ़ रहे हैं। सन् १९५९ की पुलिस रिपोर्ट से पता चलता है कि सन् १९५८ में समूचे देश में ४,६५८ डाके पड़े तथा सन् १९५९ में ३,७७५ यानी डकैती की संख्या २० प्रतिशत घट गयी। बच्चों तथा स्त्रियों को भगा ले जाने के ६,०४३

मामले सन् १९५८ में हुए तथा ६,४५९ मामले सन् १९५९ में, यानी इसमें ६·९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् १९६० में प्राप्त आँकड़ों के अनुसार २६ बच्चों के भगा ले जाने के मामले सरकार की नोटिस में आ चुके थे। ६३ व्यक्ति इस सम्बन्ध में गिरफ़्तार हो चुके थे तथा पचपन खोये हुए बच्चे प्राप्त किये जा सके हैं। स्त्रियों-बच्चों के भगाने के सबसे ज़्यादा मामले बिहार, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा महाराष्ट्र में हुए थे।

डाकेज़नी में १०·६ प्रतिशत तथा जाली सिक्का बनाने में २० प्रतिशत की कमी सन् १९५८ की तुलना में रही। पर, हत्या में ·०५ प्रतिशत की वृद्धि रही। सन् १९५८ में १०,६६१ हत्याओं की सूचना मिली थी। सन् १९५९ में १०,७१२ हत्याओं की सूचना मिली थी। बलवों की संख्या में ८·२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् १९५८ में २४,९४२ बलवे हुए और सन् १९५९ में २६,९८७। समूचे देश में अपराधों में सबसे अधिक वृद्धि कानपुर में हुई—१५·४ प्रतिशत। हैदराबाद में ७·८ प्रतिशत तथा बम्बई में २·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।[१]

आन्ध्र प्रदेश में, सन् १९५७ की तुलना में सन् १९५८ में गम्भीर अपराधों में २२०८ मामलों की कमी रही। हत्या में यह कमी ५·२ प्रतिशत की, डकैतियों में ३७·६ प्रतिशत की, डाकाज़नी में १८·६ प्रतिशत की, मकान में सेंध लगाने के मामलों में ८·८ प्रतिशत की, तथा साधारण चोरी के मामलों में १२·१ प्रतिशत की कमी रही। गाय-बैल चुराने के मामलों में ६·८ प्रतिशत की वृद्धि रही। सन् १९५७ में आन्ध्र में ९०२ हत्याएँ हुईं। सन् १९५८ में ८५५ हत्याएँ हुईं। इन हत्याओं के कारण निम्नलिखित हैं—

कारण (नीयत)	१९५७	१९५८
काम-वासना	१९९	१७२
२. पारिवारिक कलह	१७७	१६६
३. पार्टीबन्दी	१०२	८५
४. डाकाज़नी	५९	५३
५. अन्य कारण	३६५	३८०
योग	९०२	८५६

आन्ध्र प्रदेश द्वारा प्रकाशित पुलिस रिपोर्ट में दी गयी एक तालिका को हम अगले पृष्ठ पर उद्धृत कर रहे हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रदेश में आबादी की तुलना में कितनी पुलिस-शक्ति है तथा पुलिस द्वारा ध्यान

---

[१] INFA—News Bulletin, 21st July, 1961, quoted from Police Quarterly Review, 1960.

देने योग्य कितने अपराधों की रिपोर्ट हुई और फ़ी एक हज़ार व्यक्ति पीछे अपराध का क्या औसत है। इन आँकड़ों से भारत के प्रदेशों में अपराध की स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

सन् १९५७ में

प्रदेश	आबादी	पूरी पुलिस संख्या	फ़ी १००० व्यक्ति पीछे पुलिस	पुलिस के नोटिस लेने योग्य अपराध	फ़ी १००० व्यक्ति पीछे अपराधों का औसत
आन्ध्र	३,१३,६५,५००	३६,२२४	१·२	३,६२,३८८	११·६
आसाम	८८,३७,७५७	१२,७८१	१·४५	२१,०८९	अप्राप्त
बिहार	३,८७,७९,५६४	२०,८९९	०·५४	६८,०५५	१·७५
बम्बई	४,८२,६५,२२१	८५,१६४	१·६७	६,३४,६६५	१३·१५
मध्य प्रदेश	२,६०,७१,०००	३८,०१०	१·४	१,२६,५७१	४·८
मद्रास	३,००,२६,१६८	२८,६३०	०·९५	४,०७,३५७	१३·६
मैसूर	१,९१,०१,१९३	२३,७७९	१·२	१,८२,०१४	९·५
उड़ीसा	१,४६,४५,९४६	१३,८५२	०·९५	२,२५,८२७	१·८
पंजाब	१,६१,३४,८९०	३१,७९२	१·९	४८,१४६	२·९
उत्तर प्रदेश	६,३२,१५,७५२	६२,११५	०·९८	१,२८,२३६	०·०९
पश्चिमी बंगाल	२,२३,११,५४०	२८,७१९	१·२	७७,८२२	३·४८

आन्ध्र प्रदेश में प्रायः पूरे राज्य में मादक-द्रव्य निषेध है। पर, इससे वहाँ इसी सम्बन्ध के अपराध कितने बढ़े हैं, यह जान लेने से हम एक कारण यह भी बता सकते हैं कि क़ानून की कठोरता एवं चरित्र को सुधारने के दायरे में क़ानून के हस्तक्षेप से अपराध घटते नहीं, बढ़ते हैं। आन्ध्र प्रदेश में शराब के नशे में चूर रहने के अपराध में निम्नलिखित गिरफ़्तारियाँ तथा सज़ाएँ मिलीं—

क्षेत्र	वर्ष	गिरफ़्तारियाँ		दण्डित	
		पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
शहरों में	१९५७	२८,४८१	६५७	२७,०८०	६३६
	१९५८	२८,४५१	५६५	२५,१५१	५४९
देहातों में	१९५७	३४,१८३	२१५	३०,१७९	१७७
	१९५८	३६,२२५	२३१	३०,७६८	१५४

शहरों की आबादी देहातों से बहुत कम है, फिर भी वहाँ काफ़ी गिरफ़्तारियाँ हुई हैं। देहातों में आबादी अधिक होने पर भी बहुत कम महिलाएँ शराब पीती पकड़ी गयी हैं। शहर का जीवन अधिक विषाक्त प्रतीत होता है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि आन्ध्र प्रदेश में गुरुतर अपराध तो

९·७ प्रतिशत कम हो गये हैं पर मादक द्रव्य के अपराध सन् १९५७ की तुलना में सन् १९५९ में २५·२८ प्रतिशत बढ़ गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अपराधों में वृद्धि या कमी सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है। जो प्रदेश शिक्षा तथा धन में जितना आगे बढ़ा हुआ है, वहाँ अपराध उतना ही बढ़ा है। बिहार तथा उत्तर प्रदेश काफ़ी ग़रीब हैं अतएव वहाँ फ़ी १००० व्यक्ति पीछे ०·०९ तथा १·७५ अपराधों का क्रमशः औसत रहा जब कि बम्बई—अब महाराष्ट्र प्रदेश—में १३·१५, मद्रास में १३·६ तथा मैसूर में ९·५ का औसत रहा।

अपराध की समूची परिस्थिति देखने से पता चलता है कि सन् १९५८ की तुलना में सन् १९५९ में आसाम में ९·२ प्रतिशत, केरल में ६·५ प्रतिशत, मैसूर में २·९ प्रतिशत, तथा राजस्थान में २·२ प्रतिशत अपराध बढ़े और बिहार में ५·८ प्रतिशत, महाराष्ट्र में ५·३ प्रतिशत तथा आन्ध्र में ४·३ प्रतिशत अपराध घटे हैं।

उत्तर प्रदेश के कारागार विभाग के प्रधान की सन् १९६० की रिपोर्ट सन् १९६२ के अन्त में प्रकाशित हुई है। इसके अनुसार सन् १९६० में प्रदेश के जेलों में कुल मिलाकर १,०८,२०९ सज़ायाफ़्ता क़ैदी दाखिल हुए जिनमें से १०७,३४० पुरुष तथा ८६९ महिलाएँ थीं। जेलों में दण्ड प्राप्त क़ैदियों की रोज़ की औसतन आबादी २५,००० थी। सन् १९६० के आरम्भ में उत्तर प्रदेश के जेलों में ३४,९१२ कैदी थे। उस वर्ष कुल मिलाकर १,२०,७५४ विचाराधीन क़ैदी दाखिल हुए थे जिनमें से ८५,५४३ को अदालत ने छोड़ दिया तथा १७,८८३ को सज़ा मिली थी। सन् १९६० में प्रदेश के जेलों में विचाराधीन क़ैदियों की औसतन आबादी १०,४९१ थी। उसी वर्ष प्रदेश के जेलों में बाल-अपराधियों की संख्या उम्र के लिहाज़ से इस प्रकार थी—

१४ वर्ष से कम		**१५ से २१ वर्ष तक**		**२२ से २५ वर्ष तक**		कुल योग	
पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
२२१	०	६४४	३४	१३,१३३	१३५	२१,९९८	१७१

यानी प्रदेश की समूची जेल आबादी का लगभग एक-चौथाई बाल-अपराधी है—२५ वर्ष से कम उम्र का है। यह भी स्पष्ट है कि इंगलैण्ड तथा अमेरिका में १५ से ३० वर्ष की उम्र के बीच में अधिक अपराधी होते हैं, हमारे यहाँ २२ से २५ वर्ष की उम्र सबसे ज्यादा ख़तरनाक है। ऊपर लिखी संख्या में से २०,४३४ पुरुष तथा १६० स्त्रियाँ प्रथम अपराधी थे तथा ३,०३५ पुरुष तथा १० स्त्रियाँ (बालक-बालिकाएँ) आदतन यानी दुबारा अपराधी थे।

अस्तु, चाहे किसी भी कारण से हो, भारत में भी अपराध बढ़ रहा है। उत्तर प्रदेश सरकार के चीफ़ प्रोबेशन अफ़सर की २३ सितम्बर, १९६० की एक रिपोर्ट के अनुसार सन् १९५८ में कानपुर शहर में २०९ दण्डित बाल-अपराधी थे तथा सन् १९५९ में ३४०। सन् १९५९ की संख्या में ५२ ने बेकारी

के कारण अपराध किया। ३७ का परिवार छिन्न-भिन्न हो गया था। ३७ ने इसलिए अपराध किया कि उन पर माता-पिता का नियन्त्रण नहीं था। २३ को समुचित शिक्षा नहीं प्राप्त हुई थी तथा ३३ ने भिन्न कारणों से अपराध किया था। सन् १९५८ में चोरी करने या चोरी की नीयत से दूसरे के मकानों में घुसने के अपराध में ६१ बालक दण्डित हुए थे। सन् १९५९ में यह संख्या १२५ थी। इलाहाबाद में सन् १९५८ में जो बाल-अपराधी प्रोबेशन यानी आरक्षण अधिकारी की देख-रेख में थे उनकी संख्या ११५ थी। सन् १९५९ में यह संख्या १८२ हो गयी। उसी नगर में चोरी के अपराधी बालकों की संख्या सन् १९५८ में ८१ थी, वह सन् १९५९ में १०६ हो गयी। वाराणसी में इसी अवधि में बाल-चोरों की संख्या ४१ से ५३ हो गयी।

सन् १९५८ में उत्तर प्रदेश में जेलों की आबादी में ८६,४३३ दंडित अपराधी, १,३२,४४५ विचाराधीन बन्दी तथा २३,५९९ बाल-अपराधी थे। देश में अन्य किसी प्रदेश में जेल की आबादी इतनी नहीं थी।

पूना के ज़िला प्रोबेशन तथा उत्तर-रक्षा समिति ने सन् १९५९-६० की अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि सन १९५८-५९ की तुलना में पूना ज़िले में—

१. गृहहीन बच्चों की संख्या में १० प्रतिशत की कमी हुई यानी ५३० लड़कियों और ५८५ लड़कों से घटकर ४२५-५३० के बीच रही।

२. नियन्त्रण में न आने वाले बच्चों की संख्या में ९ प्रतिशत की वृद्धि रही यानी सन् १९५८-५९ की १२ लड़कियों और ५८५ लड़कों की संख्या सन् ५९-६० में बढ़ कर ६० लड़कियाँ और ५३० लड़के हो गयी थी।

३. चोरी करने वाले तथा मादक-द्रव्य सम्बन्धी अपराध करने वालों की संख्या काफ़ी बढ़ गयी यानी १९९ लड़कियों और ४३६ लड़कों से बढ़कर २१९ लड़कियाँ तथा ३८९ लड़के चोरी में तथा मादक द्रव्य के अपराध में ५२ लड़कियों और ३३६ लड़कों से बढ़कर ५४ लड़कियाँ और ३८९ लड़कों की संख्या थी।

४. जूए का अपराध भी काफ़ी बढ़ा है यानी १६ लड़कियों और ४३५ लड़कों से बढ़कर २७ लड़कियाँ तथा ३८९ लड़के जुआड़ी थे।

स्पष्ट है कि जुआ तथा मादक द्रव्य के अपराध में लड़कों की संख्या कम हुई है और लड़कियों की बढ़ी है।

सन् १९५९-६० में पूना में बाल-अपराधियों की नीचे लिखी स्थिति थी—

	लड़के	लड़कियाँ	योग
१-४-५९ को विचाराधीन मामले	४८७	२२५	७१२
वर्ष में विचार के लिए स्वीकृत मामले	६८६	२३३	९१९
वर्ष में मामले	७०९	२९४	१००३
३१ मार्च, ६० को विचाराधीन मामले	३६१	१६५	५२६

१ जून, १९५९ को बम्बई प्रदेश में १३,५७८ दण्डित तथा ५,८३५ विचाराधीन बन्दी थे जिनमें से ८४७ बाल-अपराधी थे। उसी दिन मैसूर में २७,५९० दण्डित तथा २४,७०७ विचाराधीन बन्दी थे जिनमें से ४७२ बाल-अपराधी थे। उड़ीसा में १२,७१२ दण्डित तथा १५,४७८ विचाराधीन बन्दी थे जिनमें से ४२० बाल-अपराधी थे। केरल में सन् १९५७ में १६,४८७ बन्दी थे जिनकी संख्या सन् १९५८ में २४,३६३ हो गयी। इनमें से बाल-अपराधियों की संख्या ३३२ से बढ़कर ६४८ हो गयी। उसी वर्ष आन्ध्र प्रदेश में ८३४ बाल-अपराधी जेलों में थे। पश्चिमी बंगाल में उसी वर्ष ८३,५५८ दण्डित तथा ५४,४८९ विचाराधीन बन्दी थे जिनमें से कुल ३९९५ बाल-अपराधी थे। मद्रास प्रदेश में बालक-बालिकाओं को जेल में नहीं रखते हैं। सन् १९५८ में कुछ प्रदेशों में दण्डितों की आबादी १,५१,१६८ थी। सन् १९५९ के आरम्भ में नीचे लिखी परिस्थिति थी—

प्रदेश	**जेलों में दण्डित व्यक्ति**
मध्य प्रदेश	५,१६३
दिल्ली	६,०७२
बम्बई	१३,५७८
पंजाब	१४,१४६
केरल	१५,९९४
मैसूर	२६,१७३
पश्चिमी बंगाल	६९,००२
उत्तर प्रदेश	६९,४४२
योग	२,१९,५७०

इन दण्डित बन्दियों में से बहुत से आदतन अपराधी भी थे। यदि उनको समुचित सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हुई होती तो वे जेल में नज़र न आते। हमने एक सरकारी रिपोर्ट में पढ़ा था कि एक बार से अधिक जेल जाने वालों की संख्या समूचे देश में सन् १९५० तथा १९५३ में क्रमशः ३,४४,८०४ तथा ३,७५,६०७ थी। इसमें जम्मू और काश्मीर तथा मध्यप्रदेश शामिल नहीं है। इन दुबारा जेल वालों में सन् १९५३ में ६,५४२ ऐसे व्यक्ति थे जिनको केवल इसलिए जेल जाना पड़ा कि वे अपने लिए ऐसी ज़मानत न दे सके, जिससे वे छूट जाते।

यदि सरकार तथा समाज द्वारा समुचित सुरक्षण का प्रबन्ध हो तो बहुत से लोग जेल जाने से बचाये जा सकते हैं। पश्चिमी बंगाल में सन् १९५८ में समूची प्रादेशिक जेल आबादी में ८,०५३ दुबारा जेल जाने वाले क़ैदी थे यानी

१८·०८ प्रतिशत । सन् १९५८ में यह संख्या घटकर २,८४८ यानी केवल ३·४० प्रतिशत हो गयी । उत्तर प्रदेश में जेल शासन में बहुत सुधार हुआ है और इसका परिणाम भी प्रकट है—आदतन अपराधियों की संख्या घटती जा रही है । उत्तर प्रदेश के कारागार विभाग के उप-संचालक के कथनानुसार (सन् १९६० में) उस प्रदेश में आदतन या दुबारा जेल जाने वाले अपराधियों की स्थिति इस प्रकार थी—

वर्ष	जेल में कुल दाखिला	आदतन अपराधी	समूची जेल आबादी में इनका प्रतिशत
१९३८	२८,०८५	५६६०	१६
१९३९	४६,७९३	५४८७	११
१९४०	३६,५८२	५७०२	१५
१९४१	५०,४४३	६१८१	१२
१९४२	३८,६९५	५५७४	१४
१९५३	६२,२२४	२९६७	५.०५
१९५६	५५,६६१	२६२८	५.०७
१९५७	५८,४०१	३२६९	५.६६
१९५८	६९,००२	२५९७	३·७३

समुचित सुरक्षा

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि यदि बन्दी के साथ समुचित व्यवहार हो, यदि उसके सुधार का प्रयत्न किया जाय तो आदतन जेल जाने वालों की संख्या काफ़ी कम होती जायगी । कुछ आदतन अपराधी समाज में हमेशा रहेंगे पर अधिकांश का सुधार समाज के हाथों में है । प्रथम अपराधी को भी दुबारा जेल यात्रा करने से रोकने के लिए आवश्यक है कि उसे अपराध की सज़ा भुगतने के बाद समुचित सामाजिक सुरक्षा का लाभ मिले, अवसर मिले । दण्ड-सुधारक के पास न इतना साधन है और न शक्ति है कि वह समाज की अपराधी प्रवृत्ति को रोक सके । पर वह एक काम कर सकता है । वह जेलों में बन्दी-सुधार कर सकता है । वह यह परामर्श दे सकता है कि बाल-अपराधियों के सुधार तथा उद्धार के लिए क़ानून बनाये जायँ । महाराष्ट्र प्रदेश में कई क़ानून बने हुए हैं, वे हैं—

१. बम्बई बाल नियम, १९४८ ।
२. सौराष्ट्र बाल नियम, १९५६ ।
३. हैदराबाद बाल नियम, १९५१ ।
४. सी० पी० और बरार बाल नियम, १९२८ ।

इन नियमों के अन्तर्गत क्रमशः १६, १८, १६ तथा १६ वर्ष के नीचे के बाल-अपराधी शासित होते हैं। बम्बई बाल नियम के अनुसार बाल-अपराधियों को ऐसी सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं—'घरों'—में रखा जा सकता है जहाँ पर उन्हें १८ वर्ष की उम्र तक रहना होगा। अन्य उपर्लिखित तीन क़ानूनों के अनुसार उनको क्रमशः २१, १८ तथा १६ वर्ष तक निगरानी में रखा जा सकता है।

गिरफ़्तारी के बाद बच्चों को 'रिमांड होम' में रखा जाता है ताकि उनके सम्बन्ध में, उनकी कठिनाइयों के सम्बन्ध में, परिवार, माता-पिता, परिस्थिति, वातावरण आदि सामाजिक सूचनाएँ प्राप्त की जा सकें। इन सूचनाओं को प्रोबेशन अफ़सर प्राप्त करता है और उसकी सिफ़ारिश पर बाल-अपराधी अदालतें उस मामले में अपना निर्णय देती हैं। ये अदालतें रिमांड होम में ही बैठती हैं। सप्ताह में एक या दो बार, जैसा काम हो। बम्बई नगर में इस कार्य के लिए पूरे समय के लिए एक वैतनिक मैजिस्ट्रेट है। महाराष्ट्र प्रदेश (बम्बई प्रदेश) में ३१ मार्च, १९५७ तथा १९५८ में बाल-अपराधियों के लिए नीचे लिखी संस्थाएँ थीं—

संस्थाएँ	संस्थाओं की संख्या		बाल-अपराधियों की संख्या			
	१९५७	१९५८	१९५७		१९५८	
			लड़के	लड़कियाँ	लड़के	लड़कियाँ
१. रिमांड होम्स	२७	३०	१६८३	२८५	१८४६	३१९
२. सर्टिफाइड स्कूल्स	३६	३७	२१५९	११६९	२३३४	११८०
३. योग्य व्यक्ति-संस्था	९३	९४	९२०	५६८	९८७	६२२
४. बाल-अदालतें	२८	३१	२०५३	४९२	२६२३	५७८
योग	१८४	१९२	६८१५	२५१४	७७९०	२६९९

पूना के रिमांड होम के इंचार्ज श्री जावेदकर का कहना है कि भारत में हम बाल-अपराधी से अधिक भिखमंगों पर ख़र्च करते हैं। फिर भी, अन्य देशों की तुलना में हमारे यहाँ बाल-अपराध कम हैं। कलकत्ता की पुलिस रिपोर्ट के अनुसार उस विशाल नगरी में सन् १९५७ में केवल २,४९२ लड़के-लड़कियाँ, जिनकी उम्र १६ वर्ष से कम थी, अपराधी पाये गये।

हम ग़रीब हैं, हमारे यहाँ सिनेमा, थियेटर, भयानक चित्र, गन्दे उपन्यास, तलाक़, माता-पिता की उपेक्षा—ये सभी अवगुण अभी कम हैं। पर हमको सावधान रहने की ज़रूरत है। लार्ड सैमुएल की बात याद रखने की है कि हरेक व्यक्ति को इस समस्या को सुलझाने में अपना योग देना चाहिए। क़ानून अपने भद्दे अस्त्र से काम ले, समाज अपनी विचारधारा से काम ले।

४

उत्तर-रक्षा और बाल-अपराध

जर्मन प्रोफेसर फ़ुर्स्टेनहीम ने २० वर्ष तक जर्मनी के बाल-अदालतों को औपचारिक मनोवैज्ञानिक परामर्श दिया है। अपनी समीक्षा में वे लिखते हैं कि "बालक-बालिका के विकास में कुछ ऐसी अज्ञात, छिपी हुई भावनाएँ होती हैं जो हानिकारक रूप धारण कर लेती हैं। जब बच्चे का विकास होने लगता है तो कोई अवांछनीय सामाजिक प्रभाव उसे कुमार्ग की ओर ले जाता है। बाल-अपराधी तीन श्रेणी में बाँटे जाते हैं—पहला उद्दण्ड, दूसरा लोभी, और तीसरा दुष्ट। जो बच्चे समाज में अधकचरे होने के कारण अपने को सन्तुलित नहीं कर पाते हैं, उनके सुधार के लिए बड़े धैर्य की ज़रूरत है। जो बच्चे समाज के नियमों का उल्लंघन करते रहते हैं उनको विशेष छात्रावासों में रखकर विशिष्ट प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। जिन बालक-बालिकाओं में वास्तविक सामाजिक दोष आ गया है, उनको विशेष अनुशासन में रखना चाहिए।"[१]

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सोशल कमीशन (समाज विभाग) ने मई, १९५५ के अपने अधिवेशन में अपराध-निरोध के कार्यक्रम में बाल-अपराध को प्रथम स्थान दिया था। कमीशन की सलाह पर, संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित प्रथम अपराध-निरोध सम्मेलन के लिए इस सम्बन्ध में एक रिपोर्ट तैयार की गयी थी। अपराध के अध्ययन तथा उपचार के लिए लन्दन में एक संस्था है। उसी ने चार भागों में यह रिपोर्ट तैयार करवायी है।[२]

उपर्लिखित रिपोर्ट में इस समस्या के दो पहलू रखे गये हैं—एक में "अपराध के पूर्व" तथा दूसरे में "अपराध के समय" की परिस्थिति है।

Furstenheim : "*Causes and Motives of Juvenile Delinquency*," Article in "World Mental Health", The Bulletin of World Federation of Mental Health, Vol. 6, No. 4, Dec. 1956.

The Prevention of Juvenile Delinquency and a Comparative Survey on Juvenile Delinquency, U.N.O. Publication, 1955.

अपराध के पूर्व कुछ ऐसी स्थिति होती है जिसमें रोकथाम नहीं की गयी तो अपराधी बनने में देर नहीं लगती। ज़्यादातर बच्चे इसी परिस्थिति में होते हैं। यदि उनके सम्बन्ध में जाँच होने और रोकथाम करने का साधन नहीं है तो समाज का बड़ा अकल्याण हो सकता है।

यूरोप-अमेरिका में ऐसी प्रारम्भिक श्रेणी में उपचार तथा चिकित्सा का काफ़ी प्रबन्ध है। उन देशों में अपराध करने के पूर्व की स्थिति में रोकथाम का क़ानूनी अधिकार नियमों में शामिल कर लिया गया है। पर भारत में अपराधी बालकों के लिए बहुत ही अधूरा प्रबन्ध है। अपराध के पूर्व की अपराधी प्रवृत्ति की ओर ध्यान कम है। "बाल-अपराध" की उम्र में भी देशों में अन्तर है। जर्मनी में १४ वर्ष की उम्र है। आस्ट्रिया में २०, भारत के कुछ भागों में जहाँ बाल-अपराध अधिनियम किसी रूप में लागू है, १५ वर्ष की उम्र मानी गयी है। जापान में २० वर्ष तक बाल-अपराधी समझा जाता है। भारत में नये प्रोबेशन ऐक्ट, १९५८ के अनुसार यह उम्र २१ वर्ष कर दी गयी है।

बाल-अपराधी की अधिकतम उम्र क्या हो, इस विषय में संयुक्त राष्ट्र-संघ तथा उच्च पुलिस अधिकारियों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने अपनी एक संयुक्त रिपोर्ट में लिखा है कि क़ानून हमेशा एक निश्चित सीमा तय कर लेना चाहता है किन्तु क़ानून के पास ऐसी आँखें नहीं हैं कि वह मानवीय प्रवृत्तियों में, सामाजिक स्थिति तथा वातावरण में भेद कर सके या समझ सके। लड़के-लड़कियों के अपराध के तौर-तरीक़े में अन्तर हो सकता है। पर, बाल-अपराध की समस्या को समझने वाले के लिए लिंग-भेद से काम नहीं चलेगा।

बाल और युवा के बीच

बचपन और जवानी के बीच की उम्र बड़ी ख़तरनाक होती है। इस उम्र में अभिभावकों को बड़ी सावधानी बरतने की ज़रूरत है। डा० इवांस का कथन है कि युवक तथा युवती के स्वस्थ मानसिक तथा सामाजिक विकास में अध्यापक, अभिभावक तथा समाज के अन्य नेताओं का बहुत बड़ा हाथ होना चाहिए।[१] और, इस सम्बन्ध में उदासीनता का परिणाम भयंकर हो रहा है। अधकचरे युवक-युवती अपराधी केवल अपने घर वालों को या स्कूल में ही नहीं परेशान करते, उनके द्वारा समाज में अनेक विषम समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पुराने ढंग के दण्ड से बाल तथा वयस्क, दोनों प्रकार के अपराधियों को लाभ नहीं होता है। समाज में यह चेतना जाग्रत हो रही है कि

---

[१] Luther H. Evans, Director General, United Nations Educational, Scientific, and Cultural Organisation (UNESCO).

इन पुराने तरीक़ों को छोड़ दिया जाय। समीक्षा करने पर पता चलता है कि अदालत से दण्डित अथवा न दण्डित अपराधियों या बच्चों के आचार-व्यवहार में ज़्यादा अन्तर नहीं पाया जाता।

डा० पीक और बेलस्मिथ ने अधकचरे युवक-युवतियों में अपराधी प्रवृत्ति की समीक्षा करते हुए लिखा है[१]—

"जब वे बच्चे थे तो उनको माता-पिता का वह दुलार नहीं प्राप्त हुआ, वह लाड़-प्यार नहीं मिला जो मिलना चाहिए था। दूसरे, उनको वैसा भोजन नहीं मिला था, वैसा निवास नहीं मिला जिससे उनके शरीर का संचरण ठीक से होता। इन चीज़ों में से यदि किसी चीज़ की भी कमी रही तो बच्चे का उचित विकास न होगा।"

३ से ६ वर्ष की उम्र के भीतर, यदि बच्चे को परिवार में वह सम्बन्ध-स्नेह-सौहार्द न प्राप्त हो जिसकी ज़रूरत है या यदि उसकी इस उम्र में परिवार में उपद्रव होता रहता है, माँ-बाप का झगड़ा, पति-पत्नी का परस्पर अविश्वास या दुराचार इत्यादि लगा रहता है तो उससे बच्चे के मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चा जब बड़ा होने लगता है और उस पर काफ़ी प्रतिबन्ध लगे रहते हैं, वह बिना अपने अभिभावकों के कुछ नहीं कर सकता, तो इसका बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके मन पर बुरा असर होता है। ऐसे अनुशासन में काफ़ी सावधानी बरतने की ज़रूरत है।

हमारे देश में बाल-अपराधियों की संख्या अन्य देशों के समान अधिक नहीं है, फिर भी भयास्पद है। बाल-अधिनियम के अन्तर्गत अपराधियों को शामिल कर लें तो सन् १९५६ में ७ से १२ वर्ष की उम्र के ७७६६ बाल-अपराधी थे जिनमें से ४७२५ अपराधी बाल अधिनियम के अन्तर्गत थे। वास्तव में अपराध करने वाले बच्चों की तादाद—७ से १२ वर्ष की उम्र में—१४४८ थी जिनमें हत्या, बलात्कार, डकैती, राहज़नी आदि के भी अपराध थे।

यदि बाल-अधिनियम के कारण बचपन में ही अपराधी प्रवृत्ति वाले बालकों की रोकथाम हो जाती है तो अधिक उम्र के बच्चों में अपराधी प्रवृत्ति रुक जाती है। सन् १९५६ में ७ से १२ वर्ष की उम्र के ४७२७ बच्चे पकड़े गये थे और १२-१७ वर्ष की उम्र के १५१० बच्चे पकड़े गये। एक बात और भी मार्क की है। बचपन में रोकथाम न करने से जवानी में अपराधी काफ़ी संख्या में बढ़ जाते हैं। सन् १९६० में "फुटकर अपराध"

[१] Dr. Harris B. Peak and Virginia Bellsmith : *Treatment of the Delinquent Adolescent* (Group and Individual Therapy with Parent and Child), Family Service Association of America, 1957, pp. 3-4 and 8-9.

करने वालों में १२६६ बच्चे १२ वर्ष से कम उम्र के थे, ५७११ बच्चे १२-१७ वर्ष के थे तथा १५,५६३ युवक १७ से २१ वर्ष के बीच में थे।

सन् १९४७ में २२ वर्ष से कम उम्र वाले २२,००० व्यक्तियों को सजा मिली थी। सन् १९५६ में यह संख्या ७७,००० हो गयी थी। सन् १९४७ में स्वराज्य हुआ था। सन् १९४८ में २२ वर्ष से कम उम्र के बाल-अपराधियों की संख्या ५२,००० हो गयी थी। एक वर्ष में ३०,००० की वृद्धि हुई थी। भारत सरकार की एक रिपोर्ट के अनुसार कतिपय कठोर अपराध करने वाले बाल-अपराधियों की संख्या—२२ वर्ष से कम उम्र की—सन् १९५३ में २९,७७४ थी तथा सन् १९५९ में ४६,९२५ थी।

हमारे देश में सन् १९५९ में कुल मिलाकर ४६,९२५ बाल-अपराधी—लड़के और लड़कियाँ—गिरफ़्तार हुए थे। जिन अपराधों के लिए सबसे अधिक बाल-अपराधी पकड़े गये थे उनमें भीख माँगना, रुपया उधार लेना, गाँजा, अफ़ीम आदि का सेवन, जुआ खेलना, गृह-विहीन, आवारागर्दी, वेश्यालयों में नौकरी आदि के अपराध थे।

सन् १९३७ से लेकर १९५६ तक २२ वर्ष की उम्र से कम उम्र के अपराधियों की संख्या नीचे दी जा रही है[1] :—

वर्ष	पुरुष	स्त्री	जो आँकड़े इसमें नहीं शामिल हैं
१९४७	२१,६००	७८९	
१९४८	५१,२७३	१२३६	
१९५०	६०,९६८	१३४६	जम्मू, काश्मीर व मध्य भारत
१९५३	६१,८९०	२३०९	पाँच छोटी रियासतों के
१९५४	६९,६८२	२५५२	आसाम, मध्य भारत तथा तीन छोटे राज्य
१९५५	६३,२३६	१७४७	आन्ध्र, मध्य प्रदेश तथा ५ छोटी रियासतें
१९५६	७४,७२१	२४५५	

"६ वर्ष की उम्र से आगे बढ़ने पर बच्चों को अधिक व्यापक क्षेत्र की आवश्यकता महसूस होती है। वह अपने मौजूदा वातावरण से आगे बढ़ना चाहता है। इसी समय वह शारीरिक, बौद्धिक तथा सामाजिक शक्तियों का संकलन करना चाहता है।"

इतनी समस्याएँ हैं बच्चों के विकास की। उनके सम्बन्ध में हम क्या करते हैं, इसी पर उनका भविष्य निर्भर करता है।

---

१ *The Indian Statistical Abstract*, Government of India, 1960, Table No. 70.

भारत में बाल-अपराधी

सन् १६४८-५४ के सात साल में हमारे देश में कुल ८४,००० बाल-अपराधी पकड़े गये थे। सन् १६४८ में १२,२६८ बाल-अपराधी पकड़े गये थे और सन् १६५४ में १६,७५७। सन् १६६१ में यह संख्या २०,००० से भी अधिक हो गयी थी। सन् १६४८-५४ के बीच में सबसे अधिक बाल-अपराधी बम्बई में पकड़े गये—समूचे देश का ४५·६ प्रतिशत यानी २३,१६८। मद्रास में १६,१४६, कलकत्ता नगर में ८,७४६—और हमारे देश के ये सबसे अधिक उन्नत तथा औद्योगिक प्रदेश हैं।

एक बात ध्यान में रखने की है। बाल-अपराधियों में भी बालिकाओं का औसत बढ़ता जा रहा है। सन् १६५१ में समूचे बाल-अपराधियों में जुआरी बालकों की संख्या २·६ प्रतिशत थी, कन्याएँ एक भी नहीं। सन् १६५५ में जुआरी लड़कियों की संख्या १·६६ प्रतिशत हो गयी और लड़कों की संख्या घटकर १·१६ प्रतिशत रह गयी।

बाल-अपराधी ज़्यादातर रेलवे का माल चुराने या बिना टिकट यात्रा करने में पकड़े जाते हैं। रेलवे स्टेशनों पर बाल-अपराधी चैन से शरण पा जाते हैं। इसलिए बाल-अपराधी के लिए रेलवे विभाग से काफ़ी सहायता मिलती है। बच्चों का नैतिक पतन कराने में नीचे लिखी चीज़ें विशेष कारण बन जाती हैं :—

१. सिनेमा और अश्लील साहित्य।

२. बुरे अध्यापक तथा स्कूलों में विनय तथा संयम का अभाव।

३. शराबखाने तथा जुआघर।

४. स्कूलों में छात्र-संख्या की अधिकता। स्कूलों में खेलकूद के लिए भूमि का अभाव तथा नगरों में मनोरंजन तथा खेलकूद के साधनों का अभाव।

बहुत से कारण मिलकर अपराधी प्रवृत्ति बनती है। ऐसी अपराधी प्रवृत्ति के लिए दुर्बल-मन जल्दी शिकार बन जाता है। इसलिए ऊपर लिखे कारणों में से कोई कारण उत्पन्न हो जाने पर दुर्बल मन वाला बालक या बालिका अपराधी बन सकते हैं। साधारण स्वस्थ बालक को अपराध की बीमारी देर में लग सकती है।

भारत में प्रदेशीय क़ानून

बाल-अपराधियों के सम्बन्ध में भारत के प्रदेशों में दो क़ानून हैं। एक क़ानून बच्चों को सामाजिक कुरीतियों में पड़ने से रोकता है तथा अपराध करने वालों के साथ सरकारी व्यवहार निश्चित करता है। इस प्रकार के क़ानून जिसमें

अपराधी प्रवृत्ति तथा अपराधी दोनों का निदान और विधान है, "सम्पूर्ण बाल-अधिनियम" कहा जायगा। दूसरी श्रेणी में वे नियम हैं जिनके द्वारा केवल कुछ श्रेणी के बाल-अपराधियों के दण्ड या चिकित्सा की व्यवस्था है। इसे आंशिक विधान कहते हैं।

प्रथम श्रेणी के नियम महाराष्ट्र, मद्रास, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र, केरल तथा मैसूर में लागू हैं। दिल्ली में भी यह नियम लागू है। पंजाब का सन् १९४९ का बाल-अधिनियम, उत्तर प्रदेश का सन् १९५१ तथा सन् १९५२ का बाल-अधिनियम और गुजरात में सौराष्ट्र का सन् १९५५ का बाल-अधिनियम अभी ठीक से कार्यान्वित नहीं हो सका है।

दूसरी श्रेणी में जो नियम आते हैं उनमें आसाम, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में लागू "तम्बाक़ू सेवन अधिनियम", मद्रास का "अनैतिक व्यापार अधिनियम", सौराष्ट्र, पटियाला तथा कुछ पूर्वी पंजाबी रियासतों में पहले से प्रचलित बाल-मजदूर अधिनियम उल्लेखनीय हैं। ऐसा ही क़ानून सन् १९५८ का अखिल भारतीय प्रोबेशन ऐक्ट है। कुछ प्रदेशीय प्रोबेशन ऐक्ट ऐसे भी हैं जो कतिपय अपराधों पर प्रोबेशन अफ़सर की निगरानी में अपराधी को प्रोबेशन पर छोड़ने के सम्बन्ध में हैं। इन क़ानूनों के द्वारा भी आंशिक सेवा होती है। कोड़े से मारने का दण्ड देने का क़ानून कुछ प्रदेशों में है जिसके अनुसार जेल न भेजकर कोड़े लगा दिये जाते हैं। रिफ़ार्मेटरी (सुधारक) स्कूल तथा बोर्स्टल स्कूल का क़ानून भी द्वितीय श्रेणी में आता है।

प्रथम अपराध पर प्रोबेशन पर छोड़ने का नियम उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मद्रास, गुजरात तथा बिहार में लागू है। सुधारक स्कूल में (रिफ़ार्मेटरी स्कूल ऐक्ट) तथा बोर्स्टल स्कूल ऐक्ट आसाम, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, मैसूर, गुजरात तथा राजस्थान में लागू हैं। अब भारत सरकार ने सन् १९५८ का प्रोबेशन ऐक्ट सभी प्रदेशों में लागू कर दिया है। पर, उसकी रूपरेखा अभी सब जगह कार्यरूप में परिणत नहीं हुई है।

बाल-अपराधियों के लिए

भारतीय दण्ड-विधान की धारा ८२ सभी प्रदेशों में लागू है। इसके अनुसार ७ वर्ष के नीचे के बच्चों को किसी जरायम के लिए क़ानूनन दोषी नहीं माना जाता है। धारा ८३ के अनुसार यह रियायत या छूट १२ वर्ष तक की उम्र के लिए दी जा सकती है। पर यह तभी सम्भव है जब यह स्पष्ट हो जाय या साबित हो जाय कि अपराधी बालक या बालिका इतने नासमझ थे कि

उन्हें अपनी ग़लती का अनुमान नहीं था। कुछ प्रदेशों में यही रियायत २१ वर्ष तक की उम्र के लिए कर दी जाती है। उत्तर प्रदेश में ऐसी रियायत १५ वर्ष तक की उम्र के लिए; आसाम, महाराष्ट्र तथा दिल्ली में १६ वर्ष तक के लिए और बिहार में २० वर्ष तक की उम्र के लिए हो सकती है। अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूहों में यह रियायत २२ वर्ष तक की उम्र के लिए लागू है।

आमतौर पर, बाल-अपराधियों को दो श्रेणियों में बाँट दिया गया है। प्रथम श्रेणी में ७ से १३ या १५ या १६ वर्ष तक उनको बाल-अपराधी कहते हैं तथा इस उम्र से लेकर २१-२२ वर्ष तक की उम्र के बीच के अपराधियों को युवक अपराधी कहते हैं।

बाल-अदालतें

महाराष्ट्र, मद्रास, पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र तथा दिल्ली में बाल-अदालतें हैं। महाराष्ट्र प्रदेश में सबसे अधिक बाल-अदालतें है। उनकी संख्या वहाँ २२ है। बम्बई, शोलापुर, पंढरपुर, नासिक, मनमाड, पूना, सतारा, सूरत में बाल-अदालतें हैं। गुजरात में भी अहमदाबाद, श्रीरामपुर, संगमनेर, जम्मूसर तथा बड़ोच में बाल-अदालतें हैं। पश्चिमी बंगाल में कलकत्ता तथा हावड़ा में बाल-अदालतें हैं। मद्रास में कोयम्बटूर, त्रिचनापल्ली तथा बेलोर में हैं। दिल्ली तथा हैदराबाद में भी बाल-अदालतें हैं। जिन प्रदेशों में बाल-अदालतों की रचना होने का आदेश हो चुका है पर बाल-अदालतें नहीं क़ायम हैं वहाँ यह कार्य फ़ौजदारी अदालतें करती हैं।

बाल-अदालतों में प्रायः एक वैतनिक मैजिस्ट्रेट होता है। पुरुष या स्त्री कोई हो सकता है। उसके साथ ऐसी अदालत में एक या दो अवैतनिक महिला मैजिस्ट्रेट, पुलिस का एक पैरोकार, एक कर्णिक (क्लर्क) या पेशकार और एक आरक्षण अधिकारी यानी प्रोबेशन अफ़सर होते हैं। वैतनिक मजिस्ट्रेट ही बाल-अदालत का मुख्य विचारपति होता है। यदि अवैतनिक मैजिस्ट्रेटों में मतभेद हो तो वैतनिक मैजिस्ट्रेट का निर्णय मान्य होगा। पुलिस का पैरोकार बाल-अपराधी के विरुद्ध मामला पेश करता है। आरक्षण अधिकारी यानी प्रोबेशन अफसर उस अपराधी के बारे में सामाजिक अनुसंधान करता है। सामाजिक कारणों की खोज करता है। अदालत का पेशकार मुक़द्दमे की फ़ाइल तैयार करता है।

यदि अवैतनिक मैजिस्ट्रेट कचहरी न भी आवे, तब भी वैतनिक मैजिस्ट्रेट मुक़द्दमा कर सकता है। बम्बई नगर में एक वैतनिक महिला मैजिस्ट्रेट है और

वह अन्य किसी अदालत में नहीं बैठती। बम्बई की बाल-अदालत में एक योग्य वैतनिक महिला मैजिस्ट्रेट है जो और अदालतों के मैजिस्ट्रेटों की तरह ही एक मैजिस्ट्रेट है, पर उसके ज़िम्मे केवल बाल-अदालत का काम कर दिया गया है। हैदराबाद की बाल-अदालत में भी एक वैतनिक महिला मैजिस्ट्रेट हैं। सन् १९४९ से मद्रास की बाल-अदालत में एक अवैतनिक महिला मैजिस्ट्रेट मुख्य अधिकारी हैं। उत्तर प्रदेश में तीन ज़िलों में अवैतनिक मैजिस्ट्रेट हैं।

बाल-अधिनियम और उसकी विधि

बाल-अधिनियम जिन प्रदेशों में लागू हैं, वे प्रायः एक समान हैं। बम्बई के बाल-अधिनियम को ही सामने रखकर इन्हें बनाया गया है। मूलतः बाल-अधिनियम के तीन अंश होते हैं—

१. एक अंश में अनाथ, परित्यक्त या अभिभावकों की उदासीनता के शिकार बच्चों को सरकारी संरक्षण, देख-रेख तथा नियन्त्रण में लेने का अधिकार समाहित है।

२. दूसरे अंश में बच्चों के प्रति बालिगों के अपराधों का निरूपण है।

३. तीसरे अंश में बाल-अपराधियों की चिकित्सा की व्यवस्था है।

सम्पूर्ण अधिनियम के द्वारा "उद्दण्ड" तथा "दूसरों के द्वारा पीड़ित" बच्चों के संरक्षण तथा चिकित्सा का प्रबन्ध है।

इसी अधिनियम के अन्तर्गत बाल-अपराधी अदालतों की कार्य-प्रणाली, अपराधी की सामाजिक जानकारी, अदालत को अदालती वातावरण से दूर रखने के तरीक़े, बच्चों के अपराधों के सम्बन्ध में सम्वाद या सूचना न प्रकाशित होना तथा मुक़द्दमे की सुनवाई के समय अपराधी के माता-पिता या अभिभावकों की उपस्थिति इत्यादि बातों की रीति-नीति बतलायी गयी है।

आरक्षण अथवा प्रोबेशन

ऊपर हमने आरक्षण या प्रोबेशन का बार-बार ज़िक्र किया है। प्रोबेशन के द्वारा बच्चों का कितना कल्याण होता है, इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश तथा मद्रास के आँकड़े काफ़ी रोचक हैं।

उत्तर प्रदेश में "प्रथम अपराधी प्रोबेशन ऐक्ट", अक्टूबर १९३९ से प्रदेश के सात ज़िलों में लागू हुआ—आगरा, इलाहाबाद, वाराणसी, बरेली, कानपुर, लखनऊ और मेरठ। अब यह तीस ज़िलों में लागू है (सन् १९६१ में)। इस क़ानून के अनुसार २४ वर्ष की उम्र से नीचे के प्रथम अपराधी को प्रोबेशन (आरक्षण) पर छोड़ा जा सकता है।

इस नियम के द्वारा सन् १९६१ तक का कार्य-विवरण देखिए—

वर्ष	वर्ष के प्रारम्भ में प्रोबेशनरों की संख्या	वर्ष के भीतर जितने प्रोबेशनर भर्ती हुए	वर्ष में कितने आरक्षितों को सफलता के साथ पुनर्वासित किया गया	वर्ष के अंत में कितने प्रोबेशनर हाथ में थे
१ अक्टू०'३९ से जून '५० तक	१२२	१४५	१२	२४५
१९५४	९७०	८५५	७२९	९९१
१९५५	९९१	१४१३	७११	१५९८
१९५६	१५९८	१३४२	११०३	१७४१
१९५७	१७४१	१३७२	१३४९	१६४५
१९५८	१६४५	१५९२	१३४३	१८१९
१९५९	१८१९	२३४५	१३२४	२६२६
१९६०	२६२६	२२१५	१९६४	२६७०
१९६१	२६७०	२५४२	२०७०	२९९६

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि हर साल लगभग २००० प्रोबेशनर यानी आरक्षित बाल-अपराधियों का पुनर्वास हो रहा है। अपराधी के सुधार के लिए प्रोबेशन की प्रथा सबसे सस्ती, सबसे अच्छी तथा मानव के लिए कल्याण-कर समझी जाती है।

मद्रास प्रदेश के १३ ज़िलों में सन् १९६० में २५३ दण्डित अपराधी प्रोबेशन अफ़सरों की निगरानी में छोड़े गये थे। सन् १९६१ में २९३ की संख्या थी। मद्रास प्रदेश में प्रोबेशन अफ़सरों ने दण्डित तथा दण्ड के पूर्व अपराधियों के विषय में सन् १९६० में १५,१३० तथा सन् १९६१ में १६,१८१ जाँच-पड़ताल की तथा क्रमश: २०,३२१ तथा २४,९२८ बार इनसे भेंट की, बातचीत की। इन दो वर्षों में प्रोबेशन पर छूटे हुए सब प्रकार के अपराधियों की संख्या क्रमश: ५,९५३ तथा ४,७९० थी। दुराचार-निरोधक अधिनियम (१९५६) के अन्तर्गत सन् १९६१ में ६७ लड़कियों पर जाँच रिपोर्ट दी गयी और १३ लड़कियों को निगरानी में लिया गया। ३५८ छूटे हुए क़ैदियों ने अपने पुनर्वास के लिए प्रोबेशन अफ़सरों से सहायता ली (१९६१ में) और उनमें १३९ को नौकरी दिलायी गयी, २९ घरेलू झगड़े निपटाये गये, १६ को उनका पुराना काम वापस दिलाया गया, ४१ को अस्थायी काम दिलाया गया, इत्यादि।[1]

[1] Administration Report of the Probation Deptt., Madras, 1962.

पिछले दस साल से बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के समाज-शास्त्र-विभाग के तत्वावधान में मानसिक चिकित्सा के लिए एक प्रयोगशाला खोली गयी है। इसमें मनोविज्ञान के चार पण्डित कार्य कर रहे हैं। इस प्रयोगशाला में मनोविज्ञान-चिकित्सकों को शिक्षा भी दी जाती है। अप्रैल, १९६२ में इसकी जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसमें कतिपय महत्व-पूर्ण बातें मालूम हुई हैं। आधुनिक सभ्यता की भाग-दौड़ में मानव-स्वभाव पहले की अपेक्षा अधिक विकृत होता जा रहा है। जुलाई १९५२ में इस संस्था की स्थापना हुई थी। उस समय से लेकर सन् १९६१ के प्रारम्भ तक २२६४ मरीज़ों की चिकित्सा हुई थी। वर्ष के अन्त में मरीज़ों की संख्या २४९८ हो गयी थी यानी सन् १९६१-६२ में २३५ मरीज़ नये दाखिल हुए। इन २३५ नये केसों में से ७१ प्रतिशत बालिग़ थे, बाकी नाबालिग़ थे। इन २३५ नये रोगियों में से बालिग़ (वयस्क) मरीज़ १६९ थे जिनमें ६९ स्त्रियाँ थीं। ६६ बच्चे थे जिनमें ५५ लड़के और ११ लड़कियाँ थीं। ९ बच्चे ऐसे थे जिनकी मनोविकृति का कारण उनकी निजी आदतों का बिगड़ जाना था। केवल १ लड़का पागल था। १८ लड़के तथा १ लड़की को मानसिक दुर्बलता का रोग था। अधिकांश मरीज़ों की बीमारी थी नींद न आना, काम में मन न लगना, घर से भाग जाना, बेतुकी बातें करना, इत्यादि। अधिकांश बच्चों की बीमारी का कारण यही मालूम होता है कि परिवार की लापरवाही से उनकी आदतें ख़राब हो जाती हैं। यदि इस प्रयोगशाला में इनकी चिकित्सा न हुई होती तो वे बच्चे जेल में ही सड़ते होते। इसलिए चिकित्सा ही मुख्य वस्तु है, दण्ड से लाभ नहीं होगा।[1]

अपराध एक ऐसी चीज़ है जिसकी तह में अनेक कारण हो सकते हैं। इसीलिए इटली के दण्ड-विधान में सन् १९३० से, पोलैण्ड के दण्ड-विधान में सन् १९३२ से तथा जर्मनी के दण्ड-विधान में सन् १९३३ से इस बात पर कम ध्यान दिया जाता है कि अपराध का कार्य कैसा था, इस पर अधिक ध्यान दिया जाता है कि अपराधी की प्रवृत्ति तथा भावना कैसी है। स्विट्ज़रलैण्ड के दण्ड-विधान में सन् १९३७ में एक संशोधन के अनुसार "अपराध की ओर झुकाव या असंयमित जीवन तथा आलसी जीवन" को भी अपराध की श्रेणी में रखा है। स्वीडन के सन् १९४५ के दण्ड-विधान के अनुसार दण्ड से न डरने वाले या न सुधरने वाले को भी अपराधी माना है।

[1] *Annual Report of the Mental Hygiene and Psychiatric Clinic,* University of Baroda, No. 10, April 1962.

बाल-अपराधियों के लिए संस्थाएँ

बाल-अपराधी के सुधार-कार्य के लिए सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं का होना ज़रूरी है; कठोरता न हो तथा दण्ड का रूप सुधारात्मक हो।[1]

सुधारात्मक रूप के लिए सुधारात्मक संस्थाओं का होना ज़रूरी है। हमारे देश में ऐसी संस्थाएँ इनी-गिनी हैं। कुछ सार्वजनिक तथा धार्मिक संस्थाओं ने इधर ध्यान दिया है। किन्हीं संस्थाओं में सरकार के प्रतिनिधि सदस्य के रूप में उनकी कमेटियों में हैं। कुछ को केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। उत्तर प्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, बिहार तथा दिल्ली में ऐसी संस्थाएँ हैं। अब प्रादेशिक सरकारों का ध्यान इधर गया है और वे बोर्स्टल स्कूल, औद्योगिक स्कूल, अनाथालय, बाल-अपराधियों का पृथक् जेल, बाल-सुधार-गृह इत्यादि खोल रही हैं।

हमारे देश में कुछ सामाजिक संस्थाओं का तथा बाल-अदालतों का घनिष्ठ सम्बन्ध क़ायम हो गया है। बम्बई तथा मद्रास की बाल-सहायक-समितियाँ इसकी उदाहरण हैं। महाराष्ट्र में ऐसी सामाजिक संस्थाओं तथा अदालतों का परस्पर सम्बन्ध काफ़ी अच्छा है। दोनों एक दूसरे से लाभान्वित होते हैं। मद्रास, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में प्रोबेशन विभाग पूर्णत: सरकार के आधीन है। पश्चिमी बंगाल में पुरुप बाल-अपराधियों के लिए पृथक् 'गृह' हैं।

बाल-अपराधियों की चिकित्सा

बाल अधिनियम के अनुसार यदि जाँच के बाद अदालत को विश्वास हो जाता है कि अपराधी के सुधार की आवश्यकता है तो उसे ऐसे कार्य के उपयुक्त सरकार द्वारा स्वीकृत संस्था में भेज दिया जाता है। उसे नज़रबन्द या बन्दी-गृह में रखने के अतिरिक्त अदालत नीचे लिखे निर्णय भी दे सकती हैं :—

१. चेतावनी देकर छोड़ देना।

२. अपराधी को निगरानी पर छोड़ देना। ज़मानत देने पर माता-पिता या किसी अभिभावक की निगरानी में रख देना।

३. यदि अपराधी १४ वर्ष का है तथा जुर्माना करने की गुञ्जायश है, तो यह दण्ड भी दिया जा सकता है।

४. अदालत उसे अपनी इच्छानुसार किसी की निगरानी में सौंप दें।

५. प्रोबेशन (आरक्षण) पर प्रोबेशन अफ़सर की निगरानी में छोड़ देना।

६. यदि अपराधी की उम्र १४ साल से कम है तो अभिभावकों से जुर्माना वसूल करना।

---

[1] *The Journal of Criminal Science*, Vol. II, London, Macmillan & Co., 1950, p. 78.

बाल-अदालतों को निर्णय करने में अपराधी की स्थिति, जाति, योनि, पहले का इतिहास, उस नगर में प्राप्य सुधार के साधन, सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। इसीलिए हर प्रदेश में बाल-अपराधियों के लिए एक ही प्रकार की चिकित्सा नहीं हो पाती क्योंकि सब के साधन समान नहीं हैं, सब की आर्थिक दशा समान नहीं है।

यों, आमतौर पर हमारे देश में बाल-अपराधियों को जेल, सुधार-गृह या बोर्स्टल संस्थाओं में रखते हैं। बालक-बालिकाओं के लिए साधारण जेलों से पृथक् जेल बहुत कम जगहों में हैं। केवल उनको अलग वार्डों में रख दिया जाता है। सुधार-गृह, औद्योगिक गृह, बोर्स्टल आदि में तीन से लेकर पाँच वर्ष तक के अपराधी रखे जाते हैं। वहीं उनकी शिक्षा का प्रबन्ध भी रहता है। वहाँ से छूटने के बाद ये बालक प्रोबेशन अफ़सर अथवा उत्तर-रक्षा-गृह की निगरानी में या फिर अभिभावकों की निगरानी में सौंप दिये जाते हैं।

उत्तर-रक्षा

महाराष्ट्र प्रदेश के पुराने बाल-अधिनियम सन् १९४८ के क़ानून की धारा ९७-९८ के अनुसार प्रदेश सरकार ऊपर लिखी संस्थाओं में बालक-बालिका को एक संस्था से दूसरी में भेज सकती है या सज़ा की अवधि के पूर्व निगरानी पर छोड़ सकती है। मद्रास तथा महाराष्ट्र प्रदेश में ऐसी बाल-संस्थाओं के मुख्य अधिकारी[1] का निर्णय ही इस विषय में मान्य होगा। रिहाई के लिए बन्दी-काल में अपराधी का व्यवहार बड़ा महत्व रखता है। यदि सुधार रहा, व्यवहार ठीक रहा तो सज़ा की दो-तिहाई भोगने पर ज़मानत या निगरानी पर रिहाई हो जाती है, पर सज़ा की मियाद तक निगरानी लागू रहती है।

सन् १८९७ के रिफ़ार्मेटरी स्कूल्स (सुधार-गृह) क़ानून की धारा १४ के अनुसार ऐसी संस्थाओं से सुधरे हुए बच्चों को या तो सज़ा समाप्त हो जाय या १८ वर्ष की उम्र हो जाय, उनका सुधार हो जाय या न्यायालय द्वारा अपील स्वीकार होने पर ही छोड़ा जा सकता है। यदि बाल-अपराधी बालिग़ों के जेल में है तो अच्छे चाल-चलन तथा व्यवहार पर उसे विशेष छूट दी जाती है।

गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास तथा किसी अंश तक बिहार और उत्तर प्रदेश में छूटने के बाद यानी उत्तर-रक्षा का प्रबन्ध है। महाराष्ट्र तथा मद्रास में काफ़ी वर्षों से इसका अच्छा प्रबन्ध है। बम्बई नगर में दो और गुजरात में तीन सुसंगठित उत्तर-रक्षा-गृह हैं। महाराष्ट्र में पूना, हुबली, शोलापुर, बीजापुर तथा बेलगाँव में उत्तर-रक्षा-गृह हैं। ये सभी ग़ैर-सरकारी हैं पर सरकार द्वारा पोषित

[1] Chief Inspector of Certified Schools.

संस्थाएँ हैं। उत्तर प्रदेश में बालकों के लिए दो उत्तर-रक्षा-गृह सरकार चलाती है, पर उनमें से एक तोड़ दिया गया है तथा दूसरा सन् १९६२ में समाप्त हुआ है। मद्रास की बाल-सहायक-समिति द्वारा सुधार-गृहों से छूटे हुए बालक-बालिकाओं की भी निगरानी होती है। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में सरकारी प्रोवेशन अफ़सर निगरानी का काम करते हैं। मध्य प्रदेश में डिप्टी कमिश्नर की आज्ञानुसार तीन वर्ष तक निगरानी हो सकती है। जहाँ पर बालिग़ों के जेल में बच्चे भी रखे जाते हैं, वहाँ पर प्रायः निगरानी पर छोड़ने का नियम नहीं होता। हाँ, बालिगों के समान बच्चों को भी छूटने पर ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ कहीं-कहीं उनके उत्तर-रक्षा का प्रबन्ध रखती हैं।

अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति

हमारे देश में एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की संस्था है जिसका नाम है अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति। अपने ढंग की यह एकमात्र संस्था हमारे देश में है। सन् १९५० में इसकी स्थापना हुई थी। दण्ड-सुधार, दण्ड-विधान सुधार, अपराधी की चिकित्सा, बाल-अपराधी की समस्या, प्रचलित नियमों में सुधार आदि के लिए यह संस्था सतत् प्रयत्नशील है और सभी प्रदेशों को पुलिस तथा जेल के मामलों में यह परामर्श देती है। अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति को केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारें, संसार की प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस तथा जेल-संस्था तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के समाज-सेवा विभाग द्वारा मान्यता प्राप्त है।

बाल-अपराध की रोकथाम के लिए यह संस्था बहुत काम कर रही है। लखनऊ में इसका एक प्रगति आश्रम है जिसमें अपराधी कहे जाने वाली जातियों के १२५ बच्चे रखे जाते हैं। बारह वर्ष की उम्र तक उनको बहुत अच्छी शिक्षा, दस्तकारी की शिक्षा, व्यायाम, संयम तथा शिष्टाचार की शिक्षा दी जाती है। अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति बाल-अपराध तथा वयस्क-अपराध दोनों को रोकने के लिए अत्यधिक क्रियाशील है। बिना साधन या समुचित सरकारी सहायता के अपने मार्ग पर अग्रसर होना बड़े साहस का काम है। अभी हाल में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस रिव्यू में फ्रांस की पुलिस के कमिश्नर श्री बैरुइन ने इस संस्था की बड़ी प्रशंसा की है।[1]

[1] M. Baroin, Commissioner, Security Police, France, in *International Police Review*, Paris, No. 53, March-April 1962, pp. 49-52.

५

प्राणि-शास्त्र तथा अपराध-शास्त्र

प्राणि-शास्त्र बहुत उन्नत विज्ञान है। इस शास्त्र के द्वारा हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि समूचे प्राणि-जगत में क्या विभिन्नता है और आज के मानव का विकास किस प्रकार से और किन-किन विभिन्न श्रेणियों द्वारा हुआ है। आज के मानव में और इतिहास-काल के प्रारम्भ के मानव में यदि तुलना की जाय तो काफ़ी अन्तर पाया जायगा। मानव-जगत की प्रत्येक बात, शारीरिक तथा मानसिक दशा की जाँच-पड़ताल करने के कारण प्राणि-शास्त्र के पण्डित यह भी दावा करने लगे हैं कि वे मनुष्य में अपराधी प्रवृत्तियों के कारण की भी जानकारी रखते हैं और यदि कोई आदमी चोर, डाकू या हत्यारा निकलता है तो उसके अपराधी बनने का कारण प्राणि-शास्त्र द्वारा जाना जा सकता है। पर अपराध-शास्त्री का कहना है कि उनका शास्त्र उन सामाजिक तथा व्यक्तिगत कारणों की समीक्षा करता है जिनके द्वारा अपराधी के दुश्चरित्र की परख की जाती है। अपराध-शास्त्री के अनुसार अपराध की समूची समस्या और उसका मानव से सम्बन्ध जानने के लिए इतिहास, अपराध-शास्त्र, मनोविज्ञान, प्राणि-शास्त्र और कर्तव्य-शास्त्र, सबसे सहायता लेना आवश्यक होता है।

प्राणि-शास्त्र अकेले ही मनुष्य की मानसिक दुर्बलताओं को न तो समझ सकता है, न उन्हें हल कर सकता है। मानव के विकास के लिए भूगोल का सहारा लेना होगा। प्राणि-जगत के सांस्कृतिक विकास की ओर भी ध्यान रखना होगा। इसके अलावा भिन्न देशों तथा भिन्न काल के मनुष्यों के बारे में पूरी जानकारी हासिल करनी होगी। यह पता लगाना होगा कि कौन-सी जाति का और किस संस्कृति में पला हुआ वह मनुष्य है और उसकी आदतें और उसका स्वभाव कैसा है।

किसी भी मनुष्य के साथ बहुत-सी बातें जानकारी के लिए आवश्यक होती हैं। यह देखना होगा कि वह कैसे वातावरण में रहा है, वहाँ की भौगोलिक

परिस्थिति क्या है, किस जाति में वह पैदा हुआ है, उसकी मानसिक और शारीरिक विशेषता क्या है, उस जाति वालों के शरीर-गठन में कौन-सी ख़ासियत है—जैसे सिर ज़्यादा बड़ा है कि पैर, नाक छोटी है कि चपटी, और उस जाति के लोग अपनी बुद्धिमानी के लिए प्रसिद्ध हैं या जड़ता के लिए। इन सब चीज़ों की जानकारी प्राणि-शास्त्र के द्वारा ही हो सकती है। पर अपराध-शास्त्र के पण्डितों का कहना है कि इन सब चीज़ों को जानने से अपराधी-जगत की जानकारी में कोई लाभ नहीं होगा। मानव-जीवन के विकास के सिद्धान्त से तथा अपराध और अपराधी के सिद्धान्त के विकास में विशेष सम्वन्ध नहीं है।

हज़ारों वर्ष पूर्व एक यूनानी दार्शनिक आंज़ीमांडर ने सबसे पहले प्राणि-शास्त्र की कल्पना की थी। पश्चिमी जगत में वे पहले प्राणि-शास्त्री थे। उनके बाद सैकड़ों वर्षों तक बिरले ही किसी ने इस ओर ध्यान दिया था। फिर भी छुटपुट एक-दो वैज्ञानिक प्राणि-शास्त्र के विषय में कुछ न कुछ सोच लिया करते थे। १९वीं सदी में पश्चिमी संसार इस विषय में एकाएक जाग उठा। मानव-जीवन के हर पहलू के विषय में वह एकाएक जिज्ञासु बन गया। डार्विन के द्वारा बन्दर और वनमानुष को हमारा पूर्वज प्रमाणित करने के काफ़ी पहले ही इस बात का अटूट प्रमाण मिल गया था कि भारत और मिस्र की अति प्राचीन सभ्यता के भी कई लाख वर्ष पहले संसार में ऐसा आदमी था जो गुफाओं में रहा करता था और गुफाओं में रहने वाले भालू का सम-कालीन था।

प्राणि-विज्ञान इसी मनुष्य के विकास का इतिहास ढूँढ़ निकालने का काम करता है। इसके द्वारा हम यह पता लगाते हैं कि किस प्रकार आबोहवा की ताक़त आदमी को गुफा से बाहर खींच लायी, क़ुदरत की विचित्रताएँ तथा प्रकृति की परिवर्तनशीलता के कारण आदमी को एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकना पड़ा और भोजन तथा पानी की समस्या उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को भागते रहने के लिए मजबूर करती रही। इसके अलावा एक ही गुफा में वहुत से आदमी रहा करते थे। जव इनकी तादाद वढ़ी तो जो मज़वूत थे वे तो गुफा पर कब्ज़ा किये बैठे रहे और जो कमज़ोर थे उनको वहाँ से निकाल दिया गया। यह घटना लाखों वर्ष पहले हुई होगी, जिस समय पृथ्वी की रचना में एकाएक बहुत ही बड़े परिवर्तन हुए। जहाँ ज़मीन थी वहाँ पानी निकल आया और जहाँ हरियाली थी वहाँ गहरी बर्फ़ जम गयी। शायद उसी समय आदमी ने नौका बनाना सीखा होगा और अपनी इन छोटी तथा बेतुकी नौकाओं द्वारा सुदूर स्थानों तक भी वह पहुँच गया होगा। किन्तु, पृथ्वी के उस भौगोलिक परिवर्तन की कहानी बहुत ही पुरानी हो गयी है। एक ऐसा समय ज़रूर रहा होगा जब अमेरिका का उत्तरी-पूर्वी एशिया से भूमि द्वारा सम्बन्ध था। ऐसा भी

रहा होगा जब मालटा की ओर से अफ्रीका और यूरोप का भूमि से सम्बन्ध रहा हो। किन्तु, अतीत काल की यह बातें केवल कल्पना के गर्भ में हैं। हम उनका केवल अनुमान लगा लेते हैं। जिस समय से मानव-जाति के इतिहास का कुछ भी पता लगता है, तथा जिस युग को हम इतिहासकालीन युग कहते हैं, उस युग से आज तक विश्व के मानचित्र में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। हिमालय की ऊँचाई, विंध्याचल का विस्तार, सहारा का रेगिस्तान, रूसी नदी वोलगा का प्रवाह ज्यों का त्यों है। इसलिए आवश्यकता मालूम नहीं हुई कि हम वर्तमान मानव-जीवन तथा उसके मनोविज्ञान के लिए लाखों साल पहले की बात का अध्ययन करें। इससे अब कोई लाभ नहीं होगा।

सभ्यता और संस्कृति का विकास

इस समय तो हमें जितना मालूम है या जितना हम अनुमान लगा सके हैं, वह केवल इतना ही है कि मनुष्य ने लाखों साल पहले अपना-अपना स्थान छोड़कर ऐसे स्थानों की तलाश में यात्रा प्रारम्भ की जहाँ उसे शारीरिक कष्ट कम हो तथा वर्षा के अभाव के कारण जंगली फल-फूल सूखते न हों। वह आदिपुरुष किसी व्यापारिक भावना से अपने स्थान से नहीं हटा। उसे तो केवल सूखा पड़ने वाले स्थानों से या अत्यधिक डरावने स्थानों से जान बचानी थी। जब वह मनुष्य अपने स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान की तलाश में चला होगा उसके साथ सभी साथी रहे होंगे। जानवरों के गिरोह की तरह या ढोर की तरह उसने भी अपना ढोर या गिरोह बना लिया होगा। साथ-साथ यात्रा करने के कारण इन गिरोहों के आदमियों में एक दूसरे की बातचीत को समझने के लिए इशारे भी बन गये होंगे जिनका मतलब सब लोग समझ जायँ। इन "आमफ़हम" इशारों के बाद "आमफ़हम" ज़बान भी बनी होगी। इनके रहन-सहन में भी समानता पैदा होने लगी होगी और इस प्रकार रहन-सहन, समान बोल-चाल और समान इशारों वाले गिरोह की अपनी जाति बन गयी होगी और उस जाति में उत्पन्न होने वाले दूसरी जाति में उत्पन्न होने वालों से भिन्न हो गये होंगे।

धीरे-धीरे एक गिरोह में रहने वालों की एक भाषा, एक आदत और एक ही विचार-प्रणाली बन गयी होगी। इनकी बुद्धि का विकास एक ही दिशा में हुआ होगा। एक के मन की भावना दूसरे के मन को प्रभावित करने लगी होगी और इस प्रकार मस्तिष्क के विकास और उससे उत्पन्न जानकारी का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ा होगा। यहीं से संस्कार और संस्कृति का जन्म होता है। एक ही गिरोह में रहने वाले व्यक्तियों की प्रतिभा तथा बुद्धि समान दिशा में प्रगति करती है और उनकी विचारधारा भी एक ही ढंग से बढ़ती है।

सामाजिक जीवन में एक जाति तथा एक समाज में रहने वालों की भावनाएँ तथा महत्वाकांक्षाएँ उस जाति तथा समाज के साथ-साथ मानव इतिहास में भी अपना बहुत महत्व रखती हैं। प्राकृतिक कारणों से कई जातियों यानी गिरोहों में जब सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा, परस्पर मेल-जोल बढ़ा होगा तो एक दूसरे की विचारधारा तथा संस्कृति में भी आदान-प्रदान हुआ होगा। इसी को हम क्रमागत सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। प्राचीन काल में जातिगत वैमनस्य तथा वैर-विरोध बहुत अधिक रहा होगा पर आज भी उन्नत सभ्यता अनुन्नत संस्कृति यानी पिछड़ी हुई संस्कृति वाले देशों के साथ वैसा ही व्यवहार कर रही है। जंगली जातियों में भी जो जाति अधिक उन्नति पर होती है वह अपने से हेय तथा दुर्बल जातियों को नष्ट कर देती है। आधुनिक सभ्यता में जिसकी सभ्यता अधिक ऊँची होती है वह अन्य सभ्यता वालों को नष्ट कर देता है। आज हम जिसको आधुनिक सभ्यता कहते हैं, उसके विकास में अनगिनत प्राणियों का संहार, अनगिनत जातियों का विनाश और अनगिनत छोटी-मोटी पिछड़ी सभ्यताओं का पतन सम्मिलित है।

यह जानकर क्या होगा कि पुराने ज़माने के लोगों का सर कितना ऊँचा होता था और अक़्ल कैसी होती थी। प्राणि-शास्त्र ने भिन्न-भिन्न जातियों के खोपड़ों की लम्बाई और चौड़ाई को नापकर जो हिसाब लगाया है उसकी जानकारी से भी कोई लाभ नहीं होगा। हमारे शरीर की जैसी रचना है उसे देखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि खोपड़ों की लम्बाई-चौड़ाई में विभिन्नता के कारण भिन्न जातियों का आभास भले ही मिल जाय पर मानसिक तथा बौद्धिक विकास में कोई विशेष परिवर्तन नहीं मालूम होगा। अगर आदमी का सर लम्बा ज़्यादा और चौड़ा कम है तो उससे साफ़ यह पता चल सकता है कि उसके माता-पिता ने बचपन में उसको पीठ के बल लेटने की बजाय करवट से लेटने की आदत डाली थी। अगर किसी का सर गोल और सुदृढ़ है तो सिर्फ़ इतना ही ज्ञात होगा कि बच्चा पीठ के बल सोता था। इस लम्बाई या गोलाई से यह जानकारी नहीं हो सकती कि उनके माता-पिता की बुद्धिमत्ता में क्या अन्तर था। वैज्ञानिकों ने इस बात की चेष्टा की कि भिन्न प्रकार के खोपड़े के भीतर मस्तिष्क में भिन्नता तथा वज़न का अन्दाज़ लगाया जाय, जिससे यह मालूम पड़ सके कि किस और कैसे खोपड़े के भीतर कैसा दिमाग़ रहता होगा और उसका विकास कैसा होता होगा। बहुत परिश्रम करने के बाद यह पता चला कि किसी खोपड़े की लम्बाई या ऊँचाई से यह कहना कठिन है कि उसके भीतर किसी बुद्धिमान व्यक्ति का मस्तिष्क है या मूर्ख का। खोपड़े या सर की बनावट से यह कहना असम्भव है कि उसका मालिक

महापण्डित निकलेगा या महा-मूर्ख । शरीर की रचना से बुद्धि की रचना का अनुमान लगाना विज्ञान के बूते की बात नहीं है ।

नैतिक महत्व

प्राणि-शास्त्र जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है उनसे हमारा क्या कल्याण होगा, यह सोचना कुछ कठिन नहीं है । यदि प्रोफ़ेसर नोयलपेटन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि किसानों का बच्चा शहरी बच्चों से अधिक जल्दी बढ़ता है और होशियार होता है या यदि प्रोफ़ेसर रुडोल्फ मारटिन्स इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जर्मनी के बच्चे लड़ाई के ज़माने की तुलना में शान्ति के ज़माने में अधिक जल्दी बढ़ते हैं, या यदि डाक्टर शुबसाल हमें यह बतला देते हैं कि किस प्रकार की विभिन्न शारीरिक रचनाएँ होती हैं और भिन्न देश और भिन्न जाति में ख़ास-ख़ास बीमारियाँ होती हैं तो इनसे अपराध-शास्त्र के जानने में कोई सहायता नहीं मिलती । डाक्टर बैरी और पोरटियस ने आस्ट्रेलिया महाद्वीप में ६००० बच्चों की परीक्षा की । इसमें ६० बच्चे वहीं की जंगली जातियों के थे । इस परीक्षा से उन्हें यह पता चला कि १३ वर्ष की उम्र के औसतन बच्चे के दिमाग़ का वज़न १३५२ क्यूबिक सेन्टीमीटर है और उसी उम्र के दोषपूर्ण मस्तिष्क रखने वाले बच्चों का वज़न सिर्फ १२९२ क्यूबिक सेन्टीमीटर है । उन्होंने यह भी अन्दाज़ लगा लिया कि २० वर्ष की उम्र के अपराधी युवकों के दिमाग़ का वज़न १३४४ क्यूबिक सेन्टीमीटर होता है और उसी उम्र के साधारण तथा अच्छे युवकों के मस्तिष्क का वज़न १४८३ क्यूबिक सेन्टी-मीटर होता है । पर इस वज़न के जानने से हमारा क्या फ़ायदा हुआ । संसार में किसी देश की सरकार के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक बच्चे के दिमाग़ की माप-तौल करे और पता लगाये कि अपराधी प्रवृत्ति वाले बच्चों के दिमाग़ का क्या वज़न है और अच्छी प्रवृत्ति वाले बच्चों का क्या वज़न है । इसके अलावा हर देश के निवासियों की अलग माप-तौल होगी । अतएव कोई निश्चित तथा स्टैन्डर्ड मापदण्ड नहीं निर्धारित किया जायगा । एक दूसरी बात यह भी कही जाती है कि अपराधी प्रवृत्ति वालों का मस्तिष्क विशेष प्रकार का होता है और उनका चेहरा भी विशेष प्रकार का होता है । यह भी कहा जाता है कि वंश और सर के गठन का अपराध से बहुत घना सम्बन्ध है । ८५ वर्ष से अधिक हो गये जब इटली के डा० लोमब्रोज़ो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि विशेष प्रकार की लम्बाई और चौड़ाई वाली नाक या ललाट अपराधी प्रवृत्ति के द्योतक हैं । सन् १८३५ में इसी सम्बन्ध में अध्ययन करने के बाद क्वैतेलेते ने भी ऐसा ही कुछ हिसाब-किताब बैठाया था । बरटिलान ने भी स्वभावतः अपराध करने वालों के विषय में ऐसा ही लेख

लिखा था किन्तु यह सब सिद्धान्त अमेरिका में नये अनुसंधान के बाद रद्द हो गये। पेनसिलवानिया के विश्वविद्यालय में इस विषय में काफ़ी छानबीन की गयी। प्रथम महायुद्ध के समय अमेरिका में जब सिपाहियों की भरती की जाने लगी तो उनकी जाँच ऊपर लिखे ढंग से हुई। उसके बाद जब उसी पहली लड़ाई में जर्मन युद्धबन्दी अमेरिका लाये गये तो उनकी प्रवृत्तियों की समीक्षा की गयी। ऐसी समीक्षा सन् १६०८–६ में जापान के प्रोफ़ेसर कोगानेई ने चीनी सिपाहियों के ऊपर की थी। ब्रिटेन के प्रोफ़ेसर पारसंस ने जर्मन सिपाहियों के ऊपर सन् १६१८ में यही प्रयोग आरम्भ किया था। सन् १६१६ में आस्ट्रेलिया की सरकार ने रूसी सिपाहियों पर ऐसा ही प्रयोग किया था और उन सब प्रयोगों का परिणाम यह निकला कि किसी देश, जाति तथा विशिष्ट शारीरिक रचना के द्वारा नैतिक चरित्र तथा अपराधी-प्रवृत्ति का अनुमान लगाना अनुचित, अनावश्यक, दोषपूर्ण तथा भ्रमपूर्ण है।

मुख की आकृति से

इस संसार में रहने वाले नर-नारियों में जितनी अधिक विभिन्नता है उतनी पशुओं में नहीं है। हर देश के आदमियों के शरीर के रंग में, सर और ललाट के माप में तथा नाक की बनावट में काफ़ी अन्तर होता है। एक ही प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र में रहने वालों के रहन-सहन और रचना में समानता होती है। ऐसी समानता वाले व्यक्तियों को एक जाति का प्राणी कहते हैं। यह तो हमें भली प्रकार विदित है कि बीते हुए युग के मनुष्य कभी एक स्थान पर जमकर नहीं रहे। प्राचीन काल के मनुष्य अपनी रक्षा के लिए तथा अपने पशुओं के भोजन के लिए नये चरागाहों की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान भटका करते थे। सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से उन्हें अपनी आदि-भूमि को छोड़कर दूसरी भूमि पर जाकर बसना पड़ता था और या तो लड़ कर या बिना लड़े ही वे नयी भूमि के स्वामी बन जाते थे। इस प्रकार जब भिन्न जाति के लोग एक स्थान में रहने लगे और आपस में मेल-जोल बढ़ने लगा तो अन्तर-विवाह भी होने लगे। इन अन्तर-विवाहों का परिणाम यह हुआ कि माता और पिता की जाति की पृथक् विशेषताएँ बच्चे में आने लगीं। यदि उसे माता की नाक मिलती तो पिता के ढंग का लम्बा शरीर या गोल मुँह इत्यादि। यह तो पता लगा लेना सरल है कि बच्चे की नाक किस जाति के प्रभाव का द्योतक है और लड़के की लम्बाई या चौड़ाई किस जाति वाले की विशेषता है पर कई जाति तथा सम्मिश्रित जातियों के कारण मानव-प्रवृत्ति का निश्चय करना कठिन है। यों कहने के लिए तो यह भी कहा जाता है कि संसार में तीन मुख्य जातियाँ हैं—(१) यूरेशियन, (२) नीग्रो, तथा (३) मंगोल, और

इन्हीं के सम्मिश्रण से अन्य जातियाँ बनी हैं। आर्य तथा अनार्य इन दो मुख्य जातियों से ही वर्तमान संसार भरा पड़ा है। पर जातिगत विशेषताओं से लाभ क्या होगा ? मान लीजिए कि चेहरे की लम्बाई या नाक की लम्बाई या सर के गठन का निश्चित पता लग भी गया, आँख और चमड़े के रंग का भी हमने अलग ख़ाक़ा तैयार कर लिया, पर इससे लाभ क्या होगा ? विचारणीय प्रश्न तो यही है।

हम भारतीयों की अति प्राचीन सभ्यता हज़ारों वर्ष पहले की है। हमारे पास लिखित इतिहास वर्तमान है। हज़ारों वर्षों में हमारे देश पर बार-बार बाहरी हमले होते रहे और भिन्न देश और जाति के व्यक्ति यहाँ आकर बसते चले गये। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि भारत के आदि-निवासी नीग्रो जाति के थे। उनका रंग काला था। बाल बहुत घने और घुँघराले होते थे। बहुत मोटे-मोटे होंठ होते थे। क़द के नाटे और भद्दे होते थे। ऐसी आकृति का आदमी अब हमारे देश की भूमि पर नहीं दिखायी देता। हमारे पड़ोस में अंडमान के टापू में ऐसे आदमी मौजूद हैं। इस जाति के बाद एक दूसरी जाति आयी जिसको पश्चिमी विद्वान आस्ट्रोलायड कहते हैं। इनकी संतान अब भी छोटा नागपुर में मिलती है और उन्हें द्रविड़ कहते हैं। इन दोनों जातियों के बाद भारत की भूमि पर आर्य आये। इनका रंग साफ़ था, क़द लम्बा था, लम्बी और पतली नाक थी, सर लम्बा ज़्यादा और चौड़ा कम था, इत्यादि। इन आर्य लोगों ने सिन्धु से गंगा तक की भूमि पर आधिपत्य जमा लिया और यहाँ के मूल निवासियों को दक्षिण में और छोटा नागपुर के जंगलों और पर्वतों में खदेड़ दिया। आर्यों के बाद हमारे देश में यूनानियों का, हूणों का, तारतारों का और मंगोलों का आक्रमण होता रहा। वे यहाँ आते रहे और बसते गये। बाहर से आने वाले सभी, केवल मंगोलों को छोड़कर, उत्तर से आये थे। मंगोल उत्तर-पूरब से हमारे देश में आये थे। इनका रंग पीला था। इनका माथा बहुत छोटा था। नाक चपटी और छोटी थी और क़द भी काफ़ी छोटा था। हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि हमारे देश की सभी जातियाँ तथा निवासी आर्य, द्रविड़ तथा मंगोल जाति के मिश्रण तथा सम्मिश्रण के परिणाम हैं। सीमान्त प्रदेश तथा पंजाब और काश्मीर में अधिकांशत: आर्य—ईरानी जातियों की संतानें हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बम्बई इत्यादि में रहने वाले आर्य और द्रविड़ की संतति हैं। बंगाल, आसाम, नैपाल, भूटान और उड़ीसा के निवासी मंगोल, आर्य तथा द्रविड़ जातियों के सम्मिश्रण हैं।

ऊपर हमने जातियों के सम्मिश्रण की जो बातें लिखी हैं वे पश्चिमी विद्वानों की कही हुई बातें हैं। अनेक भारतीय विचारकों का मत है कि उत्तरी भाग में शुद्ध आर्य रहते हैं तथा दक्षिणी भाग के अनेक भागों में आर्य तथा द्रविड़ों

का सम्मिश्रण है। जो हो, इन सम्मिश्रणों के कारण यह कह देना नितान्त असम्भव है कि अमुक नाक वाला या अमुक कान वाला या आँख वाला चोर या सच्चरित्र होगा। जिसका सर चौड़ा होगा वह विद्वान ही होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता।

कुछ समय पूर्व की बात है कि ब्रिटिश शासन के समय भारत सरकार के प्राणि-शास्त्र-विभाग के प्रधान सर हर्बर्ट रिजले ने उत्तरी भारत की अनेक जातियों के लोगों की नाकों को तौला और उनकी परीक्षा की। इसके साथ ही उन्होंने उनके खोपड़े की भी नाप-तौल की। यह सब हिसाब लगाने के बाद सर हर्बर्ट ने यह सिद्धान्त निकाला कि नाप की लम्बाई और चौड़ाई से जो हिसाब निकलता है, उसको देखते हुए जिसका अंक जितना ही कम होगा वह उतनी ही ऊँची तथा प्रतिष्ठित जाति का होगा। इस प्रकार सबसे ऊँची जाति वाले यानी ब्राह्मण की नाक का अंक पचहत्तर या छिहत्तर बना था। कुछ ही समय में यह मालूम हो गया कि सर हर्बर्ट ने जो हिसाब लगाया है वह ग़लत है। उनकी पहली भूल तो यह थी कि वे समझते थे कि प्राचीन भारत में अन्तर-जातीय विवाह की प्रथा पहले थी ही नहीं यानी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय में विवाह बिलकुल नहीं होता था। बात बिलकुल उलटी थी। जाति-पाँति का जितना झगड़ा हम आज देखते हैं उतना पुराने ज़माने में कदापि नहीं था। प्राचीन सिद्धान्त था कि स्वर्ण और कन्या किसी की भी प्राप्त की जा सकती है। इसलिए यह सोचना कि आज का ब्राह्मण सतयुग से ही चले आने वाले शुद्ध ब्राह्मणों के परिवार की संतान है, बड़ा कठिन है। जाति-पाँति की प्रथा का अत्यधिक संकुचित रूप हमारे पराधीनता-काल में पनपा था।

अपराधी जाति

हमारे देश में ऐसी भी बहुत सी जातियाँ हैं जिनका पेशा केवल अपराध करना ही समझा जाता है। जिस प्रकार बढ़ई या लोहार का बच्चा अपने पिता से बढ़ईगीरी या लोहारगीरी सीखता है और माँ के पेट से यह हुनर लेकर पैदा होता है, उसी प्रकार अपराधी जाति के बच्चे भी अपने माता-पिता से अपराध की कला लेकर जन्म लेते हैं। यह दक़ियानूसी तथा मूर्खतापूर्ण विचार अब भी बहुतों में पाया जाता है। प्राणि-शास्त्र के पण्डितों का विचार था कि यदि अपराधी जातियों के शरीर की रचना की नाप-तौल की जाय तो पता लग जायगा कि किस प्रकार के नाक, कान, आँख वाले लोग अपराधी होते हैं। पर इस प्रकार के हिसाब लगाने वाले पहली भूल तो यह कर गये कि उन्होंने यह सोचा कि अपराधी जाति अपनी विशेष जाति क़ायम रखती है। इन अपराधियों में बच्चों को भगा ले जाने की प्रवृत्ति होती है। ये न जाने कहाँ से लड़कियों को चुरा

लाया करते थे और उनसे विवाह कर लेते थे। इसके अलावा, पुराने ज़माने में अपराध करने वाला अपनी जाति तथा समाज से निकाल दिये जाने के कारण ऐसे ही गिरोह में शामिल हो जाता था। इस जाति में वेश्यावृत्ति की प्रथा है और इनकी कन्यायें अन्य जातियों के पुरुषों के संसर्ग में प्राय: आती रहती हैं तथा उनकी सन्तान किस जाति की है, यह कहना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा। फिर भी उनके बारे में जो नाप-तौल हुई उसका परिणाम नीचे देखिए :

अपराधी जातियों का नाम	खोपड़ा का अंक	नाक का अंक	औसतन शारीरिक ऊँचाई
डोम	७३·७९	७५·७	१६६·५३ से.मी.
हबूड़ा	७३·७१	७१·२९	१६४·९१
भन्तू	७८·४३	६८·४६	१६३·१३

हिन्दुस्तान की पुरानी जातियों में डोम बहुत प्रसिद्ध है। ये क़द के छोटे होते हैं। इनकी नाक लम्बी होती हैं और रंग बिलकुल काला होता है। भन्तू और हबूड़ा की नाकें सुडौल और लम्बी होती हैं। ऊपर लिखे हुए अंकों को देखने से पता चलता है कि यदि सबसे ऊँची जाति वाले यानी ब्राह्मण की नाक का अंक ७५, ७६ मान लिया गया है और डोम का अंक ७५·७ होता है तो उसमें और ब्राह्मणों में क्या अन्तर होता है ? जब नाक के अंक में ही अन्तर नहीं हुआ तो स्पष्ट हो गया कि इनकी मनोवृत्तियों में शारीरिक रचना के कारण कोई अंतर मान लेना एक अपराध होगा। इसलिए यह कहना कि विशेष रूप-रंग में अपराधी प्रवृत्ति रहती है, नितान्त भ्रमपूर्ण है।

प्राणि-शास्त्र की आवश्यकता

अतएव समाज के विकास का सिद्धान्त दण्डशास्त्र में रुचि रखने वालों के लिए किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। एक ज़माना वह भी था जब कोई निश्चित नैतिक शिक्षा लोगों को नहीं मिलती थी। समान उद्देश्य से काम करने की भावना विकसित नहीं हुई थी। आज की तुलना में आर्थिक आवश्यकताएँ बहुत भिन्न थीं। हर जाति और गिरोह के अपने पृथक् त्यौहार थे और सामाजिक तथा धार्मिक रीतियाँ थीं। पापुआ द्वीप के निवासियों के लिए तब तक विवाह के लिए पत्नी मिलनी असम्भव थी जब तक वह अपनी भावी पत्नी के सामने किसी नन्हें बच्चे का मुलायम सर काट कर भेंट न कर दे। अफ्रीका के कुछ भागों में किसी भी धार्मिक क्रिया या सामाजिक पर्व को तभी पूरा माना जाता था जब उस अवसर पर किसी नन्हें बच्चे की बलि दे दी जाती थी। पर अब ज़माना बदल गया है। अब हम अपने को सभ्य कहते हैं किन्तु जहाँ तक अपराध का सम्बन्ध है हमारा

नित्यप्रति पतन होता चला जा रहा है। इतिहास-काल के पूर्व के मनुष्य और आज के मनुष्य में इस सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं है। कहने के लिए हम कृष्ण, बुद्ध या ईसा के अनुयायी हैं। हमारी धार्मिक भावना के विकास का बड़ा विस्तृत और रोचक इतिहास है। आज हम जिस धर्म के अनुयायी समझे जाते हैं उसके आधार पर प्रेम का सिद्धान्त मिला हुआ समझा जाता है, यानी आज मानवता व आपस में प्रेम का होना अधिक आवश्यक समझा जाता है। मध्य-युग में धर्म न्याय की वस्तु थी। इसकी नाप-जोख न्याय के द्वारा होती थी। इसीलिए उस युग में धर्म के नाम पर तरह-तरह के सामाजिक अत्याचार हुए। हर एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर पाशविक अत्याचार करना धार्मिक कर्तव्य समझता था। सभ्यता के आदि-काल में प्राकृतिक महान् शक्तियाँ ही उपासना की आधार थीं। लोग मेघों के देवता इन्द्र, जल के देवता वरुण, प्रकाश के देवता सूर्य आदि की उपासना किया करते थे। दैवी शक्तियों की उपासना करना ही उनका सहारा था। परिश्रम तथा चेष्टा गौण वस्तु थी। इसलिए हम आदि-युग तथा मध्य-युग के लोगों को अनुन्नत तथा अधकचरा समझते हैं। आज हमको अपनी बुद्धि और अपने धर्म पर अभिमान है। हमारा धर्म हमें सत्य, कर्तव्य तथा सच्चाई की शिक्षा देता है। पहले अपराधियों को बड़ी बेरहमी से दण्ड दिया जाता था। हर अपराध का फल प्राणदण्ड हुआ करता था। प्राणदण्ड के बड़े बेरहम तरीक़े थे। यह सब असभ्यता की बातें रही हों, पर हमारे अपढ़, अज्ञानी, भाग्य पर निर्भर रहने वाले, निर्दयी तथा धर्म को भली प्रकार न समझने वाले पूर्वजों में आज की तुलना में एक प्रतिशत भी अपराध नहीं होते थे। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जा रही है, प्रेम के धर्म के पुजारी एक दूसरे के गले पर अधिक तेज़ छुरी लेकर तैयार रहते हैं और आचरण इतना गिरता जा रहा है कि अपराधी और बढ़ते हुए अपराधों की क़िस्मों की तादाद निकालना कठिन हो रहा है। इसलिए यदि अपराध-शास्त्र का विद्यार्थी आज अपराध की समस्या पर विचार करने बैठे तो वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि अपराध-शास्त्र एक ऐसी वस्तु है जिसका पुराने प्राणियों के अनुसंधान से तथा प्राणि-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्राचीन भारत की विचारधारा

हमें इस बात का दावा है कि संसार में सबसे अधिक प्राचीन सभ्यता हमारी है। भारतीय सभ्यता को ही यह गौरव प्राप्त है कि वह करोड़ों प्राणियों का नियन्त्रण करती रही है और आज भी कर रही है। उसका तार कभी टूटा नहीं। पश्चिमी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि हमारे रामायण और महा-भारत उस युग के द्योतक हैं जब हम अपनी सभ्यता तथा वैभव की चरम सीमा

को पहुँच चुके थे। पर वे विद्वान् हमारे वेदों को ५ हज़ार वर्ष से अधिक पुराना नहीं मानते और उनके कथनानुसार रामायण तथा महाभारत हमारी ३००० वर्ष पूर्व की सभ्यता का परिचय देते हैं।

गीता महाभारत का ही एक अंग है। भगवान कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन के सामने सम्पूर्ण दर्शन का जो महान् निष्कर्ष रख दिया था, वही गीता है और विश्व के सभी लिखित तथा अलिखित ग्रन्थ, वेद, पुराण, बाइबिल आदि का शिरमौर है। इसी गीता में ऐसे श्लोक हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि प्राचीन भारत में वसंत ऋतु नवम्बर के महीने में पड़ती थी। गणित-ज्योतिष के अनुसार यह समय आज के १०,००० वर्ष पहले का होगा। इसी प्रकार वेदों में कई स्थानों में भी वर्णन मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि वर्ष में एक दिन ऐसा भी होता था जब सूर्य की गति क्रमशः धीमी पड़ जाती थी और धीमी होते-होते कृतिका राशि में आकर सूर्य एकदम गतिविहीन हो जाता था। इस राशि से निकलने के बाद ही वह उत्तर की ओर बढ़ना शुरू करता था और जैसे-जैसे उत्तर की ओर बढ़ता जाता था, उसकी गति में तीव्रता आती जाती थी। गणित-ज्योतिष के अनुसार यह घटना १७ हज़ार वर्ष पहले हुई थी। अतएव पश्चिमी विद्वानों का जो भी मत हो यह निश्चित है कि हमारे देश के निर्माता १७ हज़ार वर्ष पहले की घटना से परिचित थे।

इतने पुराने काल के हमारे वेद, तदुपरान्त महाभारत और रामायण में भी अपराध-शास्त्र की मीमांसा मिलती है। यही नहीं, पुराणों में भी इसका काफ़ी वर्णन मिलता है। सब ने एक मत होकर यह भी लिखा है कि मन ही प्रत्येक पाप का घर है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।"

पापी मन किसी विशेष प्रकार के मानव को प्राप्त नहीं होता। उच्चतम कुल में उत्पन्न होने वाले महान् पातकी हो सकते हैं और निम्नतम कुल में उत्पन्न होने वाले अत्यन्त प्रतिभाशाली और सदाचारी हो सकते हैं। अच्छा मन तथा अच्छी विद्या या अच्छी धार्मिक शिक्षा, वातावरण तथा पूर्व-जन्म के संस्कारों पर निर्भर करती है।

मानव-जीवन के विकास तथा सृष्टि के विकास का सिद्धान्त सबसे पहले हमारे वेदों के द्वारा प्रतिपादित हुआ था। वैदिक मत है कि जड़ आत्मा यानी सबसे पहले जीव की जड़ता को दूर करने के लिए, ईश्वर के प्राकृतिक नियमों में एक विशेष प्रणाली से काम लिया गया। आत्मा पहले पहाड़ों में आयी। उसे अपने इतर और किसी वस्तु का ज्ञान नहीं था। भूकम्प से अथवा समुद्र की तरंगों की टक्कर से तथा अनेक कार्यों से जड़ आत्मा को पीड़ा का अनुभव हुआ और उसने अपनी सत्ता में अपने से अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता का भी आभास प्राप्त किया।

सम्भवतः सृष्टि की रचना में अपनी सत्ता का यह प्रथम पाठ जीवात्मा को मिला। इसके बाद जीवात्मा ने शाक-सब्जी का शरीर धारण किया। जानवरों या आदमियों के पेट में जाने से उसे जो पीड़ा हुई होगी उसने उसकी जड़ता को और भी दूर किया होगा। इसके बाद पशु-योनि प्राप्त हुई होगी। सब के बाद मानव-शरीर धारण करता है। जितनी ही अच्छी शिक्षा तथा जितना ही अच्छा कर्म इस ज़माने में होगा उतना ही अच्छा जन्म मृत्यु के बाद प्राप्त होगा। जीवात्मा का विकास अनन्त काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। पत्थर, नदी, नाला हरेक में जीव है, हरेक में प्राण है और समूची सृष्टि कर्मों के फल से बनी हुई है। वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है कि पर्वत में तथा पेड़-पत्तों में भी जीव है। हमने हज़ारों वर्ष पहले इस सिद्धान्त को अपनाया था और ८४ लाख योनि में जीव के भटकने की पौराणिक कल्पना उत्पन्न की थी। एक ही माता-पिता की सन्तान दो बच्चों में से एक साधु निकलता है और दूसरा भयंकर हत्यारा। हमारे लिए मन ही बुरे तथा भले कार्यों का कारण होता है। हमारा मत है कि यही मन बुरे तथा भले कार्यों की ओर एक ही जीवन में प्रवृत्त नहीं होता बल्कि अनेक जीवन के विकास का फल होता है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम आधुनिक सभ्यता के युग में अपनी आध्यात्मिक सत्ता को न भूलें, बचपन से ही सामाजिक तथा धार्मिक शिक्षा में समन्वय करके बालकों को सदाचार की ओर प्रवृत्त करें। इन्हीं बातों को हज़ारों वर्ष पूर्व हमारे महात्माओं ने धार्मिक ग्रन्थों में भर दिया है। मन की उसी महत्ता को आज दूसरे शब्दों में टैन्सले, फ्रायड आदि ने प्रतिपादित किया है। नये ज़माने में हम नये आदमी की बातों को सुनते हैं, हम अपने पुराने ज़माने के कपिल, कणादादि को भूल गये हैं।

अपराध है क्या ?

इस अध्याय में हम अपराध-शास्त्र की समीक्षा नहीं करना चाहते। हमने यह साबित कर दिया है कि यह सिद्धान्त ग़लत है कि अपराध करने वाले के शरीर की किसी ख़ास क़िस्म की रचना होती है। यह सत्य है कि पश्चिमी देशों के लिए सन् १७७६ तक अपराध-शास्त्र के जन्मदाता फ्रांसिस जोजफ़, गाल और लामब्रोज़ो के प्रारम्भिक कार्य थे। फिर बक्कारिया, रोमिली और बेनथम ने इस शास्त्र को विज्ञान का पूरा जामा ही पहना दिया और आज तो इस दिशा में हज़ारों पण्डित मनोवैज्ञानिक तथा हमारे कार्यकर्ता लगे हुए हैं और नयी-नयी खोजें होती जा रही हैं।

इस संसार में कभी भी कोई जाति अपराधी नहीं थी। मानव के इतिहास में कभी भी ऐसी कोई जाति नहीं थी। अपराधी प्रकृति, चाहे वह ऐन्द्रिक

भोग-लिप्सा ही क्यों न हो, अनेक व्यक्तियों के साथ स्वाभाविक हो जाती है। किन्तु यह सब वातावरण तो परिस्थिति का परिणाम होता है। आर्थिक कारणों से भी अपराध बहुत पैदा होते हैं। आज से ५ सौ वर्ष पहले की तुलना में इस समय कई गुना अधिक अपराध होता है। इसका कारण आर्थिक विषमता तथा असमानता भी है।

इस शताब्दि के प्रारम्भ से ही मनोविज्ञान ने दोषपूर्ण मस्तिष्कों की खोज शुरू की। धीरे-धीरे हरेक अपराधी के मन की जाँच-पड़ताल मनोवैज्ञानिक वस्तु हो गयी और फिर तो यह साबित हो गया कि शरीर की रचना से और मन की रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपराधी की हर प्रकार से परीक्षा और समीक्षा होनी चाहिए। उसके शरीर के भीतर अनेक दोष हो सकते हैं। उसके मन में रोग का उपाय दण्ड नहीं है, चिकित्सा है। उसकी आत्मा में जो दोष-दूषण मालूम होता है वह एक छाया के समान है। उस छाया को हटा देने से निर्दोष आत्मा पुनः निखर आयगी। आदमी एक है और परमात्मा भी एक ही है। संसार में सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, भिन्न शरीर केवल प्रतिबिम्ब मात्र है। आकाश में जैसे एक चन्द्रमा होता है परन्तु समुद्र की लहरों में करोड़ों चन्द्रमा दिखायी पड़ते हैं वैसे ही इस सांसारिक भ्रम-जाल में एक आत्मा करोड़ों रूप में दिखायी पड़ रही है। मनुष्य सुख के पीछे भागा जा रहा है और अनंत सुख की ओर भागते-भागते सांसारिक सुख में फँस गया है। हरेक काम सुख के लिए होता है। अपराध भी सुख की प्राप्ति के लिए ही होता है। अपराधी चोरी करके या डाका डालकर केवल अपने को सुखी करने का उपाय कर रहा है, जो अनुचित है। यदि उसे मालूम हो जाय कि इन उपायों से वास्तविक सुख नहीं मिलता और दुःख होता है तो एक समय ऐसा आयगा कि वही अपराधी सुख के लिए अपराध करना छोड़ देगा। सुख के लिए तो हम सब पागल हैं और हमारे इस पागलपन को देखकर, जिसके कारण हम वास्तविक सुख से हट कर संसार के छोटे-मोटे सुखों में फँस जाते हैं, हमारे महापुरुषों ने हमें यह उपदेश दिया था कि सबसे बड़ा सुख है सुख की भावना तथा आकांक्षा का परित्याग। उन्होंने कहा था कि सबसे बड़ा सुख है वैराग्य। किन्तु इतनी ऊँची बात का समझना ज़रा कठिन है। हम यह तो समझ ही सकते हैं कि आज सुख के पीछे भागती हुई दुनिया कितनी दुःखी होती जा रही है। जब तक हम आन्तरिक सुख को भली-भाँति नहीं पहचानेंगे तब तक न तो हमारा कल्याण होगा और न समाज का। सुख की असली व्यवस्था और असली पहचान से ही अपराध तथा अपराधी की संख्या में कमी की जा सकती है।

६

काम-वासना के अपराध

सन् १७३५ में इटली में एक महान् अपराधशास्त्री ने जन्म लिया था। सन् १७६५ में उनकी मृत्यु हुई थी। उनका नाम था बक्कारिया। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपराध को एक सामाजिक समस्या तथा सामाजिक रोग के रूप में पहचाना था। फिर भी वे उस समय इस सामाजिक बीमारी का निदान नहीं कर पाये थे। उस प्रारम्भिक युग में उतनी दूर तक पहुँचना सम्भव नहीं था। तब भी उस समय एक बात स्पष्ट हो गयी थी—अपराध के विरुद्ध संघर्ष करने का अर्थ था ग़रीबी, बीमारी, मादक-द्रव्य, वेश्यावृत्ति आदि के विरुद्ध संघर्ष करना। पर, इस संघर्ष के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए।

"जब हम यह देखते हैं कि अपने को अपराधियों से बचाने के लिए समाज अपनी नीति, कारागार, अदालत, सामाजिक कार्यकर्त्ता आदि से कितना काम ले रहा है तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि लोग अपराध को रोकने के लिए कितने उत्सुक हैं, अपराध के परिणामों से अपनी कितनी रक्षा करना चाहते हैं और सबसे ऊपर, अपराधी को अपने से कितना दूर रखना चाहते हैं...।"[१]

पर, सवाल यह उठता है कि हम अपराधी को अपने से दूर क्यों रखना चाहते हैं। शायद इसीलिए कि हम उसे समाज के लिए ख़तरे की चीज़ समझते हैं। उसके ख़तरे के बारे में डा० पी० के० सेन[२] ने लिखा है :—

"जिस समाज का वह स्वयं अंग है, उसके लिए कोई कितना बड़ा ख़तरा है, इसका निर्णय दो बातों से हो सकता है। कोई व्यक्ति बिना कोई अपराध किये भी अपने समाज के लिए ख़तरे की वस्तु हो सकता है या फिर वह कोई ऐसा कार्य करे जो समाज के लिए ख़तरा हो सकता है।"

क्या काम-वासना का अपराध समाज के लिए कोई ख़तरा पैदा करता है

१ Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 66.

२ P. K. Sen : *Penology—Old and New*, Longman, Green & Co., 1933, p. 182.

या काम-वासना का अपराधी समाज के लिए ख़तरे की चीज़ है ? इस सवाल का जवाब तो तभी दिया जा सकता है जब हम पहले यह समझ लें कि काम-वासना का अपराध क्या है ? इस अपराध की व्याख्या क्या है ? ऐसे अपराध तथा अपराधी की पहचान क़ानून के कतिपय पुराने सिद्धान्तों से नहीं हो सकती। एक अभियुक्त लड़की ने अपने विचारपति से कहा था कि "मैं समझती हूँ कि आप मुझे जेल भेजने जा रहे हैं पर जेल जाने के पहले मैं एक बात आपसे कह देना चाहती हूँ—आप मेरे विषय में कुछ भी नहीं समझ सके हैं।"

और, उसने ठीक ही कहा था। जब तक कि हम अपराधी के मन और उसकी परिस्थिति की गहराई में बैठकर पूरी जानकारी न हासिल कर लें, हम उसे पहचान नहीं सकते। संयुक्त राज्य अमेरिका के देलवार नामक नगर में जेल में जिन क़ैदियों को कोड़ा मारने की सज़ा दी गयी थी, वे पुनः अपराधी बने लेकिन जिनको अन्य सज़ाएँ दी गयी थीं, उनमें से अधिकांशतः अपराधी नहीं बने।

आधुनिक सभ्यता ने मानव के जीवन में गम्भीर विषमताएँ उत्पन्न कर दी हैं। अमेरिका में लड़कियों के एक स्कूल में एक अन्वेषक ने पता लगाया था कि १४ से १८ वर्ष की उम्र की ८० छात्राओं में से लगभग ७० को १४ वर्ष की उम्र होने के पहले ही सम्भोग का अनुभव हो चुका था; उनमें से दस का अपने पिता के साथ सम्बन्ध था तथा वे उस सम्बन्ध से सन्तुष्ट थीं।

न्यूयार्क से प्रकाशित होने वाले "पोस्ट" नामक समाचार-पत्र में छपा था कि हर साल न्यूयार्क नगर की उस अदालत में जिसमें बालिकाओं के अपराध पर विचार होता है, ८०० लड़कियों से कम के मामले नहीं आते और उनकी उम्र १६-२१ वर्ष की होती है। इन पर उच्छृङ्खलता, वेश्यावृत्ति, घर से भाग जाना या वासना की भूखी होने का अभियोग होता है। सन् १९६० में ऐसे ८१४ मामले उस अदालत के सामने आये जिनमें से ३६८ गोरी लड़कियों पर थे, २६५ नीग्रो लड़कियों पर तथा १५० प्यूर्टोरिकन लड़कियों पर।

भारत सरकार का क़ानून, १९५६

काम-वासना के अपराध हर प्रदेश, हर राज्य तथा हर सभ्यता में इतने भिन्न होते हैं कि किसी केन्द्रीय नियम के द्वारा ऐसे अपराधों को रोकना सम्भव नहीं है। मद्रास में महिला अपराधियों के विभाग की चीफ़ इंस्पेक्टर महोदया ने इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट में लिखा है[1] :—

[1] Administration Report on the Working of the Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls' Act for the Year 1959, Government of Madras, 1960, p. 5.

"अनुभव ने इस बात को साफ़ तौर से बता दिया है कि अति प्राचीन सामाजिक कुरीतियों तथा दुर्गुणों से लड़ने के लिए हरेक प्रदेश को अपनी स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल विधान बनाना चाहिए। तभी उन बुराइयों से ठिकाने से निपटा जा सकता है। मद्रास प्रदेश में काम-वासना के व्यवसाय को रोकने के लिए जो क़ानून बना था वह समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार संशोधित होता रहा है। यदि इस क़ानून में थोड़ा सा और संशोधन कर दिया गया होता और उसे आधुनिक बना दिया गया होता तो सैकड़ों पथ-भ्रष्ट लड़कियों तथा स्त्रियों की रक्षा हो जाती और वे पिशाच के चंगुल में पड़ने से बचा ली जा सकती थीं। पर, उसके स्थान पर भारत सरकार ने सन् १९५६ से "कन्याओं तथा स्त्रियों में अनैतिक व्यापार" को रोकने के लिए जो क़ानून लागू कर दिया है उसमें ऐसे नियम हैं जो अव्यावहारिक भी हैं तथा जिन्हें कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। फल यह है कि इस दिशा में पुलिस की सतर्कता भी समाप्त हो गयी है।"

इससे साफ़ है कि उपर्लिखित केन्द्रीय भारतीय क़ानून दोषपूर्ण है। वह ऐसा ही दोषपूर्ण है जैसा आन्ध्र सरकार का यह नियम कि कोई देवदासी नाचने-गाने का पेशा नहीं कर सकती। किन्तु, केवल पेशा छीन लेने से पथ-भ्रष्ट महिलाओं या पुरुषों की संख्या में कमी नहीं की जा सकती।

वेश्यावृत्ति की समस्या

यौन-अपराध सदा से चला आ रहा है। जब से समाज बना, तभी से वेश्यावृत्ति भी चालू हुई। जोज़ेफ़ाइन बटलर ने इस विकार का बड़ा रोचक इतिहास लिखा है। ढाई हज़ार वर्ष पूर्व चाणक्य ने अपने 'कौटिल्य अर्थशास्त्रम्' में राज्य द्वारा नियन्त्रित वेश्या के व्यवसाय का वर्णन किया है। उन्होंने मौर्य नरेशों को आदेश दिया था कि वेश्याओं के ऊपर एक अफ़सर नियुक्त करें जिसे 'गणिकाध्यक्ष' कहा जाय। प्राचीन बैबीलोन के मन्दिरों में पुरोहित वर्ग वेश्या-वृत्ति को प्रोत्साहन देते थे। दक्षिण भारत के मन्दिरों में कन्या भेंट चढ़ा देने की—समर्पित कर देने की—प्रथा थी, जिन्हें देवदासी कहते हैं। हमारे देश में, अन्य देशों के समान, सदा से वेश्याएँ चली आ रही हैं। देवताओं के यहाँ भी रम्भा, मेनका और उर्वशी आदि वेश्याओं का बड़ा नाम है। एक अन्वेषक ने लिखा है कि भारत में कुर्ग (दक्षिण भारत) ही ऐसा स्थान है जहाँ वेश्याएँ नहीं होतीं। मध्य भारत में हरिजनों में बेड़िया नाम की एक उपजाति है जिसका पेशा ही वेश्यावृत्ति है। लड़की के माता-पिता इसी पेशे से अपना पेट पालते हैं। एक महाशय ने हमारे देश की ४०० वेश्याओं से मिलकर जाँच की तो पता चला कि उनमें से चालीस प्रतिशत परिस्थितिवश इस पेशे में पड़ गयी थीं तथा

६० प्रतिशत आर्थिक कारणों से इस पेशे में उतरी थीं। पर "आर्थिक कारणों से वेश्यावृत्ति" काम-वासना का अपराध नहीं है। यह तो ऐसा रोग है जिसके लिए समाज को दण्ड मिलना चाहिए, न कि वेश्या को।

ऐसे यौन-अपराधों की समीक्षा समाज की सामाजिक परिस्थिति से करनी चाहिए। एशिया महाद्वीप में तुर्किस्तान ही ऐसा स्थान है जो पूर्वी तथा पश्चिमी देशों की सीमा पर होने के कारण दोनों गुण-अवगुण का समान रूप से उपभोग करता है। सन् १९५४-५५ में वहाँ पर प्रति दस लाख व्यक्ति पीछे १०६ अपराध काम-वासना के हुए। उसी अवधि में ग्रेट ब्रिटेन में ११६, संयुक्त राज्य अमेरिका में १०३५, फ्रांस में ५,०३६ तथा जापान में ३६ और मिस्र में ९ अपराध हुए। इससे स्पष्ट है कि पश्चिम और पूरब के पारिवारिक जीवन में विभिन्नता होने के कारण यौन-अपराधों में कितना बड़ा अन्तर पड़ जाता है। इस दृष्टि से, चूँकि हमारे देश में पारिवारिक जीवन की मर्यादा अभी तक क़ायम है, यौन-अपराध अनुपाततः काफ़ी कम हैं। पर औद्योगीकरण तथा आधुनिक सभ्यता की प्रगति के कारण इसमें भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भी राय है कि पश्चिम के मुक़ाबले में पूर्वीय देशों में काम-वासना के अपराध कम होते हैं। ऐसे अपराधों की रोकथाम सामाजिक नियमों से ही हो सकती है। विगत असहयोग आन्दोलन के समय (१९१९–१९२१) में सामाजिक विचारधारा के कारण नाच-गाना तथा वेश्यावृत्ति में काफ़ी कमी हो गयी थी पर आजकल के दिनों में हमने क़ानून बनाकर इस अपराध में कमी नहीं की है। ईमानदारी से नाचने-गाने का पेशा करने वालों को हमने अनायास अपना शरीर बेचकर पेट पालने के लिए मजबूर कर दिया है। क्या यह समाज-सुधार है कि हमने संगीत द्वारा जीविका उपार्जन करने वाली स्त्रियों को भटियारखानों में दाखिल करा दिया है।

केवल वासना की भावना से ही स्त्री का पतन नहीं होता। पारिवारिक परेशानियाँ, झगड़े, पति के दुर्व्यवहार, सामाजिक कठिनाइयाँ—अनेक कारण हो सकते हैं। पर इन कारणों की जानकारी से ही समस्या का निपटारा नहीं हो जाता। इंगलैण्ड ने वेश्यावृत्ति रोकने के लिए क़ानून बना दिया है कि यदि कोई स्त्री किसी पुरुष को छेड़ती हुई या बुलाती हुई पकड़ी गयी तो उसे दण्ड मिलेगा। फल यह हुआ कि वे औरतें अब कोठों पर न बैठकर रात्रि में सड़क पर खड़ी रहती हैं और झपाटे से पुरुषों के कान में "चलूँ या नहीं" पूछकर हट जाती हैं। पुरुष यदि उनका हाथ पकड़ ले तो पुलिस कुछ नहीं कर सकती। क्या यह क़ानून का उपहास नहीं है? यह निश्चित बात है कि दण्ड की कठोरता से अपराध बढ़ता है, घटता नहीं।

हमारे देश में "पतित" स्त्री-पुरुषों की समस्या को हल करने के लिए बहुत कम काम हुआ है। पहले से हमारे देश में चार ऐसे प्रदेश हैं जहाँ अनैतिक व्यापार तथा भटियारखाने चलाने के विरुद्ध क़ानून है—सौराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, मद्रास तथा बम्बई। पर इन प्रदेशों ने प्रायः क़ानून तथा उपनियम बनाने के अलावा इस समस्या के विषय में और कुछ नहीं किया। फल यह हुआ कि उनके यहाँ समस्या और भी जटिल हो गयी। यह अवश्य है कि अनैतिक दृष्टि से पतित लड़कियों तथा परित्यक्त स्त्रियों की रक्षा के लिए मद्रास में सबसे ज़्यादा काम हुआ है। बम्बई में भी इस ओर अच्छा ध्यान दिया गया है। वैज्ञानिक ढंग से ऐसे लोगों के इलाज के लिए बम्बई में कई अच्छी संस्थाएँ हैं तथा दिल्ली का "नारी निकेतन" भी इस दिशा में एक सराहनीय प्रयत्न है।

वस्तु-स्थिति

अनैतिक कहे जाने वालों के समुचित अध्ययन के लिए "सचेत गृह"—'विजिलेंस होम'[1]—मार्के का स्थान है। ऐसे मामलों में यहाँ जाकर हमारी बहुत सी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। मद्रास के ऐसे ही गृह में सन् १९५६ में पहली अगस्त को २६५ लड़कियाँ थीं, सन् १९५९ में यह संख्या ४०० हो गयी थी। इन लड़कियों की उम्र १४ से २५ वर्ष के भीतर थी। सन् १९५६ में उम्र के विचार से उनकी संख्या इस प्रकार थी :—

उम्र	संख्या
१४ से १५ वर्ष के भीतर	१०
१५ से १८ वर्ष	१३४
१८ से २५ वर्ष	७०
२५ वर्ष से ऊपर	५१

धर्म तथा जाति के हिसाब से यह संख्या इस प्रकार थी :—

जाति		धर्म		विवाहित-अविवाहित	
हरिजन	१३	हिन्दू	२२४	विवाहित	१३१
ब्राह्मण	८	मुसलिम	२५	अविवाहित	१२१
अब्राह्मण	२०३	ईसाई	१६	विधवा	१४
अन्य	१४				
	२३८		२६५		२६६

[1] Vigilence Home, Madras, Report for 1956-57 & 1960.

उक्त आँकड़ों से कई बातें स्पष्ट होती हैं। ब्राह्मणों में सबसे कम तथा हरिजनों में उसके बाद कम दुराचार है। सबसे अधिक अब्राह्मणों में यानी अब्राह्मण वर्ग की कन्याओं में नैतिक पतन की समस्या है। धर्म की दृष्टि से हिन्दुओं की संख्या केवल इसलिए अधिक है कि उनकी जनसंख्या अधिक है। हरिजनों की संख्या कम होने का कारण यह भी है कि उस समाज में नैतिक पतन की व्याख्या साधारण समाज से भिन्न है। एक बात ज़रूर मार्के की है। अविवाहितों के बराबर ही विवाहितों की समस्या बढ़ती जा रही है। यानी, पश्चिम के देशों की तरह हमारे यहाँ भी पारिवारिक जीवन की पवित्रता खण्डित होने लगी है। दुराचार के लिए १५ से १८ वर्ष के बीच की उम्र सबसे ज़्यादा ख़तरनाक मालूम होती है। २५ वर्ष के ऊपर यह ख़तरा कम हो जाता है।

बचाव की बात

छोटी जातियों में बचपन में ही विवाह हो जाता है। इससे उनके पारिवारिक जीवन की बड़ी सुरक्षा भी हो जाती है। बाल-विवाह के गुण-दोष दोनों ही हैं। एक बात और है। बिना पढ़ी-लिखी लड़कियाँ स्वभाव से बुज़दिल होती हैं। पतन के मार्ग में जाने का उनका साहस नहीं होता। पढ़े-लिखों में स्वतन्त्रता अधिक होती है। मद्रास के 'स्त्री सदन' के आँकड़ों से यही बात साबित होती है। वहाँ के 'संरक्षित गृह' तथा 'आरक्षण गृह'[१] में छोटी उम्र की लड़कियाँ थोड़े समय के लिए ही रखी जाती हैं। इन सभी प्रकार के गृहों में सन् १९५४ के एक अगस्त को २० प्रतिशत लड़कियों को गर्मी, सूज़ाक, बाघी ऐसी भयंकर बीमारियाँ लगी हुई थीं।

"गृहों" की लड़कियों की स्थिति

विवाहिता या परित्यक्ता	१६	
अविवाहिता	७६	
विधवाएँ	५	
ग़रीब लड़कियाँ	२८	कुल संख्या ९४ थी। स्त्री सदन में किसी की उम्र २१ वर्ष से अधिक नहीं थी।
निम्न मध्यमवर्ग	६५	
उच्च मध्यमवर्ग	१	
अशिक्षित	७	
शिक्षित	५९	
छठी कक्षा से कुछ ऊपर पढ़ी हुई	२८	

अन्य राज्यों की के विषय में हमारे पास आँकड़े नहीं हैं। पर

[१] Rescue Homes and Shelter Homes.

ऊपर लिखी मद्रास की संख्याओं से यह प्रकट है कि पतनशीलों की संख्या बढ़ती जा रही है। ३ दिसम्बर, १९५५ को मद्रास के स्त्री सदन में ६८६ लड़कियाँ तथा २ शिशु थे। सचेत गृह तथा आरक्षण गृह में २८६ लड़कियाँ तथा १८ शिशु थे। इनमें से स्त्री सदन की ९७ तथा सचेत गृह तथा आरक्षण गृह की १४२ लड़कियों को जीवन में पुन: स्थापित कर दिया गया। क्या यह प्रशंसनीय बात नहीं है? क़ानून की कठोरता तथा समाज के अभिशाप से यह कहीं अधिक उपयोगी कार्य है।

सन् १९५७ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में ऊपर लिखी संस्थाओं की मुख्य संचालिका ने लिखा था :—

"इन अभागिन लड़कियों तथा स्त्रियों में से अधिकांश परिस्थिति की शिकार हैं और बुरे मार्ग पर उन्हें इसलिए चलना पड़ा कि या तो उनके पास अपना घर नहीं है, परिवार नहीं है, उनके माता-पिता ने उनकी ठीक से देखरेख नहीं की, उन्हें ठीक से शिक्षा नहीं मिली, उन्हें उचित साथी नहीं मिला, वे कुसंग में पड़ गयीं या उनको ठीक से आगे बढ़ने की सहूलियत नहीं मिली—यद्यपि बहुत कम ऐसी लड़कियाँ हैं जो केवल अपनी वासना के विकृत होने के कारण ही कुमार्ग पर चल पड़ी हों।"

अस्वस्थ लड़कियाँ

सन् १९५८ में मद्रास प्रदेश में चार आरक्षण आदि गृह थे—मदुराई, सलेम, कोयम्बटूर तथा त्रिचिरापल्ली। उनमें १०८ लड़कियाँ दाखिल की गयीं। ये थोड़ी अवधि वाले गृह थे। ८५ लड़कियों को थाऊवाकर नामक स्थान के गृह में रखा गया था। मद्रास के एक गृह "अभयनिलयम" में १७३ ताज़े केस आये। यहाँ पर वर्ष में औसतन संख्या १७८-१८० के बीच थी। सन् १९५९ में यह संख्या घटकर ११७ हो गयी थी। मद्रास के "स्त्री सदन" में रोज़ औसतन ९०-९१ लड़कियाँ थीं। सन् १९५९ में यहाँ ७३ नये दाख़िले हुए थे। इनमें से ३८ लड़कियाँ ऐसी थीं जो अपने मन से अपनी रक्षा के लिए दाख़िल हुई थीं। १० लड़कियों को पुरुषों के चंगुल से बचाया गया था। १९ भगाई हुई थीं तथा ६ दण्डित थीं। मीनाक्षी सदन में ५३ लड़कियाँ थीं। सन् १९६१ में अनैतिक व्यापार नियम के अन्तर्गत १९ स्त्रियाँ प्रोबेशन अफ़सरों की देखरेख में रखी गयीं।

मद्रास में तीन प्रकार के सुरक्षा गृह हैं। ये तीनों गृह "स्त्रियों तथा लड़कियों में अनैतिक व्यवसाय अधिनियम, सन् १९५६" के अन्तर्गत २१ वर्ष से कम उम्र की लड़कियों के लिए हैं। इन संस्थाओं के चीफ़ इंस्पेक्टर की सन् १९५९ की रिपोर्ट के अनुसार स्त्री सदन में, जहाँ अधिक दिनों के लिए लड़कियाँ रखी जाती हैं, ऐन्द्रिक बीमारियों की शिकार कन्याओं की संख्या घट गयी पर

कम अवधि वाली संस्थाओं के निवासियों में यह रोग बढ़ गया था—उनकी संख्या अधिक थी। नीचे हम इसके आँकड़े देते हैं :—

	स्त्री-सदन			सचेत या आरक्षण गृह	
	१९५८	१९५९	(प्रतिशत में)	१९५८	१९५९
स्वस्थ	८५	९७·३		७३	१४·७
अस्वस्थ	१५	२·७		२७	८५·३

इससे स्पष्ट है कि ऐन्द्रिक बीमारी की संख्या सन् १९५९ में काफ़ी बढ़ गयी थी। सन् १९५९ में स्त्री सदन में रहने वाली लड़कियों का ६७ प्रतिशत तथा अन्य प्रकार के गृहों से ७२ प्रतिशत छोड़ दी गयीं—मुक्त कर दी गयीं। सचेत या आरक्षण गृह में प्रायः भगायी हुई या काम-वासना की अपराधिनी लड़कियाँ ही रखी जाती हैं। इसीलिए उनमें बीमारी का औसत कहीं अधिक होता है। सन् १९५९ की अपनी रिपोर्ट समाप्त करते हुए चीफ़ इंस्पेक्टर महोदया लिखती हैं :—

"व्यवसाय रूप में किये गये ऐन्द्रिक अपराध की बर्बरता तथा स्त्रियों के जीवन तथा सम्मान के प्रति खिलवाड़ से छुटकारा पाना ज़रूरी है। तभी हम व्यवस्थित मानव-समाज की रचना में वास्तविक क़दम उठा सकेंगे।"[१]

सन् १९५९ में भारत में कितने अपराध हुए, इसकी रोचक जानकारी केन्द्रीय सरकार की एक रिपोर्ट से मिलती है।[२] उससे पता चलता है कि सन् १९५८ की तुलना में सन् १९५९ में लड़कियों के भगाने के अपराध में ६·९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् १९५८ में ऐसे ६,०४३ मामले हुए थे। सन् १९५९ में ६,४९९ मामले हुए।

पर, नैतिकता के हिमायती इस बात से क्यों चिन्तित होते हैं! सन् १९६१ के आरम्भ में हैदराबाद में अखिल भारतीय परिवार-निरोध सम्मेलन हुआ था। उसमें कुछ प्रतिनिधियों ने यह सुझाव दिया था कि बच्चों की संख्या कम करने के लिए गर्भपात को एक प्रकार की क़ानूनी मान्यता दे देनी चाहिए। क्या ऐसी मान्यता दे देने से लड़कियों के भगाने की संख्या में भी कमी नहीं होगी? हम लोग लड़कियों के भगाने या बहका कर ले जाने की संख्या को घटाने के लिए उसे भी क़ानूनी जामा क्यों नहीं पहना देते!

विवाहित अपराधियों में वृद्धि

कुछ समय हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने बड़े-बड़े देशों के यौन-अपराध की तालिका प्रकाशित की थी जिससे पता चलता था कि इस दिशा में फ्रांस

१ Madras Report for 1958, p. 25.
२ INFA News Bulletin, July 11, 1961.

प्रथम, संयुक्त राज्य अमेरिका द्वितीय, इंगलैण्ड तृतीय स्थान रखता है। भारत के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

बड़े देशों में, यौन सम्बन्धी अपराधों की दृष्टि से भारत का दर्जा सबसे नीचे है। यहाँ ऐसे अपराध बहुत कम होते हैं—अनुपात की दृष्टि से। पर, अब धीरे-धीरे यह अपराध हमारे यहाँ बढ़ते जा रहे हैं—शायद आधुनिक सभ्यता में प्रगति की यही प्रसादि हो। आधुनिक सभ्यता में सुगठित पारिवारिक जीवन का पहले हनन होता है। भारत का पारिवारिक जीवन संसार में अपनी अनोखी दृढ़ता रखता है। पर अब तो हमारे यहाँ भी "सिविल मैरिज ऐक्ट", "तलाक़ क़ानून", "अनैतिक व्यवसाय क़ानून" आदि बन गये हैं। कौन कह सकता है कि इन नये क़ानूनों से हमारा कल्याण होगा या अकल्याण।

रक्षा का कार्य

उत्तर प्रदेश के बारह जिलों में सुरक्षा गृह, आरक्षण गृह तथा उत्तर-रक्षा-गृह थे। पर अब वे भी बन्द हो गये हैं। सन् १९५९ में ७ बड़े ज़िलों में ३१९ स्त्रियों तथा कन्याओं का उद्धार किया गया था। अपराधी बालक-बालिकाओं की चिकित्सा तथा उपचार का भारत में सबसे अच्छा प्रबन्ध महाराष्ट्र तथा मद्रास में है। काम-वासना की अपराधी कन्याओं के लिए तो बहुत अच्छा प्रबन्ध है। मद्रास नगर के एक सुरक्षा गृह में दाखिल की गयी स्त्रियों में से ७० प्रतिशत विवाहिता थीं तथा ९० प्रतिशत ऊँचे परिवारों की कन्याएँ थीं।

इस बात से एक नया सवाल पैदा हो जाता है। सितम्बर, १९५५ में लन्दन में तृतीय अपराध-शास्त्री सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन में आदतन अपराधियों पर एक रोचक लेख पढ़ा गया था। फ्रांस में बाल-अपराधिनी कन्याओं में से तीन विधवा थीं, ७३ विवाहिता थीं तथा १२९ अविवाहिता थीं। ६५ आदतन अपराधिनों को चार से अधिक सन्तान थीं। अपने देश में हम इन आँकड़ों को देखकर पहले मुस्करा देते थे। पर अब स्थिति बदलती जा रही है।

सन् १९५८ के अन्त में हमारे जेलों में १,९६,५८६ क़ैदी थे। यह आँकड़े कुल २९९६ कारागारों के हैं जिनमें उप-कारागार तथा बाल-गृह की संख्या भी शामिल है। इन बन्दियों में विवाहित पुरुष-स्त्री बन्दियों की संख्या काफ़ी अधिक थी। इससे पता चलता है कि हमारे यहाँ भी ख़तरा बढ़ रहा है, चाहे उसका कारण आर्थिक हो, दुःखी पारिवारिक जीवन अथवा खण्डित पारिवारिक जीवन हो।

यह खेद की बात है कि महाराष्ट्र, मद्रास या राजस्थान ऐसे प्रदेश अपने जेलों में विवाहित या अविवाहित की गणना नहीं रखते। फिर भी, जितने आँकड़े प्राप्त हैं, उनसे ही काफ़ी जानकारी प्राप्त हो जाती है। आज के

जमाने में यह धारणा ग़लत साबित हो रही है कि विवाहित जीवन अधिक ठोस तथा सुरक्षित होता है ।

विवाहित तथा अविवाहित

प्रदेश	जेलों में कुल बन्दी	पुरुष-स्त्री दोनों में विवाहित क़ैदियों की संख्या
१. उत्तर प्रदेश	८६,४५३	४६,७८९
२. मद्रास	यदि ५·७५ बन्दी स्त्रियाँ विवाहिता हैं तो एक अविवाहिता है—यही अनुपात है ।	
३. मैसूर	८७०७ (१३,००० बन्दियों का वर्गीकरण नहीं हुआ था)	५,५६५
४. केरल	२४,३६३	८,००५

अन्य प्रदेशों के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं । यहाँ यह भी जान लेना उचित होगा कि पुरुष दण्डितों की तुलना में स्त्री दण्डितों की संख्या का अनुपात कितना कम होता जा रहा है । यह आँकड़े सन् १९५८ के हैं ।

प्रदेश	कुल बन्दी (दण्डित)	महिला बन्दी
बम्बई	१३,५७८	लगभग ३,०००
केरल	१५,९९४	लगभग ५,०००
पंजाब	१४,५४६	९७
मैसूर	२६,१६८	१,४१७
मध्य प्रदेश	५,१६३	७२
दिल्ली	६,०७२	१०८
उत्तर प्रदेश (१९५९)	५९७	६४८०७

इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के आँकड़े महत्वपूर्ण हैं । नीचे दिये गये आँकड़े सन् १९५८ के हैं और केवल दण्डित बन्दियों के लिए हैं ।

विवाहित दण्डित बन्दी	४६,७८९
अविवाहित दण्डित बन्दी	१८,१४६
विधवाएँ	१७३
विधुर	४,५३०
वेश्याएँ	४

महिला बन्दियों में विवाहितों की संख्या अधिक है । सन् १९५८ में पंजाब में ९७ दण्डित महिलाएँ थीं जिनमें से केवल पाँच ही अविवाहिता थीं । शेष विवाहिता थीं । सन् १९५८ में, दिल्ली प्रदेश के जेल में १०७ दण्डित महिलाएँ थीं । इनमें से ९५ विवाहिता और ४ अविवाहिता तथा शेष

बालिकाएँ थीं। हिमाचल प्रदेश भारत का एक छोटा सा प्रदेश है। सन् १९५९ में वहाँ पर कुल १८६३ अपराध पुलिस की जानकारी में आये जिनमें से ३६ मामले स्त्रियों का व्यवसाय करने के सम्बन्ध में थे यानी सन् १९५८ की तुलना में १२ की संख्या में वृद्धि हुई थी। कुल मिलाकर ऐसे ६१ मामले अदालत में चल रहे थे। वर्ष के अन्त तक २० छोड़ दिये गये, ४ को सज़ा हो गयी और शेष विचाराधीन थे।

क्या वे आदतन अपराधी हैं ?

एक सवाल पूछा जा सकता है—भारत में महिला बन्दियों की संख्या क्यों घटी है ? प्रत्यक्ष कारण तो यही मालूम होता है कि अब आर्थिक स्तर ऊँचा हो रहा है, लोगों की माली हालत सुधर रही है तथा स्वतन्त्र भारत में महिलाओं की शिक्षा का अधिक उत्तम प्रबन्ध है। पर, अविवाहितों की तुलना में विवाहितों की संख्या बढ़ती जा रही है।

शिक्षा के विचार से केरल हमारे देश का सबसे उन्नत प्रदेश है। वहाँ की ६५ प्रतिशत जनता शिक्षित है। सन् १९५७ में वहाँ पर विवाहित और अविवाहित का औसत ५३०१—३४२० था जो बढ़कर सन् १९५८ में ८००५—४९९२ हो गया था।

यह कहा जा सकता है कि जेलों में आदतन यानी दुबारा अपराधियों की संख्या बढ़ गयी है, अतएव विवाहितों की संख्या भी बढ़ी है। पर आँकड़ों से यह बात भी सही नहीं साबित होगी। सन् १९५० में भारत के जेलों में दण्डितों की कुल आबादी ३,४४,८०५ थी। इस संख्या में ३,६७१ क़ैदी ऐसे थे जो ज़मानत न दे सकने के कारण जेल में थे। सन् १९५३ में हमारे जेलों की कुल दण्डित संख्या ३,७५,६०७ थी। उनमें ज़मानत के अभाव में जेल में पड़े रहने वालों की संख्या ६,५९२ थी। पर, सन् १९५३ से स्थिति बदली है। हमारे प्रदेश के बहुत उन्नतिशील प्रदेश पश्चिमी बंगाल में सन् १९५२ में कुल दुबारिया क़ैदियों की संख्या जेल की समूची आबादी का १८·३ प्रतिशत यानी ८,०५३ थी। सन् १९५८ में यह संख्या घटकर २८४८ यानी ३·४ प्रतिशत ही रह गयी थी। उत्तर प्रदेश में दुबारा क़ैदियों की संख्या नीचे दी जा रही है :—

वर्ष	जेल में वर्ष में दाखिला	दुबारा कैदियों की संख्या	दुबारा कैदियों का प्रतिशत
१९५६	५६,६६१	२,६२२	५·०७
१९५९	६४,६२६	१,९७२	३·५०
१९६१	६४,८०२	२,४६८	३·०५

एक आधार से प्राप्त आँकड़ों से पता चलता है कि सन् १९५२ के अन्त में भारत के जेलों की कुल आबादी ४०९,४५६ थी, जिनमें से एक बार से अधिक जेल जाने वालों की संख्या ११,४६८, दो बार से अधिक जेल जाने वालों की संख्या ५१६९ तथा तीन बार से अधिक जेल जाने वालों की संख्या ७८५० थी यानी कुल मिलाकर २४,४८७ अर्थात् ७·०० प्रतिशत ही दुबारा अपराधी थे।

सवाल उठता है और जवाब देना कठिन है कि भारत में कामवासना के अपराध बढ़ रहे हैं या घट रहे हैं। काम-वासना का अपना अनूठा मनोविज्ञान है। जे० एडगर टकर ने लिखा है कि "पतित काम-वासना के अपराधियों के अपराध ही सबसे अधिक तेज़ी से बढ़ रहे हैं।" इस दिशा में संयुक्त राज्य अमेरिका सबसे बड़ा अपराधी देश प्रतीत होता है। वहाँ प्रति ३५ मिनट पर एक बालिका या स्त्री पर ऐन्द्रिक हमला होता है। अमेरिकन केन्द्रीय जाँच बोर्ड का[1] कहना है कि यह समस्या इतनी गम्भीर हो गयी है कि मनोवैज्ञानिकों को इधर पूरा ध्यान देना चाहिए।

गणना के लिए काम-वासना के अपराध तीन भागों में विभक्त हैं—१. वेश्यावृत्ति, २. बलात्कार, तथा ३. अन्य वासनामय अपराध। इनमें बलात्कार सबसे भयंकर अपराध समझा जाता है। अभी तक यही धारणा बनी है कि हर बलात्कार में ज़बर्दस्ती का व्यवहार होता है। पर डाक्टरी खोज ने एक सिद्धान्त यह भी निकाला है कि चाहे भयवश ही क्यों न हो, बिना आधी रज़ामन्दी के बलात्कार नहीं हो सकता। यह भी सम्भव है कि दूसरे पक्ष ने विवश होकर ही वैसा किया हो। क़ानून में बलात्कार की जो व्याख्या है, उसमें तो बिना स्वीकृति के एक वेश्या के साथ संसर्ग भी अपराध बन जाता है, चाहे ऐसे कार्य में वेश्या की ओर से ही प्रथम प्रोत्साहन क्यों न मिला हो। इसलिए हरेक बलात्कार को जघन्य अपराध समझ लेना भूल भी हो सकती है।

कामवासना की भूख

यह सही है कि संसार में बलात्कार के अपराध काफ़ी हो रहे हैं। ऐसे बहुत से मामलों की पुलिस को जानकारी नहीं होती। किंग्सले नामक लेखक ने इस बात पर अच्छा प्रकाश डाला है। अमेरिकन-अपराध-जाँच बोर्ड का कहना है कि बलात्कार के पचास प्रतिशत अपराध वास्तव में बलात्कार हैं, यह कहना भूल होगी। सन् १९३० से १९३९ तक न्यूयार्क नगर में बलात्कार के अपराध में जितने लोग दण्डित हुए थे उनमें से केवल १८ प्रतिशत ही वास्तव में ज़ोर-ज़बर्दस्ती के मामले थे।

[1] Federal Bureau of Investigation (F.I.), U. S. A., 1961.

"न्यूयार्क टाइम्स" नामक अमेरिकन दैनिक ने एक बार लिखा था कि सन् १९३०, १९३५ तथा १९४० में कुल ३२४ स्त्रियों की हत्या हुई जिनमें से ११० हत्याएँ न्यूयार्क नगर में, ५६ न्यूजर्सी में, ३२ न्यूयार्क प्रदेश के अन्य स्थानों में तथा १३२ संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्य प्रदेशों में हुई। इनमें से केवल १७ हत्याओं के सम्बन्ध में बलात्कार का सन्देह हो सकता था। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति वर्ष बलात्कार के कारण की गयी हत्याओं का औसत ५.७ प्रतिशत से ज़्यादा नहीं है।

उपर्लिखित ३२५ हत्याओं के कारण की समीक्षा करने से पता चलता है कि १०२ हत्याएँ तो पतियों द्वारा की गयीं, ३७ हत्यायें पिता अथवा नज़दीकी रिश्तेदारों द्वारा और ४९ हत्याएँ प्रेमिकों या विवाह-इच्छुकों ने कीं। स्त्रियों की हत्या करने वाले पुरुषों में से २५ प्रतिशत ने स्वयं आत्म-हत्या कर ली। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों का हत्यारा अथवा कामवासना के वशीभूत हत्यारा उतना बड़ा नरपिशाच नहीं है जितना बड़ा हम समझते हैं। जर्मनी के बारे में कहा जाता है कि वहाँ स्त्री के साथ संसर्ग के अपराधों के अतिरिक्त कामवासना के अन्य प्रकार के अपराधों की संख्या संयुक्त राज्य अमेरिका से कहीं अधिक है। तात्पर्य यह है कि ऐसे अपराध उतने अप्राकृतिक नहीं हैं जितना कि हम समझते हैं। वास्तव में परिस्थिति तथा वातावरण का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

पुरुष अथवा स्त्री में काम-वासना होना प्राकृतिक बात है। अतएव यह नहीं सोचना चाहिए कि ऐसे अपराध का दोषी सदा के लिए अपराधी बन गया। आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों ने यह साबित कर दिया है कि ऐसे अपराधों में दुबारा अपराधी बहुत कम होते हैं। अमेरिकन-अपराध-जाँच बोर्ड ने २५ प्रकार के अपराधों तथा अपराधियों की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि मादक द्रव्य-सेवी सबसे प्रथम श्रेणी में हैं—सबसे अधिक संख्या में दुबारा अपराधी होते हैं। शराबियों का चौथा नम्बर है, पाँचवाँ नम्बर सेंध लगाने वालों का है तथा १७वाँ नम्बर अन्य प्रकार के कामवासना के अपराधियों का है जिनमें गुदा-मैथुन के अपराधी भी शामिल हैं। बलात्कार के अपराधियों का १९वाँ नम्बर है—यानी बलात्कार के अपराधी बिरले ही दुबारा वही अपराध करते हैं।

इसलिए यह सवाल उठता है कि क्या काम-वासना के अपराधी को प्रथम बार दण्ड देना पर्याप्त है या वह फिर अपना अपराध दुहराता है। सन् १९३७ में संयुक्त राज्य अमेरिका में काम-वासना के अपराध में १,४४७ पुरुष गिरफ़्तार हुए थे। इनमें से केवल ५.३ प्रतिशत उसी अपराध के लिए पहले दण्डित हो चुके थे। न्यूयार्क नगर की एक समिति ने जाँच करके यह बतलाया है कि

अन्य अपराधियों की तुलना में ऐन्द्रिक अपराधी अधिकतर प्रथम अपराधी होते हैं। इस समिति ने न्यूयार्क नगर की बाल-अदालतों में पेश होने वाले मामलों का अध्ययन कर यह देखा कि १०८ अभियुक्तों में से केवल ३ दुबारा अपराधी थे पर उन तीनों में एक भी बालक ऐन्द्रिक अपराधी नहीं था। १४८ लड़कों पर फुटकर अभियोग थे जिनमें से १०६ पहले भी अभियुक्त रह चुके थे। इनमें वासना के अपराधी नहीं थे। यह भी साबित हो गया है कि ऐसे अधिकांश अपराध गुरुतर अपराध नहीं होते। जो लोग भयंकर ऐन्द्रिक अपराध करते हैं वे भी दुबारा वही अपराध नहीं करते पाये जाते। जो अनेक बार ऐन्द्रिक अपराध करते हैं वे वास्तव में स्त्रियों, लड़कियों तथा लड़कों के लिए काफ़ी ख़तरनाक होते हैं और उनके दिमाग़ में इस अपराध का रोग बैठ जाता है। इनसे ही वास्तव में समाज की रक्षा करनी है।

यह तो हम ऊपर लिख आये हैं कि शरीर-विज्ञान की दृष्टि से बलात्कार वैसा भीषण अपराध नहीं है जैसा प्रत्यक्ष से मालूम होता है। ऐसे भी लोग संसार में हैं जिनमें कोलम्बिया (अमेरिका) के एक क़ानून के अनुसार "वासना रोकने या उस पर क़ाबू पाने की शक्ति ही नहीं होती।" ऐसे भी लोग हैं जो तुरत उत्तेजित हो जाते हैं, ऐसे भी हैं जिनमें परिस्थिति या परिणाम का विचार करने की शक्ति कुछ समय के लिए लुप्त हो जाती है। या ऐसे ही अनेक कारणों के उत्पन्न हो जाने पर, विवेक तथा चेतना शून्य हो जाती है और ऐन्द्रिक अपराध हो जाते हैं। मिनेसोता तथा विसकौंसिन (अमेरिकन) प्रदेशों ने ऐन्द्रिक अपराधों की ऊपर लिखे शब्दों में ही व्याख्या की है।

इसलिए यह समस्या एक दो व्यक्तियों के अपराध की नहीं है। ऐसे हज़ारों अपराधी बराबर पैदा होते रहते हैं। इसीलिए उनके अपराध के हरेक पहलू पर विचार करके, क़ानूनी तथा डाक्टरी व्याख्याओं को ध्यान में रखते हुए कोई ठोस सिद्धान्त निकालना कठिन है। हिस्टीरिया की बीमारी के मरीज़ को भी कामवासना का अपराध पकड़ सकता है। गर्भवती स्त्री के साथ संसर्ग करने से उसकी सन्तान भी कामवासना की अपराधी बन सकती है। एक ही कमरे में समूचा परिवार यदि रहता, सोता हो तो बच्चों को बचपन में ही ऐसे कार्य की शिक्षा मिल जाती है। बहुत से बच्चे बिना समझे कि वे क्या कर रहे हैं, कामवासना के अपराध कर बैठते हैं।

रोचक खोज

कासन तथा पेस्कर नामक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण खोज किये हैं। डा० विनफ्रेड ओवरहोल्सर तथा डा० ए० वारेन स्टर्न्स ने बड़ी छानबीन की है। न्यूयार्क नगर के दौरा अदालत के साथ सन्नद्ध मनोवैश्लेषणिक

निदान-समिति ने भी अच्छी जानकारी प्राप्त की है। प्राय: सभी एकमत हैं कि कामवासना का अपराध शारीरिक नहीं, मानसिक बीमारी है। दण्ड से यह रोग अच्छा नहीं हो सकता। एक विद्वान् लेखक[१] ने लिखा है कि हर साल हज़ारों व्यक्ति ऐसे अपराध में जेल भेजे जाते हैं। बरस-छ: महीने जेल में रहकर वे और अधिक अपराधी बनकर निकलेंगे। बच्चों के साथ दुराचार करने के अपराध में सैकड़ों लोग जेल भेजे जाते हैं पर उनका यह अप्राकृतिक कार्य जेल से नहीं अच्छा होगा। इसके लिए उनकी डाक्टरी तथा मनोवैज्ञानिक जाँच होनी चाहिए।

जेल में रखने से वासना शान्त होती है, अपराध की मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है, यह सोचना भूल है। "हारवर्ड जर्नल" में कुछ वर्ष पहले एक लड़के की कथा थी। उसे पशुओं के साथ निर्दय व्यवहार करने के अपराध में दो महीने की सज़ा दी गयी। न तो उसके बारे में और कोई जाँच की गयी और न उसकी डाक्टरी करायी गयी थी। जेल से छूटने के कुछ ही समय वाद उसने अपनी चाची की हत्या कर दी। इस मामले से ही साबित हो जाता है कि अपराधी की मनोवृत्ति का बिना पता लगाये दण्ड देना अनुचित है।

पेलथ्रॉप की रिपोर्ट

पेलथ्रॉप ने ऐसे अपराधियों के सम्बन्ध में एक मार्के की रिपोर्ट प्रकाशित की है।[२] उन्होंने ६७ मामलों की समीक्षा की तो पता चला कि उनमें से चार मनोविकार के रोगी थे, १९ में भी मनोवैज्ञानिक रोग थे। उनकी राय में अधिकांश मामले जेल के लायक़ नहीं, डाक्टरी चिकित्सा के योग्य थे।

सामाजिक दृष्टि से आदमी अपराधी तभी होता है जब वह क़ानून की पकड़ में आ जाता है। पेलथ्रॉप का कहना है कि वास्तव में ऐसे अपराध के दोषी काफ़ी व्यक्ति हैं। हम में से बहुत-से ऐसे अपराधी बन सकते हैं यदि हमको क़ानून या समाज का डर न हो। आज आदमी हर प्रकार के अपराधों का प्राकृतिक रूप समझने लगा है। यदि ऐसा न होता तो आज के युग में दण्ड सम्बन्धी क़ानून बराबर न बदला करते। पुराने ज़माने में पुरुष-पुरुष अथवा स्त्री-स्त्री का मैथुन बहुत ही भयंकर अपराध समझा जाता था। इंगलैण्ड में सन् १८२८ तक ऐसा अपराध करने पर प्राणदण्ड होता था। पर अब विचार बदल रहे हैं। क़ानून भी बदल गया है। भारत में ऐसे अपराध पर सात वर्ष तक की कड़ी क़ैद हो सकती है।

१ E. Ross : *The Law Breaker.*

२ Report of the Privy Council's Medical Research Council by Grace W. P. Pailthrop.

ग्रेट ब्रिटेन के मैजिस्ट्रेटों तथा चिकित्सकों की संस्थाओं ने मनोविश्लेपण तथा प्रचलित क़ानून पर विचार करने के लिए एक संयुक्त समिति बिठायी थी।[1] सन् १९४९ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। इस समिति की राय थी कि कामवासना के अपराधियों की विशेप प्रणाली द्वारा जाँच की जाय। यह इसलिए कि ऐसे सभी अपराधी चिकित्सा-शास्त्र के विषय होते हैं। समिति की राय में ऐसे अपराधी या तो मानसिक रोग, चरित्र दोष, ऐन्द्रिक असाधारणता, विकृत प्रवृत्ति, वातावरण, बुद्धि में दोष या शारीरिक असाधारणता के कारणों से होते हैं।

ऐन्द्रिक अपराध प्रायः ऊपर लिखे कारणों से होते हैं। ऐसे अपराधों में गुरुतर अपराध की श्रेणी में बलात्कार, स्त्रियों पर वासनामय आक्रमण, लड़कियों को भ्रष्ट करना, पशु मैथुन या शरीर को नंगा रखना आदि हैं। ऐसे अपराधी को इंगलैण्ड में छोटी अदालतों में नहीं, बड़ी अदालतों में भेजा जाता है। इंगलैण्ड में कामवासना के अपराधों की तालिका हम नीचे दे रहे हैं। भारत में ऐसी तालिका उपलब्ध नहीं है। पर नीचे दी गयी तालिका को इंगलैण्ड के समूचे ऐन्द्रिक अपराधों की तालिका नहीं मान लेना चाहिए। सभी अपराध अदालत के सामने नहीं आ पाते।

अपराध	पुलिस की जानकारी में अपराध		जितने मामले जाँच से पूरे किये गये		संख्या—जितने व्यक्तियों के प्रति कार्यवाही की गयी	
	१९३८	१९४७	१९३८	१९४७	१९३८	१९४७
१. अप्राकृतिक व्यभिचार	१३४	२५५	१२४	२३३	७०	१३०
२. अप्राकृतिक व्यभिचार का प्रयत्न	८२२	१८३९	७०१	१४६३	४३३	५८९
३. पुरुषों के साथ अभद्र व्यवहार	३२०	६९०	३०७	६०७	२२०	३०२
४. बलात्कार	९९	२४०	८२	१७८	७२	११४
५. महिलाओं पर प्रहार	२५९३	५०५२	२०९०	३२१२	१४९७	१८८३
६. १३ वर्ष की उम्र से कम कन्याओं को भ्रष्ट करना	८०	११५	७६	१०३	४८	६३
७. १३-१६ वर्ष की कन्याओं को भ्रष्ट करना	४७७	६७५	४२७	५५५	३२८	३००
८. अति निकट रिश्तेदारों के साथ दुराचार	७४	१५२	६९	१३७	५९	९५

[1] Joint Committee on Psychiatry and Law, British Medical Association and the Magistrates' Association, Report published in 1949.

इंगलैण्ड में वासना के अपराधों में वृद्धि

सन् १९५० के बाद इंगलैण्ड तथा वेल्स में कामवासना के अपराधों में कितनी वृद्धि हुई है, इसकी जानकारी नीचे लिखे तीन वर्षों की संख्या से स्पष्ट होगी। यह आँकड़े दण्डनीय अपराधों के हैं।

	अपराध	१९५९	१९६०	१९६१
१.	गर्भपात कराना	१५४	२२१	२४५
२.	सन्तान का जन्म छिपाना	३१	२४	३१
३.	अप्राकृतिक व्यभिचार	७०६	६४१	७२८
४.	अप्राकृतिक व्यभिचार का प्रयत्न	३४२०	३०९५	३२२४
५.	पुरुष-सह-मैथुन	१६०६	१५०४	१६५८
६.	१३ वर्ष या कम उम्र की लड़की से नाजायज़ मैथुन	५१२	४१५	५०३
७.	१३ वर्ष से १६ वर्ष की लड़की से नाजायज़ मैथुन	९६२४	९६६३	९२८८
८.	भाई-बहन, माता-पुत्र, पुत्री-पिता का मैथुन	२८५	२३२	२२९
९.	कुटनीपन	६९	४८	६६
१०.	लड़की भगाना	४४	६०	७१
११.	द्विपत्नी	३१५	२८५	२८६

संयुक्त राज्य अमेरिका में

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १९६१ में १९,२६,०९० भयंकर अपराध हुए थे। यह संख्या सन् १९६० की संख्या से ३ प्रतिशत अधिक थी। प्रति मिनट वहाँ पर चार भयंकर अपराध होते हैं। प्रति ३३ मिनट पर बलात्कार—ज़बर्दस्ती सम्भोग का एक अपराध होता है। सन् १९६० में ३,२५१ नगरों में, जिनकी आबादी ९,५५,३८,१२७ थी, बलात्कार के ८,४०९ मामले हुए। सन् १९६१ में यह संख्या बढ़कर ८,५२५ हो गयी थी यानी १·४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। ४,१४२ नगरों में (आबादी १०,५२,८९,८४०) में ज़बर्दस्ती बलात्कार के १०,२६० मामले हुए यानी फ़ी १ लाख की जनसंख्या में ९·७ बलात्कार के अपराध का औसत रहा। समूचे देश (संयुक्त राज्य अमेरिका) में सन् १९६१ में ज़बर्दस्ती बलात्कार के १६,०१० अपराध हुए यानी फ़ी एक लाख की जनसंख्या में ८·८ का औसत रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका के २७७६ नगरों में, जिनकी जनसंख्या ८,५१,५८,३०० थी, सन् १९६१ में वेश्यावृत्ति तथा वेश्यालय चलाने के अपराध में २६,८४३ गिरफ़्तारियाँ हुई

थीं जिनमें ७,५६३ पुरुष तथा १६,२८० स्त्रियाँ थीं। वासना के अन्य अपराधों में ३७,६५२ पुरुष तथा ८,५५२ स्त्रियाँ पकड़ी गयी थीं। देहातों में वासना के अपराध नगर की तुलना में काफ़ी कम हैं। वेश्यावृत्ति आदि के लिए १०६१ ग्रामों में—जनसंख्या ३,०२,५३,६३७—६८६ गिरफ़्तारियाँ हुईं तथा वासना के ६८४० अन्य अपराधों में ज़बर्दस्ती बलात्कार के २०१३ मामले ही हुए थे।

११,५४,१२२,६७ की आबादी वाले ३८३७ नगरों में बलात्कार के लिए ६,१५६, वेश्यावृत्ति आदि के लिए २७, ५२६ तथा काम वासना के अन्य अपराधों के लिए ५३,०४४ गिरफ़्तारियाँ हुईं। ऐसे अपराधों में कम उम्र के लड़के लड़कियों का योगदान भी चिन्ताजनक है।

२५०० से ऊपर की आबादी वाले कुल १,६३७ नगरों में, जिनकी कुल जनसंख्या ७,३५,२२,०४४ थी, सन् १६६१ में १८ वर्ष से कम उम्र के १२६२ लड़के गिरफ़्तार हुए थे। वेश्यावृत्ति तथा भठियारखाना चलाने के अपराध में १४४ लड़के तथा ३७० लड़कियाँ पकड़ी गयी थीं। ३,०२,५३,६३७ की आबादी वाले १,०६१ देहातों में २१ वर्ष से कम उम्र के ७४० लड़के-लड़कियाँ थे, जिनमें वेश्यावृत्ति आदि के लिए ७३ तथा वासना के अन्य अपराधों के लिए २,१४५ पकड़े गये थे।[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे महान् देश की यह हालत है। किन्तु, अपराधों में इतनी वृद्धि का कारण क्या हो सकता है? फ़ेडरल रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा हुआ है कि "जिस तरह बिना ठीक से पता लगे किसी बीमारी का इलाज नहीं हो सकता, उसी प्रकार अपराध की रोकथाम के लिए उसकी पूरी छान-बीन करनी पड़ेगी। अपराध एक सामाजिक समस्या है। समूचे समुदाय से सम्बन्ध रखती है। केवल पुलिस ही इसे नहीं रोक सकती।"

काम वासना का अपराधी जेल से अधिक डाक्टरी चिकित्सा का पात्र है। मनोविज्ञान ने सह-मैथुन को भी शारीरिक तथा मानसिक कारणों का परिणाम माना है। उनका कहना है कि जेल भेजकर तो हालत और भी ख़राब हो जाती है। कभी-कभी सह-मैथुन शरीर की रचना, इन्द्रिय की रचना के दोष से भी होता है। पर इसका यह मतलब नहीं है कि लड़कों को ख़राब करने वालों को दण्ड नहीं देना है। ऊपर हमने जिस समिति का ज़िक्र किया है उसकी यह राय जरूर थी कि यदि दोनों पक्ष राजी होकर सह-मैथुन करें तो दण्ड देने की जरूरत नहीं है। दवा करने की जरूरत है। इसीलिए

[1] *Crime in the United States* : Federal Bureau of Investigation, Govt. of United States, Uniform Crime Reports, 1961. Published, July 12, 1962.

बहुत-से देशों में, जैसे कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में, वासना के बाल-अपराधियों की निश्चयतः डाक्टरी परीक्षा तथा चिकित्सा करायी जाती है। ब्रिटिश मेडिकल एसोशियेसन की रिपोर्ट में यह भी सिफ़ारिश की गयी है कि ऐसे अपराधियों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। इनको आज़ाद करके प्रोबेशन अफ़सर की कड़ी निगरानी में रखना चाहिए। ऐसे अपराधियों की देखरेख करने वाले प्रोबेशन अफ़सर काफ़ी अनुभवी तथा ट्रेण्ड होने चाहिए। बाल अपराधियों के प्रथम अपराध में थोड़ी-सी भी देखरेख पर्याप्त होती है। ईस्ट ह्यूबार्ट की रिपोर्ट में राय दी गयी है कि ऐसे अपराधों को मनोविश्लेषणिक कार्य के लिए जेल के एक भाग में अलग रखना चाहिए। इन पर आर्थिक जुर्माना करने से कोई लाभ नहीं होता। यदि अपराधी को जेल भेजना ज़रूरी हो तो थोड़ी अवधि की सज़ा नहीं होनी चाहिए। ब्रिटिश मेडिकल एसोशियेसन की ध्रुव राय है कि छोटी अवधि की क़ैद से कामवासना के अपराधी का कोई कल्याण नहीं होता। ऐसे अपराधी के लिए उत्तर-रक्षा का कार्य ही नितान्त आवश्यक है। यदि अपराधी जेल में रहे या बाहर, आरक्षण अधिकारी, पुलिस तथा जेल का घनिष्ठ सम्बन्ध रहना ही चाहिए। ब्रिटिश मेडिकल एसोशियेसन की राय यहाँ तक है कि कामवासना के अपराधी के बारे में अदालतों को चिकित्सकों से सलाह लेना अनिवार्य कर देना चाहिए। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जब से मनुष्य ने जन्म लिया कामवासना के अपराध होते ही रहे हैं। हीली लेखक ने इस पर बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है।[१]

संतुलित अध्ययन की आवश्यकता

मानव के इतिहास में ऐसा कोई युग कभी नहीं था जब ऐन्द्रिक अपराध न होते रहे हों। हीली लेखक ने उल्लेख किया है कि वैसा ही आज भी हुआ करता है। उन्होंने एक अमेरिकन स्त्री का वर्णन किया है जो मृगी की बीमारी की शिकार थी। फिर उसने उसी बीमारी को अपना व्यवसाय बना लिया था। वह रास्ता चलते किसी भले आदमी पर गिर पड़ती थी। दयावश वह बिचारा उसे सँभालने लगता था। इसी क्रिया के बीच में उसकी जेब ख़ाली कर ली जाती थी। आवारा घूमने वालों में सह-मैथुन प्रायः आदत का रूप धारण कर लेता है। पर, चाहे आवारा हो या धूर्त स्त्री या वासना का अपराधी, कोई भी जन्मजात अपराधी नहीं होता। हर एक अपराधी के व्यक्तिगत अध्ययन से यह बात साफ़ हो जाती है कि जन्मजात अपराधी कोई भी नहीं है। प्रो० रेमन्ड

१ William Healy : *The Individual Delinquency*, Little Brown and Company, Boston, 1927.

और यूजीन कान ने सही कहा है कि जितने व्यक्ति हैं उतने ही भिन्न-भिन्न कारण भी उनके अपराध के होते हैं।

संसार में हरेक व्यक्ति में या तो सृजन की प्रेरणा होती है या संहार की। इनमें से जिस प्रवृत्ति या प्रेरणा का जिस सीमा तक शमन कर लिया जाता है, वैसा ही व्यक्तित्व निखर उठता है। सृजन की भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति वास्तविक सच्चा नागरिक होता है। संहार की भावना वाला व्यक्ति ही आगे चलकर आदतन अपराधी बन जाता है। ज़रूरत इस बात की है कि उसकी ऐसी भावना को शान्त करा दिया जाय तो वह बदल जायगा। पर ऐसी भावनाएँ कारागार की चहारदीवारी में बिरले ही शान्त हो सकती हैं।

अपराध का जन्म तथा विकास सभ्यता के जन्म तथा विकास के साथ होता है। सभ्यता की बढ़ती से ही युद्ध, विप्लव, क्रान्ति आदि चीज़ें पैदा होती हैं। असभ्य कहे जाने वाले लोग तो आत्म-रक्षा के लिए लड़ते थे। सभ्य लोग दूसरों का अपहरण करने के लिए प्राण लेते और देते हैं। इसीलिए हमारे पूर्व पुरुष हमसे कहीं कम अपराधी थे। वे अपने जीवन की मौलिक आवश्यकताओं के लिए लड़ते थे। हम दूसरों का सर्वस्व लूट लेने के लिए लड़ते हैं। हर एक अपहरण-कर्त्ता भी अपराधी है।

चाहे बड़ा सामाजिक वर्ग हो या छोटा, हरेक की अपनी परम्परा, परिपाटी, विश्वास आदि होते हैं। ये तीनों चीज़ें उस समाज की रक्षा तथा संगठन के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। कुछ ऐसे भी वर्ग हैं जिनमें चोरी, नरमांस भक्षण, बच्चों को मार डालना, धोखा देना आदि अपराध नहीं, गुण समझा जाता है। कुछ ऐसे वर्ग भी हैं जिनकी दृष्टि में सबसे बड़ा अपराध दैवी शक्तियों का अनादर करना है। कई समूहों में शिकार करने के नियमों के तोड़ने पर ही प्राणदण्ड हो जाता है। कुछ समाज में लड़की पैदा होने पर उसे मार डालना या माता पिता के बूढ़े हो जाने पर, उनमें कार्य करने की शक्ति के समाप्त हो जाने पर भूखों तड़पाकर मार डालना उचित समझा जाता है। न तो ऐसे कार्य को वे बुरा समझते हैं और न पाप ही समझते हैं। इंगलैण्ड ऐसे सभ्य देश में उन्नीसवीं सदी तक यह नियम चालू था कि यदि कोई चाहे तो अपनी स्त्री को एक पाई मूल्य लेकर भी बाजार में बेच सकता था।

दण्ड या चिकित्सा

इसीलिए किसी को दण्ड देने से पूर्व हमको सोच लेना चाहिए कि हम किस बात के लिए दण्ड दे रहे हैं। यदि दण्ड देने का लक्ष्य मन की शुद्धि है तो इससे मन शुद्ध हो रहा है या केवल शरीर को पीड़ा पहुँच रही है, यह भी सोच लेना चाहिए। पर मन की शुद्धि की बात सोचने वाले को यह नहीं

भूलना चाहिए कि सफ़ाई वहीं होती है जहाँ गर्द की सत्ता पहले से वर्तमान है। क्या अपराधी वास्तव में गन्दी चीज़ है? फिर, गर्द भी अस्वाभाविक वस्तु नहीं है। डिज़रायली नामक प्रमुख विद्वान् तथा वक्ता कहा करते थे कि किसी व्यक्ति की असली पहचान उसकी आवाज़ होती है। पर साधारणतः आसानी से किसी की आवाज को सुनकर उसके गुणी या अवगुणी होने का अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। इसी तरह यह भी कहना कठिन है कि जेल के सींकचों के भीतर बन्द व्यक्ति बाहर के व्यक्ति से अधिक गँदला है। फ़र्क़ यही हो सकता है कि जो जेल के बाहर है उसमें अपने मन को रोक रखने की अधिक शक्ति है। बस इतना ही। इसलिए जो जेल के भीतर है, उसमें केवल इतनी शक्ति पैदा कर देने से कि वह अपने मन को क़ाबू में कर सके, हम अधिक कल्याण का कार्य करेंगे।

कामवासना के अपराधों के बारे में हम एक अहम बात भूल जाते हैं। यह तो साबित हो चुका है कि माता के गर्भ में पड़ा बच्चा अपनी माता के सुख, दुख, स्वाद, आनन्द आदि हरेक अनुभव का रस प्राप्त करता है। अतएव यदि गर्भवती माता मैथुन का आनन्द लेगी तो पेट की सन्तान को भी कामवासना का सुख प्राप्त होगा। इसलिए प्रायः बच्चे ऐन्द्रिक सुख की नसीहत माँ के पेट से प्राप्त करके ही जन्म लेते हैं। ऐसे बच्चों को जन्मजात अपराधी कहा जा सकता है पर इन्होंने जो कुछ सीखा है, वह इनका अपना कुछ नहीं है, इनकी पैतृक सम्पत्ति मात्र है। दूसरे, एक बात और भी है। ऐसी वासनामय प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न सन्तति विवाह के बाद स्वयं अपने दोष को अपनी सन्तान में दे दिया करती है। तीसरे, सदोष तथा अस्वस्थ वैवाहिक-सम्बन्ध के कारण भी अपराधशील सन्तान उत्पन्न होती है। इस तीसरी बात पर ज़रा विचार कर लेना चाहिए।

विवाह का सिद्धान्त

विवाह के बारे में एक सिद्धान्त यह भी है कि स-गोत्री, अपने ही परिवार में तथा बहुत नज़दीक की रिश्तेदारी में विवाह करने से बड़ी दोषी सन्तान पैदा होती है। हिन्दू शास्त्र में सगोत्री-सपिण्डी (मरने पर जो पिण्डदान दे सके) तथा ऐसे निकट वाले सम्बन्ध की कड़ी मनाही है। प्राचीन स्पार्टा देश की सभ्यता तथा राज्य के नष्ट हो जाने का प्रमुख कारण उस देश की विवाह प्रथा थी। एक अँधेरे कमरे में अविवाहित युवतियाँ तथा युवक बन्द कर दिये जाते थे। जो जिसका हाथ अँधेरे में पकड़कर बाहर निकल आये, उसी से शादी हो जाती थी, चाहे सगे भाई-बहन ही क्यों न हों। प्राचीन यूनान में सगे भाई-बहन के विवाह की प्रथा पूरी तरह से चालू थी। प्राचीन रोम में ऐन्द्रिक वासना तथा लोलुपता चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। आज के ज़माने में फ्रांस अपनी विलासिता के लिए प्रसिद्ध है। पिछले दो महायुद्धों में वह बुरी तरह से पिट

गया। इसका कारण उसकी घोर कामुकता भी है। किसी देश की सभ्यता का अनुमान उस देश के साहित्य से लग सकता है। अनातोले फ्रांस ऐसे विद्वान दार्शनिक की रचनाएँ भी वासना के गन्ध से भरी हैं। उनका लिखा एकांकी नाटक है—"गूँगी औरत से विवाह करने वाले पुरुष के जीवन का हास्य।" इसमें बड़ी गन्दी पंक्तियाँ हैं जैसे "मैं केवल उस सुख की बात सोच रहा था जो उसके द्वारा प्राप्त करूँगा।"........."वह बदमाश मेरी बात ही नहीं सुन रहा है। वह तो रसोईघर में या तो वर्तनों को उलट रहा है या मज़दूरनी को।"[1] विवाह की पवित्रता तथा वासना की उचित पूर्ति का समाज के जीवन पर बड़ा भारी असर पड़ता है। कैसरलिंग लेखक ने ग़लत नहीं कहा था कि "बहुत कम लोग जानते हैं कि विवाह का क्या महत्व है।" स्टेकल ने लिखा है कि हरेक विवाह "प्रभुत्व" के लिए युद्ध बन गया है। स्त्री तथा पुरुष दोनों एक दूसरे के ऊपर अधिकारी बनना चाहते हैं। परस्पर-विरोधी भावनाओं तथा प्रवृत्तियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध से बड़ी दोषी सन्तान उत्पन्न होगी। प्राचीन दार्शनिक प्लेटो की ऐसी ही पुष्टि आजकल के ज़माने में काफ़ी खोज करके पादरी जी० आई० मेंडल ने की है।

सन् १२१३ में ईसाइयों की एक सभा ने यह आदेश दिया था कि चार पीढ़ी तक जिसके साथ रिश्तेदारी का सम्बन्ध न निकले, उसी के साथ विवाह करना चाहिए। हेनरी अष्टम् ने सगी साली के साथ विवाह करने की मनाही कर दी थी। बड़े पादरी पार्कर ने सन् १५६३ में एक तालिका बनायी थी कि किस सीमा तक विवाह वर्जित है। सन् १६०३ में इस निषेध को धार्मिक मान्यता दे दी गयी थी। स्पेन तथा पुर्तगाल में निकट रिश्तेदारी में शादी मना थी पर यदि किसी को ऐसा विवाह करना भी होता था यानी मामा, चाचा या साले की लड़की से विवाह करना होता तो पादरियों को काफ़ी घूस देकर "नियम के प्रतिबन्ध से मुक्ति" प्राप्त कर ली जाती थी। संयुक्त राज्य अमेरिका के १६ प्रदेशों में, जिनमें वाशिंगटन भी शामिल है, चाचा, मामा या साला की लड़की या चाची, मामी, साली से शादी वर्जित है।

भिन्न देशों में विवाह की भिन्न प्रथाएँ हैं। पर, वैज्ञानिक दृष्टि से पादरी मेंडल की बात में बड़ा दम है। यदि एक अपराधी स्त्री या पुरुष से विवाह हो जाय तो प्रायः दुर्गुण की प्रवृत्ति सन्तान में अधिक प्रबलता से पायी जाती है। पर, अच्छा गुण यदि प्रबल मात्रा में हुआ, चाहे पति में हो या पत्नी में, तो सन्तान में अच्छा गुण अधिक प्रबल होगा। पति-पत्नी में जिसका गुण अधिक प्रबल होगा वही सन्तान को अधिक मात्रा में प्राप्त होगा। एल्डरटन का कहना

[1] Anatole France : *The Comedy of the Man who Married a Mute Woman.*

है कि यदि अच्छे और बुरे गुण समान रूप से प्राप्य रिश्तेदारी में शादी हो तो २० फ़ीसदी सन्तान तो स्वस्थ होगी, २५ फ़ीसदी अस्वस्थ होगी।[१] समानरूपेण अच्छे चरित्र वालों का विवाह, चाहे वह निकट रिश्तेदारी में ही क्यों न हो, अच्छी चीज़ है पर सम-गुण वाले नज़दीकी रिश्तेदार बहुत कम, बहुत ही कम मिलते हैं।

सगे भाई-बहन की शादी के विषय में काफ़ी वैज्ञानिक खोज की गयी है। काफ़ी छानबीन की गयी है।[२] उससे पता चलता है कि पिता-माता तथा सन्तान के स्वभाव और गुणावगुण में जितनी समानता होती है उससे अधिक समानता भाई-बहन में होती है। प्रो० पियर्सन ने भतीजे तथा भतीजी के बीच समानता खोजने के लिए लगभग १४०० लड़के-लड़कियों की छानबीन की। कुल मिलाकर लगभग ३००० रिश्तेदारों की समीक्षा की गयी। इसी प्रकार चाचा-भतीजी आदि में भी समानता की खोज की गयी तो अनुमान यह निकला कि पहली पीढ़ी की रिश्तेदारी में भतीजे-भतीजी तथा भाई-बहन में सबसे अधिक मात्रा में समानता स्वास्थ्य तथा बुद्धिमत्ता में है पर सबसे कम समानता स्वभाव में है। वैज्ञानिक ढंग से सांकेतिक चिन्ह इस प्रकार निकले :

रिश्तेदारी		**सांकेतिक बिन्दु**
भाई-बहन, भतीजा-भतीजी-पहली पीढ़ी		
	स्वास्थ्य	·३३
	बुद्धिमत्ता	·३४
	सफलता	·२६
	स्वभाव	·१९
	मनोवृत्ति	·२३
चाची-भतीजा	आँखों का रंग	·३२
चचा-भतीजी	बुद्धिमत्ता	·२६
चाची-भतीजी आदि	स्वभाव	·१८
प्रथम पीढ़ी	मनोवृत्ति	·३४
मामा-भांजी,	आँखों का रंग	·३२
मामी-भांजा,	बुद्धिमत्ता	·२८
	स्वभाव	·१८
	मनोवृत्ति	·२२
पिता-माता की	आँखों का रंग	·३०
चाची-भाभी	बुद्धिमत्ता	·२३
तथा पिता माता के	स्वभाव	·१५
भतीजे आदि में	मनोवृत्ति	·२०

---

१ Ethel N. Elderton, *Garlton Research Scholar*.

२ Researches in Biometric & Eugenics Laboratories.

इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी रिश्तेदारियों में आपस में भेद प्रायः बराबर हैं। सर फ्रांसिस वेल्डन ने जो खोज़ शुरू की थी उसे प्रो० पियर्सन ने सन् १९०९ में पूरा कर दिया। स्वभाव की बात साफ़ है। निकट रिश्तेदारियों में स्वभाव की असमानता इतनी स्पष्ट है कि ऐसे विवाह नहीं होने चाहिए। अन्ततोगत्वा इनका परिणाम अच्छा नहीं होगा और सन्तान दोषपूर्ण पैदा होगी।

एक बात और है। सगोत्री तथा सपिण्डी विवाह का एक और बुरा परिणाम होता है। ऐसे विवाहों से बहरे, लूले, पंगु बच्चे पैदा होते हैं। सन् १६७३ में सायमन डुगार्ड ने एक पर्चा छपवाया था जिसमें यही बात साबित की गयी थी।[1] सायमन डुगार्ड ने साबित किया था कि ऐसे विवाहों में बाँझपन आ जाता है। पोप ग्रेगरी प्रथम ने भी कहा था कि इस प्रकार के विवाह सन्तान-हीन होते हैं।

पियर्सन तथा नेटलशिप नामक विद्वानों ने ११३ निकट सम्बन्धी तथा २२४ असम्बन्धित विवाहितों की समीक्षा की तो पता चला कि दोनों प्रकार के विवाहों में सन्तान का औसत ५-६ तथा ५-४ था यानी बराबर-सा था। अतएव बाँझपन की बात तो नहीं साबित हुई। पर, कोलम्बिया विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर आर्नर ने खोज करके यह साबित किया है कि अमेरिकन जनसंख्या में २० वर्ष से कम उम्र के मरने वालों में १६·७ प्रतिशत बहुत नज़दीकी रिश्तेदारों की सन्तान होती हैं तथा ११·६ प्रतिशत असम्बन्धित पति-पत्नियों की सन्तान हैं। प्रसिद्ध विद्वान डार्विन भी निकट सम्बन्धियों के विवाह के विरुद्ध थे।

पुराने ज़माने में नज़दीकी रिश्तेदारों में विवाह प्रायः नहीं होते थे। पर आज की सभ्यता में ये बातें मूर्खतापूर्ण समझी जाती हैं। डार्विन ने लिखा है कि सन् १८७२-७३ के बीच में इंगलैण्ड में जितने विवाह हुए उनमें से नज़दीकी रिश्तेदारों का औसत १ प्रतिशत ही था। दूर के रिश्तेदारों का परस्पर विवाह २५ प्रतिशत था। कुछ वर्षों बाद दूर के रिश्तेदारों का विवाह भी घटकर ३·४१ प्रतिशत हो गया था। पचास साल बाद इंगलैण्ड में सपिण्डी विवाह १·३८ प्रतिशत रह गया था। प्रो० पियर्सन ने पता लगाया था कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इंगलैण्ड में ४·७ प्रतिशत सपिण्डी विवाह होते थे। प्रो० आर्नर ने हिसाब लगाया था कि अमेरिका में ऐसे विवाहों का औसत पाँच प्रतिशत हो गया था। प्रो० पीट कहते हैं कि पाँच नहीं, दो प्रतिशत ही था।

---

[1] Simon Dugard : *The Marriage of Cousin Germans Vindicated from the Causes of Unlawfulness and Expediency.*

आयरलैण्ड की एक पुरानी जनगणना से पता चलता है कि सपिण्डी विवाह के कारण उस देश में जो सन्तान पैदा हुई थी उसमें ७ प्रतिशत गूँगे-बहरे थे। यह बड़े मार्के की गणना है। सन् १८६५ में सर आर्च माइकेल ने यह पता लगाया था कि ऐसी सन्तान में पागलपन या उन्माद की बीमारी भी अधिक मात्रा में होती है। अमेरिका के श्री फ़े का कहना है कि निकट सम्बन्धी विवाह से ३ प्रतिशत गूँगी-बहरी सन्तान पैदा होती है। इस प्रकार सपिण्डी तथा सगोत्री विवाह से रोगी तथा दोषी सन्तान पैदा होती है। इसीलिए हम यह क्यों मान लें कि आजकल अपराध बढ़ने का कारण यह भी है कि दोषपूर्ण विवाह, मुक्त प्रेम वाले विवाह बढ़ते चले जा रहे हैं तथा वैवाहिक जीवन की मर्यादा के घटने के कारण समाज का नैतिक पतन होता जा रहा है। यही नहीं, अनेक बीमारियाँ बढ़ती जा रही हैं। कहते हैं कि ४ से ६ प्रतिशत क्षयी के मरीज़ अनुचित विवाह के कारण रोगी पैदा हुए हैं। रज-वीर्य में जो दोष होता है, उसका फल सन्तान को भोगना ही पड़ेगा। हर एक नियम के अपवाद होते हैं। कुछ अति स्वस्थ चरित्रवान् निकट सम्बन्धी विवाह भी हो सकते हैं। पर सामाजिक नियम अपवादों को लेकर नहीं बनते। बहुतायत के लिए जो लागू हो, वही सामाजिक नियम श्रेष्ठ होता है।

काम-वासना तो एक प्रकट सत्य है। यूनानी कथा है कि शुरू में जब सृष्टि बनी एक ही प्राणी में पुरुष तथा स्त्री दोनों की योनियाँ वर्तमान थीं। ऐसा प्राणी बड़ा भयंकर बलवान था। इसलिए भगवान ने अपोलो देवता से कहा कि इस प्राणी के दो टुकड़े कर दो। तब से स्त्री तथा पुरुष अलग हो गये। पर चूँकि वे शुरू में एक थे अतएव तभी से दोनों एक होने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह तो कथा की बात हुई पर ऐसा भी एक होना क्या कि उससे अवगुणी तथा दोषपूर्ण सन्तान पैदा होकर समाज को गड्ढे में डालती चले।

बन्दियों में काम-वासना

जब स्वतन्त्र नागरिक में काम-वासना का इतना प्राबल्य है तो जेल में बन्द स्त्री-पुरुष को हम इस वासना से मुक्त कैसे समझ लें। उनको अपनी वासना शान्त करने का अवसर नहीं मिलता है इसलिए वे सह-मैथुन आदि करते रहते हैं। आधुनिक दण्डशास्त्र इस वासना की छानबीन कर रहा है। सब कुछ ध्यान में रखकर यह बात सोची जा रही है कि ऐसी वासना को वहीं तक शान्त करने का अवसर दिया जाय जहाँ तक कि उससे पारिवारिक जीवन की दृढ़ता तथा परिपक्वता बढ़े। शिकागो के जान हावर्ड एसोशियेसन के श्री यूजीन एस० ज़मान तथा इलिनाय नगर के राकफ़र्ड कालेज के समाज-विज्ञान की रूथ शोनले कवान ने इस बारे में काफ़ी रोचक छानबीन की है। उन्होंने

प्रो० श्रीमती एक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित किया है ।[1] वे लिखती हैं :—निजी जीवन के निर्माण में विवाह का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इसलिए जेलों में जो क़ैदी बन्द हैं उनकी वासना की तृप्ति का उसी अंश तक ध्यान रखा जाय जहाँ तक उनके पारिवारिक जीवन को पुष्टि मिले । यदि ऐसा जीवन जेल में रहते हुए पुष्ट रखा गया तो बन्दी के बाहर निकलने पर भी समाज में प्रवेश पाने में सुगमता होगी । इसीलिए यदि बन्दी पति को जेल में अपनी पत्नि से मिलने की अनुमति दी गयी तो उसके दो लक्ष्य होने चाहिए—

१—जेल के जीवन में उसका मानसिक संघर्ष कम हो तथा
२—जेल से छूटने पर उसके पुनर्वास में सहायता मिले ।

नीचे लिखे बीस देशों में पति को अपनी पत्नी से मिलने की इजाज़त है । पर ऐसी भेंट एकान्त में नहीं हो सकती । वहाँ पर पहरेदार मौजूद रहता है । ऐसी मुलाक़ात की अवधि प्रायः तीस मिनट रहती है :—

(१) इंगलैण्ड और वेल्स
(२) उत्तरी आयरलैण्ड
(३) स्कॉटलैण्ड
(४) कनाडा
(५) आस्ट्रेलिया
(६) न्यूज़ीलैण्ड
(७) दक्षिण अफ्रिका
(८) डेनमार्क
(९) स्वीडन
(१०) फ्रांस
(११) वेल्जियम
(१२) स्विटज़रलैण्ड
(१३) नीदरलैण्ड
(१४) जर्मनी
(१५) आस्ट्रिया
(१६) इटली
(१७) यूनान
(१८) यूगोस्लाविया

[1] Ruth Shonle Cavan and Eugene S. Zemans : *Marital Relationships of Prisoners in Twenty-eight Countries*, The Journal of Criminology and Police Science, July-August, 1953.

(१९) संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ प्रदेश
(२०) भारतवर्ष

और भी कुछ ऐसे देश होंगे जो यह अनुमति देते हैं पर हमको उनकी ठीक से जानकारी नहीं है। कुछ देशों में ३० मिनट से लेकर दो घण्टे तक ऐसी भेंट हो सकती है। डेनमार्क में दूर से आने वाली पत्नी को ३० मिनट तक, फ्रांस में डेढ़ घण्टे तक, कुछ प्रदेशों में महीने में दो बार आध घंटे तक, या फिर दस मिनट तक की ही आज्ञा दी जाती है। भारत में मिलने के लिए पत्नी होने के नाते कोई विशेष अधिकार नहीं होता। उत्तर प्रदेश के सम्पूर्णानन्द शिविरों में पत्नी से मिलने के लिए विशेष सुविधा दी जाती है। राजस्थान में जयपुर से कुछ मील दूर पर एक कृषिशाला में कुछ क़ैदी काम करते हैं। उनको अपनी स्त्री के साथ रहने के लिए अलग क्वार्टर मिला हुआ है। एक सम्पूर्णानन्द शिविर में महीने में दो या तीन मिलाई भी हो सकती हैं। यह ध्यान रहे कि किसी भी देश में पत्नी बन्दी को अपने स्वतन्त्र पति से मिलने की—एकान्त में मिलने की—कोई सुविधा नहीं है। जेल में स्त्री के गर्भवती हो जाने का भय रहता है या अन्य सामाजिक परेशानियाँ पैदा हो सकती हैं।

पति-पत्नी के मिलने के सम्बन्ध में सबसे उदार नियम स्वीडन में है। वहाँ पर प्रति रविवार को एकान्त कमरे में पति अपनी पत्नी से ३० मिनट तक मिल सकता है। जिन क़ैदियों का काम काफ़ी अच्छा होता है उन्हें इनाम के तौर पर पचास मिनट तक की सुविधा दे दी जाती है।

उत्तर प्रदेश, भारत में तत्कालीन गृह मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने सन् १९५४ से "जेल से छुट्टी" का नियम लागू किया था। सन् १९६१ से यह नियम इंगलैण्ड तथा वेल्स में भी लागू हो गया है। उत्तर प्रदेश में तीन वर्ष की सज़ा भोगने के बाद आवश्यक ज़मानत देकर बन्दी एक महीने के लिए घर जा सकता है। इंगलैण्ड तथा वेल्स में सज़ा की मियाद पूरी होने के कुछ ही समय पूर्व बन्दी को पाँच दिन तक घर जाने की इजाज़त मिलती है ताकि वह अपना पुराना सम्बन्ध ताज़ा कर आये और अपने को पुनः स्थापित करने का प्रबन्ध कर सके। उत्तरी आयरलैण्ड में एक वर्ष की सज़ा भोग लेने के बाद कतिपय श्रेणी के क़ैदियों को बड़ा दिन का त्यौहार या गर्मी के ऋतु का आनन्द लेने के लिए कुछ दिनों की छुट्टी मिल जाती है। डेनमार्क में यही सुविधा बाल अपराधियों को भी दी जाती है। स्विटज़रलैण्ड में कतिपय श्रेणी के बन्दियों को ८ से २४ घण्टे की छुट्टी घर जाने के लिए दी जाती है।

हमने ऊपर कवान तथा ज़मान्स लेखकों की शोध का ज़िक्र किया है। वे लिखते हैं—

"संयुक्त राज्य अमेरिका में जेल में पति-पत्नी के मिलन को महत्व नहीं

दिया जाता है। उनका कहना है कि इससे तो केवल शारीरिक वासना की तृप्ति होती है। अमेरिकन लोग इस बात को ज़्यादा पसन्द करते हैं कि बन्दी घर जाकर अपने पारिवारिक जीवन की शृंखला को मज़बूत बनायें, क़ैदियों के खुले उपनिवेशों में वे अपनी पत्नियों के साथ रहें जिससे उनका सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार का पुनः स्थापन हो जाय। कितने ही देशों की हमने छानबीन की उनमें संयुक्तराज्य अमेरिका से भी अधिक यही भावना व्याप्त पायी गयी कि समूचा पारिवारिक जीवन पुनः स्थापित हो।"

मासिक धर्म की उम्र

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब जेल के भीतर बन्द लोगों की काम-वासना पर काफ़ी विचार किया जा रहा है तो जेल के बाहर वालों के बारे में भी यही बात काफ़ी विचारणीय क्यों न हो? फ्रांज़ एक्ज़नर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में अपराधियों की शारीरिक समस्या पर बड़ा अच्छा विचार किया है।[1] पर, वासना की समस्या भी तो मूलतः शारीरिक समस्या है। एक्ज़नर का कहना है कि आज के ज़माने में जानबूझकर की गयी हत्याएँ तो कम हो रही हैं पर लापरवाही से जान ले लेने की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। वेस्टरमार्क ने भी इस बारे में बहुत लिखा है। पर पॉल रेवाल्ड तो कहते हैं कि बड़े शहरों के जीवन को विषैला करने में "ऐन्द्रिक सुख-भोग की तरफ़ आज की मनोवृत्ति", में वेश्यावृत्ति, छापामार विलासी आदि का बहुत बड़ा हाथ है।

पर, एक बात की ओर हम विशेष ध्यान दिलाना चाहते हैं। हमारे देश का प्राचीन सिद्धान्त था कि "अष्ट वर्षा भवेत् गौरी, दश वर्षेतु रोहिणी।" कन्या के विकास की उम्र को भूल जाने के कारण हमारी लापरवाही से बड़े दोष पैदा हो गये हैं। शहरों में विवाह बड़ी देर में होता है। देहातों में जल्दी होता है। इस प्रथा के गुण-दोष की बात जाने दीजिए। अहम बात यह है कि अपने बच्चों को नादान समझकर हम उनके प्रति काफ़ी देर तक उदासीन रहते हैं। वासना का उद्रेक मासिक धर्म के प्रारम्भ के साथ होता है। उस समय जो योनि परिवर्तन होता है, उसी को ध्यान में रखना चाहिए। लेखक किश ने इस सम्बन्ध में बहुत खोज़ की है।[2] उनका कहना है कि मासिक धर्म के शुरू होते ही कन्या में प्रेम की भूख पैदा हो जाती है। आजकल के सिनेमा-थियेटर इस भूख को और भी तीव्र कर देते हैं। लड़कियों की तुलना में लड़कों

Franz Exner : *Criminal Biology*, p. 17.

E. H. Kisch : *The Sexual Life of Women in its Physiological, Methodological and Hygienic Aspects*, London, Robinson and Co., 1916, p. 37.

में यौवन देर में आता है। प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र के पिता सुश्रुत ने कन्याओं के मासिक धर्म के समय के बारे में बड़े बन्धन और नियम इसीलिए बनाये थे कि रजस्वला होने के दोषों में ज़्यादा से ज़्यादा कमी की जा सके।

जे० केनेडी ने सन् १९३३ में इटली तथा सोवियत रूस की १०,००० के लगभग लड़कियों की जाँच करके जानना चाहा था कि स्थान, आबोहवा आदि का मासिक धर्म शुरू होने की उम्र पर क्या प्रभाव पड़ता है। उनका कहना है कि इन बातों का कोई असर नहीं पड़ता। पर नार्वे सरकार के एक प्रकाशन का कहना है कि जाति, परिवार, सामाजिक रीति-रिवाज तथा आबोहवा का असर पड़ता है।[1] समाज के उच्च स्तर में, देहाती महिलाओं की तुलना में, मासिक धर्म अधिक शीघ्र प्रारम्भ होता है। तन्दुरुस्त तथा गठीली बदन वाली लड़कियों को मासिक धर्म जल्दी होता है। पर हाथ-पैर से परिश्रम करने वाली लड़कियों में, ख़ासतौर पर देहाती लड़कियों में मासिक धर्म देर से शुरू होता है। सन् १९३४ में एंगेल तथा श्लेनेस्निक ने लिखा था कि अधिकांश लड़कियों को ११ से १६ वर्ष की उम्र में मासिक धर्म हो जाता है। औसतन उम्र १३ वर्ष ४ महीना समझना चाहिए। केनेडी ने एडिनबर्ग में १०,२१९ लड़कियों से पूछकर सन् १९५७-६० के बीच में यह फ़ैसला किया कि १५ वर्ष की उम्र से ऋतु धर्म की शुरूआत होती है। डेली ने सन् १९४७ में रिपोर्ट दी थी कि पेरू में साढ़े पाँच साल की उम्र में ही लड़कियों को मासिक धर्म शुरू हो जाता है। दक्षिण अमेरिका में आजकल १३·४ वर्ष का औसत माना जाता है।

हमारे देश में डा० बनर्जी और डा० मुकर्जी ने इस सम्बन्ध में चिकित्सा-सम्बन्धी एक मासिक पत्र में बड़ा गवेषणापूर्ण लेख लिखा है।[2] भारत में रहने वाली ११६ लड़कियों की परीक्षा की गयी तो १८·२ प्रतिशत यानी २१ का १३ वर्ष, ३०·२ प्रतिशत यानी ३५ का १४ वर्ष, ९ प्रतिशत यानी १२ का १५ वर्ष, १५ का १५ वर्ष तथा ०·९ प्रतिशत यानी १ का १८ वर्ष निकला। एशियाई-यूरोपियन की सन्तान यानी ४१८ यूरेशियन तथा ऐंग्लो इण्डियन लड़कियों की परीक्षा की गयी तो ७८·० प्रतिशत यानी ११७ का मासिक धर्म १३ वर्ष की उम्र में शुरू हो गया था। ११७ लड़कियों का यानी २९·८ प्रतिशत का मासिक धर्म १४ वर्ष की उम्र में शुरू हुआ था।

Norwegian Statistical Annual, 1937.

Dr. J. Banerjee and Dr. S. P. Mukherjee : *Journal of Indian Medical Association*, Calcutta, September 16, 1961, pp. 261-269.

८९३ भारतीय हिन्दू तथा मुस्लिम लड़कियों की जाँच की गयी तो पता चला कि—

२९६	—	३३·१५ प्रतिशत	—	११ वर्ष
२७१	—	३०·३६ प्रतिशत	—	१२ वर्ष
१४४	—	१६·३ प्रतिशत	—	१३ वर्ष
१	—	०·११ प्रतिशत	—	१८ वर्ष

में मासिक धर्म शुरू हुआ। उच्च परिवार की २० लड़कियों में से आधी यानी पचास प्रतिशत का यह समय ११ वर्ष से ही प्रारम्भ हुआ था तथा ८ यानी ४० प्रतिशत का १२ वर्ष से। वर्ण के विचार से आँकड़ा इस प्रकार होगा।

वर्ण	संख्या	औसत उम्र
कलकत्ता—ब्राह्मण कन्या	१५३	१२·७०
कलकत्ता—वैश्य जाति की कन्या	२७५	१२·७०
कलकत्ता—कायस्थ	२१९	१२·८७
	६४७	१२·७३

आसाम प्रदेश में औसतन १२·१२ से १२·४६ वर्ष की उम्र से मासिक धर्म शुरू हो जाता है। यद्यपि हम ऊपर लिख आये हैं कि आजकल लड़के-लड़कियों में पूर्व काल की तुलना में यौवन संचार पाँच वर्ष पहले हो जाता है पर उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि मासिक धर्म के पाँच साल पहले लड़कियाँ तथा वीर्य-संचार के पाँच साल पहले लड़के कामवासना की भावना को ग्रहण करने लगते हैं। पर, पिछले पचास साल में मासिक धर्म की उम्र में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। नीचे की तालिका से यही बात सिद्ध होती है—

प्रदेश या नगर	**खोज करने वाले**	**वर्ष**	**संख्या जिनकी परीक्षा की गयी**	**मासिक धर्म शुरू होने की औसत उम्र**
बम्बई	राबर्टसन	१८४६	२३०	१३·६
कलकत्ता	गुप्ता	१८४८	३७	१२·३८
बम्बई	बख्शी	१९५७	३७२	१२·७
आन्ध्र	सीठा	१९५७	१००	१३·५६
पश्चिमी बंगाल	बैनर्जी और मुकर्जी	१९६१	६४७	१३·६०

उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने सन् १९६० में कानपुर के औद्योगिक नगर में मज़दूरों के स्वास्थ्य की जाँच करने के लिए एक समिति बिठायी थी। मई, १९६१ में इसने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी। इस समिति ने मज़दूरों की १६२९ पत्नियों के पास अपने अन्वेषक भेजे थे।

उनकी रिपोर्ट है कि ६३·४ प्रतिशत को १४ वर्ष से कम उम्र में ही मासिक धर्म हो गया था। २०·६ प्रतिशत को १४-१६ वर्ष की उम्र में, ७·८ प्रतिशत को १५-१६ वर्ष की उम्र में, ४·० प्रतिशत को १६-१७ वर्ष की उम्र में तथा ३·२ प्रतिशत को १७-१८ वर्ष की उम्र में मासिक धर्म शुरू हो गया था।

कन्या की किस उम्र को रज़ामन्दी के योग्य माना जाय, इसकी जाँच के लिए भारत सरकार ने सन् १६२५ में एक समिति नियुक्त की थी।[1] कई हजार हिन्दू बंगाली लड़कियों की जाँच के बाद उसने मासिक धर्म प्रारम्भ होने की उम्र १२ वर्ष निर्धारित की थी। इन सब बातों से यही साबित होता है कि हर एक माता-पिता को अपनी कन्या के सम्बन्ध में १२ से १४ वर्ष के भीतर अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। उसे उचित शिक्षा देनी चाहिए। हैमिल्टन मॉल ने सही लिखा है कि हमारी कन्याएँ केवल शक्कर की घुली मीठी चीज़ नहीं हैं। इनमें उत्कण्ठा, शरारत तथा तिकड़म भी होता है।[2] इसी लेखक की लड़की ने एक बार उनसे पूछा—"अक्षत योनि किसे कहते हैं।" तब उसकी माता ने उसे इसका अर्थ साफ़-साफ़ समझा दिया। लड़की ने बड़े ध्यान से सब बातें सुनीं। तभी से लेखक ने यह पाठ सीखा कि अपने बच्चों से बातें करने में और उनको तत्त्व की बातें समझाने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। यदि माता-पिता अपने बच्चों को ऐन्द्रिक वासना की बातें साफ़-साफ़ समझा दिया करें तो बहुतों का जीवन नष्ट होने से बच सकता है।

आजकल दुराचार बहुत बढ़ गया है। आजकल अविवाहिता पर भ्रष्ट कुमारियों की संख्या बेतहाशा बढ़ गयी है। अमेरिका से प्रकाशित होने वाली महिलाओं की पत्रिका में लिखा है कि "यह बात सही है कि आज अविवाहता पर भ्रष्ट कुमारियों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। फिर भी अभी समाज ने ऐसे सम्बन्ध को उचित नहीं माना है। धर्म तथा नैतिकता, दोनों इनके विपरीत हैं।·········आदमी की कामुक वासना की तृप्ति तो एकांगी क्रिया है। उसके बाद उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं रहती। पर, स्त्री के लिए तो उसके भावी कार्यक्रम का श्रीगणेश ही होता है। उसे पेट में बच्चा रखना है, फिर उसे पैदा करना है, फिर उसका पालन करना है······यदि कोई किसी लड़की का पीछा करे तो उसके लिए दो ही उपाय हैं—या तो शादी कर ले या साफ़ कह दे—नहीं।"[3]

1. Age of Consent Committee, Government of India, 1925.
2. Hamilton Maul : *Fathers are Made,* Article in Reader's Digest, October 1961.
3. Betsy Marorin Makinney : *The High Cost of Free Love,* in Ladies' Home Journal, New York.

अभिभावक एक और बड़ी भूल करते हैं। यदि बचपन में उनकी सन्तान सुन्दर या बुद्धिमान न मालूम पड़ी तो वे उसकी अप्रतिष्ठा करते हैं या उपेक्षा करते हैं। आज के युग की महान् महिलाओं में अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति रुज़वेल्ट की पत्नी एलीनर रूज़वेल्ट थीं। अपने संस्मरण में वे लिखती हैं—

"मैं अपने बचपन में अपने घर वालों की दुलारी बनने का प्रयत्न करती रही क्योंकि मेरे मन में यह बात घर वालों ने भर दी थी कि मैं कभी किसी को आकृष्ट नहीं कर सकूँगी, कभी किसी की प्रशंसा का पात्र न बन सकूँगी।.........क्योंकि मैं एक बदसूरत लड़की थी। मुझे बड़ी शर्म आती थी क्योंकि अपनी चाची-मामी के फटे कपड़ों से सिले वस्त्र मुझे पहनने को मिलते थे।......मुझे याद है कि तब मैंने अपने भाग्य को कितना सराहा था जब एक लड़के ने मेरे साथ नाचने की इच्छा प्रकट की। उस लड़के का नाम था फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट।"

जिसे घर वाले इतना निकम्मा समझते थे वह संसार की इतनी महान् महिला बनी। कोई नहीं कह सकता कि हमारा बच्चा कब कितनी उन्नति करेगा। यह सब हमारी शिक्षा तथा देखरेख पर बड़ा निर्भर करता है।

आज के युग में एक तेज़, तर्राक, चटकीली-मटकीली सुन्दरी की बड़ी पूछ है। उसके बारे में किसी भी भाषा के अख़बार में ख़बरें छप सकती हैं।[१] अधिकांश युवक जब किसी लड़की से मिलते हैं तो वे कहते हैं—

"चलो शादी कर लें या और कुछ......।"

पर बुद्धिमान लड़की उत्तर देती है—

"और कुछ नहीं, केवल शादी।"[२]

काम-वासना की वैज्ञानिक खोज

उन्नीसवीं सदी तक पश्चिमी देशों में काम-वासना के बारे में खोज करना तो दूर रहा, उस सम्बन्ध में बातें करना भी अशिष्टता समझी जाती थी। पर उस शताब्दि में सिगमन्ड फ्रायड ऐसा विद्वान डाक्टर वियेना में पैदा हुआ जिसने इस महत्वपूर्ण विषय को विज्ञान तथा मनोविज्ञान का जामा पहनाया था। वह स्वयं एक असफल प्रेमी था। उसका बचपन अपनी स्नेहमयी माता की छाया तथा पिता के कठोर व्यवहार की पीड़ा में बीता था। उसे अपने पिता से इतनी चिढ़ हो गयी थी कि एक दिन पिता के प्रति घृणा व्यक्त करने के लिए उसने उनके कमरे में सुन्दर क़ालीन पर पेशाब कर दिया। पिता ने इस पर खूब मरम्मत की और कहा—

१ James B. Rustom, *New York Times*, 1st January, 1940.
२ *Male*, New York, Vol. 10, No. 5., May 1960, p. 11.

"यह लड़का एकदम निकम्मा निकलेगा।" और पिता की यह चुनौती बालक ने स्वीकार कर ली। फ्रायड ने स्वयं लिखा है कि "मैं जीवन भर जो कुछ करता रहा वह केवल अपने पिता को ग़लत साबित करने के लिए।"

फ्रायड ने मनुष्य की प्रत्येक भावना का आधारभूत काम-वासना ही माना है। अपनी इस बात की पुष्टि में वे इतना आगे बढ़ गये कि मानव जीवन की अन्य उच्च भावनाओं को भी भूल गये। मनुष्य केवल कामवासना से ही अनुप्राणित होकर सब कार्य नहीं करता। "कामसूत्र" के प्रणेता वात्सायन भी ऐसा नहीं मानते। मानव के अन्तरतम में बैठी उदार तथा पवित्र भावनाएँ न होतीं तो उसमें और पशु में अन्तर ही क्या रह जाता। फ्रायड की इसी चरम सीमा की व्याख्या से चिढ़कर उनके समकालीन कार्ल जुंग ने पर्याप्त खोज करके उनका खण्डन किया है। पर, अपने समय में फ्रायड ने बहुत बड़ी खोज कर बहुत-सी मार्के की बातें निकाल ली थीं। वे मनोविज्ञान के सहारे अपने मरीज़ों को अपने नेत्रों से ऐसा खींच लेते थे कि वह शून्य भाव को प्राप्त हो जाता था और अपने मन की छिपी बातें कह बैठता था।

एक बार एक लड़की उनके पास आयी। वह बड़े बड़े डाक्टरों के पास सर खपा चुकी थी पर उसकी विचित्र बीमारी का किसी को असली कारण पता नहीं चला। वह अपनी बहन की मृत्यु-शय्या के पास खड़ी थी। बहन दम तोड़ रही थी। यकायक उस लड़की के दोनों पैरों में काठ मार गया। लकवा मार गया। वह एकदम बेकार हो गयी। फ्रायड ने धीरे-धीरे सब कारण उसी के मुख से निकाल लिया। उसकी बहन विवाहिता थी। लड़की अपने जीजा से प्रेम करती थी। उसे अच्छा लग रहा था कि यह मर रही है—अब मैं अपने जीजा से विवाह कर लूँगी। पर यकायक उसके मन में ग्लानि पैदा हुई—हे भगवान, यह बिचारी मर रही है और मैं अपना स्वार्थ सोच रही हूँ। बस, इस आत्म-क्षोभ तथा काम-वासना के द्वन्द्व ने उसके पैरों को बेकार कर दिया था। जब लड़की को अपने रोग का असली कारण मालूम हुआ, उसके मन का सन्ताप जाता रहा। वह अच्छी हो गयी।

इसी तरह एक दूसरी लड़की को जली हुई मिठाई की मँहक सता रही थी। हर समय वह दुर्गन्ध नाक में घुसी रहती थी। सब डाक्टर हार गये। कुछ समझ में न आया। फ्रायड ने पता लगा लिया, लड़की के बयान से ही। वह एक धनी तथा सुन्दर पुरुष के बच्चों की देख रेख करती थी। उसे अपने विधुर स्वामी से प्रेम हो गया था पर मालिक ऐसे थे कि उसकी ओर देखते तक नहीं थे। यकायक उसे पत्र मिला, अपनी माता का। माता ने लिखा था कि नौकरी छोड़कर इंगलैण्ड वापस आओ। अब वह अपने प्रेम, प्रेमी की उपेक्षा, माता का स्नेह—तीनों के झगड़े में सर रगड़ने लगी। आत्म-ग्लानि से उसका गला

जलने लगा और वह सड़ी दुर्गन्ध की शिकार बन गयी। जब उसके मन का तूफ़ान उसके सामने रख दिया गया, वह स्वस्थ हो गयी।

सभी प्रकार के अपराधों में या सभी प्रकार के सत्कार्यों में काम-वासना का हाथ नहीं होता। मानव की महानतम प्रवृत्तियाँ यदि सोयी हुई हैं तो उनको जगाना होगा। धर्म का सहारा बड़ा भारी सहारा होता है। पाप-पुण्य का सहारा तो लेना ही होगा। पर धर्म के बारे में प्रसिद्ध अंग्रेज़ी विद्वान तथा नाट्यकार बर्नार्ड शॉ की यह बात याद रखनी चाहिए—

"धर्म में बड़ी शक्ति है—संसार में धर्म ही एकमात्र प्रेरणात्मक शक्ति है। पर किसी आदमी के पास पहुँचने के लिए उसी के धर्म का सहारा लो, अपने धर्म का नहीं।........."

७

कारागार और बन्दी

भारत के प्राचीन ग्रन्थ, पुराण, स्मृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र—सभी में कारागार का वर्णन मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि आज से छः-सात हज़ार वर्ष पहले भी हमारे देश में बन्दीगृह होते थे। भगवान कृष्ण का जन्म कारागार में हुआ था। चाणक्य यानी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व, चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में पुराने क़िलों का उपयोग इसी काम के लिए होता था। चाणक्य ने राजा को सलाह दी है कि आम सड़क पर क़ैदखाने बनवायें ताकि राह चलने वाले लोग उनमें बन्द लोगों को देखकर भयभीत हों, उनसे उपदेश लें और डरकर वैसा काम न करें। चाणक्य की सलाह थी कि अपराधियों का हाथ-पैर बाँधकर रखना चाहिए। किन्तु प्राचीन भारत में न्याय का आधार केवल दण्ड ही नहीं था। जिन दिनों संसार के हर देश में हर अपराध के लिए प्राणदण्ड या अंगभंग की एकमात्र सज़ा थी भारत में न्याय का आधार प्रायश्चित्त तथा पश्चात्ताप, दोनों ही था। व्रत, उपवास, अर्थदण्ड, शरीर को स्वयं यातना देना आदि अनेक उपाय थे। यह इसलिए भी था कि हमारे यहाँ अपराध तथा पाप की मिली-जुली व्याख्या थी। धर्म के आदेशों को न मानना पाप था। नीति के आदेशों को न मानना अपराध था। अतएव दोनों ही दशा में प्रायश्चित्त करने का अवसर मिलता था।

यूरोप में ईसाई पादरियों ने दण्ड-सुधार के काम में बड़ा योग-दान दिया है। पोप क्लीमेंट ग्यारहवें ने सन् १७०४ में बाल-अपराधियों के लिए एक विशेष बन्दीगृह बनवाया था जिसका नाम रखा था "सन्त मिकायल का अस्पताल।" घेण्ट राज्य के सरदार विलेन चौदहवें ने अपने ज़माने में जो कार्य शुरू किया था उसे हम आधुनिक कारागार की प्रणाली का श्रीगणेश कह सकते हैं। उन्होंने घेण्ट में हर एक बन्दी के रहने के लिए अलग-अलग कोठरी वाला जेल बनवाया था। उस कारागार का लक्ष्य था—"बन्दी का सुधार तथा पुनर्वास।"

उन्होंने पहले पहल जेलों में उद्योग-धन्धा भी शुरू कराया था।[१] हर क़ैदी के लिए अलग-अलग कोठरी इसलिए बनायी गयी थी कि वे एकान्त में रहकर अपने पाप तथा बुरे कार्य पर विचार करें, सोचें, पछतायें और भगवान से क्षमायाचना करें। किन्तु यह भावना पादरियों के दिमाग़ में इतनी बैठ गयी थी कि उसकी अति भी हो गयी। ये कोठरियाँ भयंकर स्थान बन गयी थीं।

कारागार एक राष्ट्रीय संस्था है, राष्ट्र के कल्याण के लिए है और सरकार इसका निर्माण तथा नियन्त्रण स्वयं अपने हाथों में ले, यह भावना जॉन हावर्ड ब्लैकस्टन तथा श्रीमती एलिज़बेथ फ्राई जैसे दण्ड सुधारकों के प्रयत्न से यूरोप में पैदा हुई थी। सन् १७७९ में इंगलैण्ड की पार्लामेंट का क़ानून इस बारे में पहली बार बना। उस देश में पहला राष्ट्रीय कारागार मिलबैंक पेनिटेंशियरी (जहाँ पर लोग अपने पाप पर पश्चात्ताप करें) सन् १८१२ में खुला था। सन् १८४२ में पेंटनविले का कारागार बना जिसमें १००० बन्दियों के रहने का प्रबन्ध था। पर हर एक की कोठरी अलग थी। इस जेल में बन्दियों को यह अवसर दिया जाता था कि वे जेल में रहकर ऐसा उपयोगी उद्योग सीख लें जिससे कि वे छूटने पर स्वस्थ, स्वावलम्बी जीवन बिता सकें। यानी, दण्ड का मूल अभिप्राय बन्दी का सुधार है। यह बात धीरे-धीरे लोगों के मन में बैठनी शुरू हो गयी थी।[२] यह कारागार सन् १९३८ तक चलता रहा। जब ग्रेट ब्रिटेन की पार्लमेंट ने क्रिमिनल जस्टिस बिल, १९३८ पास कर दिया तो काल-कोठरी वाले जेलों को समाप्त करना अनिवार्य हो गया। उस निर्दय प्रथा को समाप्त करने में ग्रेट ब्रिटेन को सौ वर्ष से ऊपर लगे थे।

जिसे हम वास्तव में जेल सुधार का कार्य कह सकते हैं, वह भारत में भारतीय जेल समिति, सन् १९१९-२० की रिपोर्ट से शुरू हुआ। इसके चेयरमैन सर अलेक्जेंडर कार्ड्यू ने इतनी अच्छी रिपोर्ट तैयार की है कि भारत में आज तक, स्वराज्य हो जाने के बाद भी, वैसी रिपोर्ट तैयार नहीं हुई। उसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में वास्तविक कार्य ग्लैडस्टन कमेटी की रिपोर्ट से शुरू हुआ। आज के जेलों की स्थिति, जेल-सुधार के आधुनिक साहित्य इत्यादि को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि जेलों में जितने सुधार हुए हैं या हो रहे हैं वे अभी तक उतना भी नहीं हो पाये हैं जितना ग्लैडस्टन कमेटी ने लिखा था। उस समिति की सिफ़ारिश थी कि जेलों का शासन ऐसा हो कि उसके बन्दी जेल

१ Dr. Frederick Howard Wines : *Punishment and Reformation*, Paul Thomas and Growell, New York, pp. 151-210.

२ Dr. P. K. Sen : *Penology : Old and New*, Longman Green & Co., Calcutta, 1946, p. 36.

के बाहर निकलने के समय मन, वचन, कर्म से उस समय की तुलना में जब वे जेल गये थे, पूर्ण स्वस्थ होकर निकलें।[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका में समाज सुधारकों की एक समिति ने जिन्हें क्वेकर्स कहते हैं, जेल सुधार का बड़ा काम किया था। वे "पश्चात्ताप" के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इसीलिए वे एकान्त कोठरी के हिमायती थे। उन्हीं के आग्रह पर पेनसिलवानिया और ऑबर्न (न्यूयार्क) में कारागार बने। पर इन दोनों कारागारों में क़ैदियों को एक साथ, दिन में काम करने की इजाज़त थी। पर वे एक दूसरे से बोल नहीं सकते थे। यह इजाज़त आबर्न में थी, पेनसिलवानिया में नहीं। सन् १८९१ के फ्रेंच दण्ड विधान से भी इसी नीति का प्रतिपादन प्रकट होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १८६९ तक क्वेकर प्रणाली चलती रही। उसके बाद से वहाँ पर जेल सुधार के इतने कार्य हुए हैं कि इस दिशा में वह संसार के सबसे समुन्नत देशों में है। फिर भी वहाँ के हर प्रदेश में एक ही प्रकार का जेल शासन नहीं है। केन्द्रीय सरकार के कारागारों में केन्द्रीय क़ानून की अवज्ञा करने वाले रखे जाते हैं। उनका शासन एक ही नीति से होता है पर प्रादेशिक शासन में विभिन्नता है। अभी भी अमेरिकन जेलों में सभी क़ैदियों को काम पर नहीं लगाया जाता। कुछ कारागारों में ९० प्रतिशत बन्दी बेकार रहते हैं। कुछ प्रदेशों में जेल के क़ैदियों को ग़ैर-सरकारी कम्पनियों को ठीका पर काम करने के लिए दे दिया जाता है। फलतः उन विचारों से बुरी तरह से काम लिया जाता है।[2] बहरहाल, यूरोप तथा अमेरिका में जेल सुधार के काम में बड़ी बाधाएँ पड़ती रहीं और बड़ी बाधाओं को दूर कर उनका सुधार हुआ है ?[3]

बन्दी की आवश्यकता

आज वे बातें बदल गयी हैं। आज तो हम विश्वास करते हैं कि दण्ड के सभी कार्यों को एक साथ मिलाकर, सभी पहलुओं पर विचार कर, दण्ड सुधार का कार्य होना चाहिए। प्रोबेशन यानी आरक्षण, कारागार में बन्द करना, खुले जेलों में रखना, घर जाने का अवसर देना—ये सभी बातें वैज्ञानिक ढंग से होनी चाहिए। हर एक ऐसे कार्य में यह ध्यान रखना चाहिए कि बन्दी को ऐसा सामाजिक जीवन मिले कि वह अपने चरित्र का निर्माण कर सके।[4]

The Journal of Criminal Science, Macmillan and Co., 1950, p.11.
The Annals of the American Academy of Political Science, September 1941, p. 150.
T. M. Osborne : *Society and Prisoners*, Yale University Press.
P. Cornil : Preface in the *Modern Methods of Penal Reform*, International Penal and Peintentiary Commission, 1956, p. viii.

अब पुराने पेंटनविले या वैसी ही संस्थाओं का ज़माना चला गया है। पेंटनविले में १८ से २५ वर्ष की उम्र के क़ैदी रखे जाते थे। क़ैदियों में आत्म-सम्मान पैदा करने के लिए यह ज़रूरी समझा जाता था कि एक बन्दी दूसरे बन्दी की सूरत न देखे। कमरे के बाहर आने के समय क़ैदी अपना मुँह टोपी से ढँक लेता था। सर गौडफ़े लार्शिगटन ने सन् १८९५ में इस प्रथा को समाप्त किया था। सन् १९३८ में पुनः निर्माण के बाद पेंटनविले संसार के श्रेष्ठ जेलों में स्थान रखने लगा है।

जुलाई १९४२ में रिचार्ड जी० फ़ारो ने अमेरिका के जेलों पर एक लेख लिखा था। उन्होंने उस समय भी वहाँ के अनेक जेलों में एकान्त कोठरी वास (सेल्स) की प्रथा देखी थी। उन्हें एक ऐसा बन्दी मिला जो एक वर्ष से एकान्त कोठरी में बन्द था। ऐसी दशा में उसका मन तथा स्वभाव विकृत, घृणाशील तथा जेल के अधिकारियों के प्रति अत्यन्त कटु हो जाना स्वाभाविक था। वह केवल एक कारण से पागल नहीं हुआ था—अपना समूचा क्रोध वह गार्डों को गाली दे देकर निकाल देता था।

ज्यों ही कोई व्यक्ति जेल में दाख़िल होता है, उसके मन में एक संघर्ष शुरू हो जाता है। वह या तो जेल को अपने सुधार का स्थान मान ले या यातना-गृह। या तो वह जेल के वातावरण में घुलमिल जाता है और अपने चरित्र-निर्माण के कार्य में जेल कर्मचारियों को सहयोग देता है या फिर वह एकदम उद्दण्ड और उच्छृङ्खल हो जाता है। पर इसमें से वह किस दिशा की ओर जाता है, यह निर्भर करता है जेल के कर्मचारियों पर। वे जैसा व्यवहार करेंगे, जैसी सहानुभूति या सहृदयता या कठोरता शुरू में बरतेंगे उसका फल अन्त तक बना रहेगा। उसकी शिक्षा, उसको उद्योग धन्धों में लगाना, यह सब तो गौण चीज़ें हैं। असली चीज़ है उसमें यह भावना या जागृति उत्पन्न करना कि वह अपने जीवन को, अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठायेगा। मान लीजिए कि एक अच्छा बुद्धिमान, पढ़ा-लिखा व्यक्ति है जिसने अनायास, वेग में आकर, कामवासना का कोई अपराध कर दिया है। अब वह इतना लज्जित है कि बाहर निकलकर किसी को मुँह नहीं दिखाना चाहता। यदि जेल में उसमें इतना भी साहस नहीं पैदा किया जा सका तो एक उपयोगी नागरिक का जीवन नष्ट हो जायगा। अतएव जेल के कर्मचारियों में जितनी बुद्धि, जितनी जानकारी, जितना धैर्य होगा उतना ही बन्दी का सुधार होगा। इसलिए जेल के कर्मचारियों को शिक्षित तथा समझदार होना चाहिए।

जेल में बन्द व्यक्ति ही संसार में केवल पापी या अपराधी नहीं होता। हर एक व्यक्ति पाप-पुण्य या नैतिकता-अनैतिकता का मिला-जुला रस पीकर संसार में आता है। हर एक के मन में कोई न कोई पाप बैठा रहता है। पर

जिसकी जैसी शिक्षा-दीक्षा हुई, जिसको जैसा वातावरण मिला, वह वैसा ही बन जाता है।

बचपन में कुसंग, दुर्भावनाएँ, घरेलू ख़राबियाँ, बुरा साथ, बुरी शिक्षा, अनेक बातें ऐसी हो सकती हैं जो मनुष्य को बिगाड़ सकती हैं और इनके विपरीत वातावरण से जीवन सुधरा रहता है। इसीलिए अपने कार्यों के लिए मनुष्य ज़िम्मेदार तो है ही, पर समाज भी ज़िम्मेदार है।[1] दूसरों को दोषी तथा अपराधी समझने के पहले हमको स्वयं नैतिकता की मर्यादा समझ लेनी चाहिए। हमें समाज में आर्थिक विषमताओं को दूर करना चाहिए। हमें ऐसे समाज का संगठन करना चाहिए जिसमें हर एक व्यक्ति को अपना निजी विकास करने का पूरा अवसर मिले, हर एक के व्यक्तित्व को विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए। धैर्य, साहस तथा समझदारी से काम करने से ऐसा समाज संगठित हो सकता है।

आज हमारा जीवन बड़ा संघर्षमय हो गया है। आधुनिक सभ्यता ने उसे उलझा हुआ बना दिया है। नित्य अपराधों को रोकने के लिए क़ानून पर क़ानून बनते चले जा रहे हैं। हम आधुनिक संघर्षमय जीवन का मुक़ाबला करने के लिए केवल क़ानूनी हथियार लेकर चलना चाहते हैं। फ़िल्म, सिनेमा, थियेटर, सभ्यता की नयी चमक-दमक समाज की समस्याओं को उलझाती चली जा रही हैं। आजकल के चलचित्र हमारे दिमाग़ को विषैला करते जा रहे हैं। श्री बार्नेस ने आजकल दिखाये जाने वाले फ़िल्मों की समीक्षा की थी। उनका कहना है कि सन् १९४० में जितने फ़िल्म अमेरिका में दिखाये गये थे उनका वर्गीकरण[2] इस प्रकार था :—

विषय	प्रतिशत
१. प्रेम	३०
२. अपराध	२७
३. हँसी मजाक़	१६
४. कामवासना	१५
५. रहस्य-जासूसी आदि	५
६ महायुद्ध	४
७. फुटकर	३

यही औसत प्रायः हरेक देश के चलचित्रों में मिलेगा। भारतीय फ़िल्मों में

---

[1] Mr. Justice P. N. Sapru's Speech in the Indian Conference of Social Work, Kanpur, April 11, 1952.

[2] Harry Elmer Barnes : *Society in Transition*, Prentice Hall Inc., New York, 1941, p. 616.

देवी-देवता को भी आशिक-माशूक बना दिया जाता है। इंगलैण्ड में सबसे अधिक तथा शक्तिशाली समाचार-पत्रों के मालिक लार्ड नार्थक्लिफ ने एक तालिका प्रकाशित कर यह सिद्ध किया था कि जनता किस प्रकार के सम्वाद सबसे ज़्यादा पसन्द करती है :—

१. महायुद्ध	पहला स्थान
२. कामवासना	दूसरा स्थान
३. राजकीय संवाद (जैसे राजा के मरने पर उसकी शव-यात्रा, या शादी-विवाह आदि)	तीसरा स्थान
४. खेलकूद	चौथा स्थान
५. अपराध	पाँचवाँ स्थान

भारतीय समाचार-पत्रों में आजकल उत्तेजनामय, कामवासनामय समाचारों का बड़ा ज़ोर रहता है। अनुमानतः भारतीय समाचार पत्रों में अपराध-सम्बन्धी समाचारों का तीसरा स्थान है।

अस्तु, समाज के मौजूदा वातावरण में अपराध का बढ़ना स्वाभाविक है। अपराध के लिए दण्ड का आविर्भाव हुआ था। दण्ड के लिए कारागार भेजना बहुत ही अच्छी प्रणाली है जिसके द्वारा मानव का निर्माण किया जा सकता है। पुराने ज़माने में जो कारागार बने थे वे बन्दियों को ग़रीबी के आलम में रखकर, चाहे वे चाहें या न चाहें, उनसे घोर परिश्रम का कार्य लेने के स्थान थे।[१]

यह बात अब भी है कि समाज ग़लत काम करने वालों को हमेशा भय दिखाता रहता है कि अपराध करोगे तो तुमको यातना दी जायगी। पहले उसने जो जेल बनाये वे वास्तव में यातना-गृह थे। जेल के वार्डन के हाथों में क़ैदी सुपुर्द कर दिये जाते थे। इस शताब्दि के शुरू में अमेरिकन जेल-सुधारक जुलियन हाथर्न ने लिखा था कि 'बन्दी को भगवान से नहीं, अपने वार्डन तथा गार्ड से डरना चाहिए।"[२] इंगलैण्ड तथा अनेक देशों में क़ैदियों को रखने के लिए नीलामी ठीके दिये जाते थे। जहाँ पर जेलखाने केवल आर्थिक उत्पादन के साधन बना दिये गये, वे ग़ुलामख़ाना बन गये। मैनहीम लेखक का कहना है कि शुरू के जेलों में जो सुधार हुए वे असल में आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखकर हुए थे। पर जेल सुधार केवल आर्थिक कारणों से नहीं हो सकता।[३]

---

१ Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 232.

२ Federal Prisons, Report, 1961, p. 3.

३ Hermann Mannheim : *The Dilemma of Penal Reform*, Chapter II, p. 38.

आर्थिक दृष्टि से अपराध करने वाले बिरले ही जेल आते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में हर साल लगभग पाँच अरब रुपये की आर्थिक बेईमानी के काम होते हैं। पर डकैती, चोरी, जेबकटी आदि से केवल एक अरब रुपये के लगभग हानि होती है। चोर डकैत तो जेल पहुँच जाते हैं। रुपये पैसे के अपराधी को कोई पूछता भी नहीं।[१]

अपराध की सभी समस्याएँ कारागार के द्वारा नहीं हल हो सकतीं। ब्रिटेन के सम्राट् हेनरी आठवें अपराधियों को गरम पानी में उबलवाते थे। उनके शासन काल में छोटे-से लेकर बड़ा अपराध करने वाले ७२,००० अपराधी फाँसी पर लटकाये गये थे। इस शासक ने सन् १४९१ से सन् १५४७ तक यानी ४८ वर्ष शासन किया था। इस हिसाब से हर साल १५०० लड़के-लड़कियाँ, बड़े-बूढ़े फाँसी पर लटकाये जाते थे। उनके बाद महारानी एलिज़बेथ गद्दी पर बैठीं। आवारा तथा बदमाश लड़कों को वे एक ही क़तार में खड़ा कर ३ से ५ सौ की संख्या में, फाँसी पर लटका दिया करती थीं। यह उस समय की बात है जब इंगलैण्ड की आबादी केवल तीस लाख थी। सन् १७८० में उस देश में २४० अपराधों पर फाँसी होती थी। यदि किसी तालाब में मछली मारना मना हो तो उसमें मछली मारने वाले को फाँसी होती थी। सन् १८२० में १६० अपराधों पर फाँसी की सज़ा होती थी। और ज्यों-ज्यों फाँसी की सज़ा कम होती गयी, आबादी के हिसाब से उस देश में अपराध भी कम होते गये।[२]

दण्ड की कठोरता से अपराध नहीं कम होते, यह बात तो साबित हो गयी है। शारीरिक दण्ड से जब काम नहीं चला तभी कारागारों की रचना हुई है। शारीरिक दण्ड की समाप्ति भी जनता के विरोध के कारण हुई और जेलों की रचना भी जनता की माँग के कारण हुई है—इसके भी प्रमाण मौजूद हैं। सोलहवीं सदी में ऐम्सटर्डम की कौंसिल ने एक प्रस्ताव में यह कहा था कि रोज़-बरोज़ अपराधी, विशेषकर बाल-अपराधी पकड़े जाते हैं, उनको फाँसी होती है या उनके शरीर को यातनाएँ दी जाती हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि इनको किसी स्थान में क़ैद कर दिया जाय और तब तक इनसे काम लिया जाय जब तक के लिए न्यायाधीश कहें।

इसी प्रकार की भावना और देशों में पैदा हुई होगी जिससे जेलों का सृजन हुआ होगा। और इस प्रकार, अपराधी के पुनर्वास तथा पुनः संस्थापन का एक रास्ता निकल आया।

[१] H. E. Barnes and Negles E. Teeters: *New Horizons in Criminology*, 1943, p. 21.

[२] Arthur Weld's article: *U. N. Studies Crime Prevention*, for U.N.E.S.C.O., June 1957.

कारागार से लाभ

कारागारों से क्या लाभ हुआ है, यह समझाने के लिए हम कुछ आँकड़े देना चाहते हैं। महाराष्ट्र प्रदेश (पहले बम्बई प्रदेश) ने सितम्बर १९६१ में अपनी एक रिपोर्ट प्रकाशित की है, उसमें १ नवम्बर, १९५६ से ३१ दिसम्बर, १९५६ तक के आँकड़े दिये हैं।[१] उसमें अपराध, अपराधी तथा दण्डित अपराधियों की संख्या इस प्रकार है .

क्षेत्र	संख्या अपराधों की सूचना मिली	संख्या जितने अपराध जाँच पर सही निकले	संख्या जितने मुक़द्दमे अदालत में वर्ष में आये	संख्या व्यक्ति दण्डित
कटक	८५३	८१३	१,५३२	७५५
सौराष्ट्र	२४,७१४	११,७८४	३२,९६८	८५४६
विदर्भ	२३,७३३	२२,४२६	२३,०३४	१७८१४
मराठवाड़ा	२,८०९	१,९५०	३,८९७	८६०

इतने अपराधियों का हम क्या करें ? न्यायालयों ने बहुत-से अपराध और अपराधियों को बेगुनाह पाया है। इससे स्पष्ट है कि सभी अपराधी वास्तव में अपराधी नहीं होते। यदि हम वास्तविक या दोषी कहे जाने वालों को जेल में रखते हैं तो हम उनको अपना जीवन सुधारने का अवसर देते हैं तथा समाज को उसका रोगी अंग स्वस्थ दशा में वापस कर देते हैं। पश्चिमी बंगाल के जेलों की ताज़ी रिपोर्ट से पता चलता है कि सन् १९५५ में वहाँ के जेलों की कुल औसतन आबादी १०,४८६ थी। सन् १९५७ में यह संख्या ११,९५४ थी। सन् १९५७ में वहाँ के जेलों में कुल ६१,६५२ पुरुष तथा २७९४ स्त्री बन्दी दाखिल हुए थे। सन् १९५६ में कुल दाखिला ६२,९५७ था जिनमें से ४,६७४ एक बार से अधिक जेल यात्रा करने वाले थे। यानी जेल की कुल दण्डित आबादी का ९.५ प्रतिशत दुबारा अपराधी था। सन् १९५७ में कुल दाखिला ६४,३५६ था जिसमें से २९२४ दुबारिया थे यानी केवल ४.५ प्रतिशत।[२] स्पष्ट है कि काफ़ी अपराधियों का जीवन जेलों में रहने से सुधर गया।

उत्तर प्रदेश के जेलों में सन् १९६० के आरम्भ में २४,९१४ पुरुष तथा १७९ महिला बन्दी थीं। साल भर में कुल १,०८,२०९ बन्दी जेल में आये, जिनमें कुल ६४,२०७ पुरुष तथा ५९७ महिलाएँ दण्डित बन्दी थीं। आजीवन कारावास के ३५४ बन्दी थे। ५,१३४ बन्दी अपील करने पर छूट गये थे।

---

१ *Civil and Criminal Justice Administration Report*, Bombay Part II, Nov. 1959, published in 1960, pp. 306-351.

२ *Report of the Administration of Jails and Borstal Schools of the State of West Bengal, 1957*, published in 1961, pp. 2-3.

३७,०११ की अवधि पूरी हुई । १६,२०७ को छूट की रियायतें देकर छोड़ दिया गया । ४५१० बन्दी प्रोबेशन, निगरानी, सरकार द्वारा क्षमा या दया आदि के कारण छोड़ दिये गये । १७ बन्दी बीमारी के कारण छूटे । अर्थात्, हर उपाय से सरकार ने बन्दियों की संख्या कम करने का प्रयत्न किया ।[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैण्ड के आँकड़े हम अन्यत्र दे चुके हैं । इस सम्बन्ध में ध्यान रखना चाहिए कि जितने लोग वहाँ पकड़े जाते हैं उनमें औसतन सन् १९६१ में ६८·७ प्रतिशत को सजा हुई, १२·२ प्रतिशत को निरपराध समझकर अदालत ने छोड़ दिया तथा १०·२ प्रतिशत को बाल-अदालतों के हवाले कर दिया गया । अमेरिका के केन्द्रीय कारागारों से सन् १९६१ में ४५९९ बन्दी पेरोल पर छोड़ दिये गये थे जिनमें से केवल ९·७ प्रतिशत ने पेरोल के नियमों का उल्लंघन किया था ।[2] केन्द्रीय कारागार के कुल बन्दियों की औसत संख्या १५,२७९ थी जिनमें ६३०१ की सज़ा पूरी हो गयी, १५५५ को रियायती छूट मिली, ४५९९ पेरोल पर छूटे, इत्यादि । स्पष्ट है कि चेष्टा यही की जाती है कि जहाँ तक हो सके जेल में बन्दी कम से कम रहें ।

इंगलैण्ड और वेल्स में सन् १९६१ में २१ वर्ष से कम उम्र वाले ६६,४९० लड़के-लड़कियों को दण्ड मिला था पर जेलों में सबको न रखकर केवल १०,१९२ तो जेल भेजे गये, ३९,००० पर जुर्माना हुआ, ६,०७५ प्रोबेशन पर छोड़े गये, ७६४४ को शर्त लगाकर छोड़ा गया तथा ९२६ विना शर्त के छोड़ दिये गये । उस देश ने भी इस नीति को अपनाया है कि जहाँ तक हो सके कम से कम व्यक्ति जेल में रखे जायँ ।

जेलों में अनिश्चित काल के लिए रख देने से या नजरक़ैद कर देने से अपराधी नहीं सुधरता । उसके लिए सुधार तथा पुनः संस्थापन की एक निश्चित योजना होनी चाहिए । नार्वे का सन् १९२९ का दण्ड विधान, इटली का सन् १९३० का, पोलैण्ड का १९२६ का, ज़ेकोस्लोवाकिया का १९२६ का, फ्रांस का १९३२ का, जर्मनी का १९३३ का दण्ड विधान मियादी और ग़ैर-मियादी दोनों प्रकार के दण्ड देता है । स्वीडन का १९४५ का, डेनमार्क का १९३० का तथा स्विट्ज़रलैण्ड का १९४८ का विधान न्यायालय को अधिकार देता है कि मियादी क़ैद न देकर ग़ैर-मियादी सज़ा दे ।[3] इंगलैण्ड का सन् १९४८ का क़ानून केवल मियादी क़ैद का आदेश देता है ।

1. *Prison Administration,* Report of U. P., 1960, Pub. Nov., 1962.
2. *Federal Prisons,* 1961 Federal Bureau of Prisons, U.S.A., p. 36.
3. *The Journal of Criminal Science,* Vol. II, Macmillan and Co., London, 1950, pp. 72-73.

यदि सभी अपराधी कारागार में रखे जायँ तो कर-दाता तथा सरकार दोनों के लिए असहनीय बोझ हो जायगा। बम्बई प्रदेश में, जिसे अब महाराष्ट्र कहते हैं, सन् १९५७ में १३,३६,०६५ जरायम की रिपोर्ट हुई जिनमें से १३,३३,४१६ जाँचें पर सही पाये गये। उसी वर्ष उस बड़े प्रदेश में १८,१३,२०० विचाराधीन बन्दी थे जिनमें से साल के भीतर ११,२७,६३८ को सज़ा मिली, १३१२ मर गये, २६,०१९ भाग गये तथा साल के अन्त में २,९०,७४९ विचाराधीन रहे। सरकार ने इतने अधिक बन्दियों की संख्या कम करने के लिए कहिये या इनसे आर्थिक लाभ उठाने के लिए या न्याय के तराज़ू के अनुसार, कुल १,००,८१,२९२ रुपया ७० नया पैसा जुर्माना किया जिसमें से ५६,३६,७२९ रुपया ८९ नया पैसा वसूल भी हो गया। साल भर में जेलों में नित्य बन्द होने वाले बन्दियों का औसत १८,००० के लगभग था।[1]

मद्रास प्रदेश में सन् १९६० में २,२१,०७७ नये बन्दी दाखिल हुए और २,२२,३३५ उसी साल जेल से छूटे। वर्ष के अन्त में १७,८४५ बन्दी थे। रोज की औसत १७,७९३ थी। इनमें ४,६४४ दुबारिया क़ैदी थे यानी उनका औसत ६·३९ प्रतिशत था।[2] सन् १९५७ के साल में उड़ीसा जैसे छोटे से प्रदेश में १३,१८७ जरायम की सूचना मिली, ८०९७ मामले जाँच पर सही पाये गये। ७६६७ को दण्ड मिला। ५,२०,९५९ रुपया जुर्माने में वसूल हुआ। वर्ष में ३४,१०९ विचाराधीन बन्दी थे।[3] जो प्रदेश जितना बड़ा है, वहाँ अपराध उतना ही अधिक है। नीचे की तुलनात्मक संख्या देखिए :—

सन् १९५७—जिन अपराधों की सूचना मिली

प्रदेश	गर्भपात इत्यादि	जीवन सम्बन्धी अपराध	बलात्कार	चोरी	मारपीट
बम्बई (महाराष्ट्र)	२९५	३,२८९	३१८	१९,०८६	२७,६१३
उड़ीसा	२४	४९७	१२	७,१२८	६,६४१

केरल प्रदेश में दुबारा अपराधियों की संख्या सन् १९५९ में ४९७ थी, सन् १९६० में ३२९ थी।[4] उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा प्रदेश है। इस

[1] Administration of Civil and Criminal Justice in the State of Bombay, for the year 1957, Government of Maharashtra, 1962, p. 66.

[2] Jail Administration Report, Madras, 1960, (1962), p. 3.

[3] Criminal Justice Report, Orissa, for 1957, (1962), pp. 26-27.

[4] Administration Report of the Police Department, Kerala, 1960 (1962).

प्रदेश में जेल सुधार के कार्यों के कारण आदतन अपराधियों की संख्या बहुत घटी है। क़ैदियों में सुधार होने से ऐसा होता ही है। सन् १९४६ में प्रदेश के जेलों में आदतन अपराधियों का औसत १९ प्रतिशत था। सन् १९६१ में ३ प्रतिशत रह गया था। नीचे के आँकड़े से आदतन या दुबारा अपराधियों की संख्या स्पष्ट हो जायगी[1] :—

वर्ष	कुल दण्डित बन्दी	दुबारा या आदतन अपराधी
१९५०	४५,७६६	४,७६७
१९५३	५९,२५३	३,९७२
१९५५	५८,७२४	२,९६७
१९५८	६९,६४२	२,५९७
१९५९	६८,६४६	२,४६८
१९६०	६४,८०४	१,९७२
१९६१	५५,६१६	१,७२२

हमारे देश में हिमाचल प्रदेश एक छोटा सा प्रदेश जो केन्द्रीय सरकार की देखरेख में शासित होता है। इसकी आबादी केवल १३,४८,९८२ (सन् १९६१ में) है तथा सबसे बड़े नगर की आबादी १५,००० से अधिक नहीं है। सन् १९५२ में इस प्रदेश में ९९४ अपराध हुए थे, सन् १९६० में ११५१ तथा १९६१ में १२०१। पुलिस ऐक्ट के अपराधों को छोड़कर कुल वास्तविक अपराध सन् १९६१ में १७५९ थे। सन् १९५२ में केवल ३२५ व्यक्तियों को दण्ड मिला था, सन् १९६१ में ४०२ को।[2] स्पष्ट है कि अदालतों ने बड़ी सावधानी से काम लिया है।

दण्ड सुधार तथा जेल सुधार से संसार के हर राज्य में आदतन अपराधियों की संख्या कम हुई है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रादेशिक तथा केन्द्रीय जेलों में ३१ दिसम्बर १९६० में २,१३,१४२ बन्दी थे।[3] इनमें से ६,८१८ महिला बन्दी थीं। कुल बन्दियों का ४८ फ़ीसदी यानी ४८,४५७ पेरोल पर, जमानत पर छोड़ दिया गया था।

अपराध देख कर तब तय करना चाहिए कि बन्दी का सुधार जेल के भीतर हो सकता है या बाहर। केरल प्रदेश में सन् १९५८ में ५५९३ गम्भीर अपराध तथा २८७ हत्याएँ हुई थीं। सन् १९५९ में यही संख्या क्रमशः ५५९२ तथा २९४ थी। पश्चिमी बंगाल में सन् १९५६ में ३०,३५४ व्यक्ति

१ Report of Inspector-General Prisons, U. P., 1960 (1962).
२ Report of Police Administration, Himachal Pradesh, 1961.
३ National Prison Statistics, U. S. A. Government, No, 27, September, 1961.

जेलों में बन्द थे।[1] वे सभी विचाराधीन थे। ऐसी दशा में यह तय करना कठिन होगा कि इनको किस प्रकार की सज़ा दी जाय। बिना हरेक अपराध पर विचार किये दण्ड नहीं दिया जा सकता। भारत के हिमाचल प्रदेश ऐसे छोटे प्रदेश में सन् १९५९ में १६६३ गम्भीर अपराध हुए। सन् १९६० में गम्भीर अपराधों की संख्या १७०४ थी। अब वह प्रदेश इतने अपराधियों का क्या करे? यदि हम विचार करेंगे तो यही नतीजा निकलेगा कि कारागार से बढ़कर अपराध-सुधार तथा अपराधी-सुधार के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। दिन प्रतिदिन कारागार का महत्व बढ़ता जा रहा है। बस होना यह चाहिए कि कारागार में अपराधी के साथ वैसा ही व्यवहार हो जिसके वह अनुकूल हो। अपराध को देखकर नहीं, अपराधी को देखकर दण्ड देना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार संघ ने लिखा है कि आज की कारागार प्रणाली अपराधी के समाज में पुनः स्थापन की दृष्टि से चलायी जाती है। इसीलिए उसकी ठोस वैज्ञानिक समीक्षा होनी चाहिए। फिर भी, चूँकि अनेक प्रकार के तरीके कारागारों के संचालन में पाये जाते हैं इसीलिए उन सब का ठीक से अध्ययन करना चाहिए कि उनमें कितना ठोसपन है, कितनी वास्तविकता है।[2] जो देश इस दिशा में काफ़ी पिछड़े हुए हैं, जैसे पनामा ही लीजिए, जहाँ पर आज भी प्रतिशोधात्मक दण्ड की प्रथा है वहाँ भी अब यह कहा जाने लगता है कि "कम से कम कठोरता" बरतनी चाहिए। अर्जेन्टाइना के शासन विधान की धारा १८ के अनुसार कारागारों को "नैतिक पुनः-स्थापन कार्य का केन्द्र" बनाना चाहिए। क्यूबा में जेलों के प्रबन्ध के लिए एक सर्वोपरि सामाजिक सुरक्षा-समिति है। यूगोस्लाविया की धारा ३ के अनुसार (सन् १९५१) दण्ड का लक्ष्य है अपराधी का सुधार। इसी नियम के अनुसार दण्डित का सुधार करना है ताकि वह पुनः अपराध में न पड़ जाय। धारा ५१ में साफ़ लिखा है कि दण्डित व्यक्ति के मन पर कम से कम आघात किया जायगा तथा उसे कम से कम शारीरिक पीड़ा दी जायगी। स्वीडन में सन् १९४५ के क़ानून की धारा २४ के अनुसार क़ैदी के साथ सख़्ती का व्यवहार होगा पर यह ध्यान रखा जायगा कि वह मनुष्य है। उसके योग्य काम जेल में दिया जायगा तथा उसे समाज में पुनः स्थापित होने

Administration Report of the Police Administration, West Bengal, 1956, (1960), p. 90 and Administration Report of the Police Department, Kerala, 1959, (1960), pp. 3-4.

Modern Methods of Penal Treatment, pp. XX-XXI.

के योग्य बनाया जायगा। जहाँ तक हो सकेगा, कारागार में बन्द करने से जो हानि हो सकती है, उसे न्यूनतम किया जायगा।[1]

ऊपर लिखी बातों से यह ज़ाहिर है कि सभी देशों में दण्ड सुधार तथा कारागार की न तो एक प्रणाली है और न इसकी एक प्रकार की कल्पना ही है। सब जगह की परिस्थितियाँ भी एक समान नहीं हैं। भौगोलिक, राजनैतिक इत्यादि विभिन्नताएँ भी हैं। पर, सन् १९२९ से अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार कमीशन[2] ने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया कि निम्नतम स्तर के ऐसे नियम बन जायँ जो सभी देशों में लागू हो सकें। सन् १९३३ में भी उस संस्था ने यही प्रयत्न किया था। सन् १९३४ में पुरानी राष्ट्र परिषद् ने इसी बात को दुहराया था।[3] सन् १९४९ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपराध-निरोध की समस्या पर विचार करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति बिठायी थी। उसने भी यही तय किया कि ऐसे नियम बन जाने चाहिए जो सभी देशों में लागू हो सकें तथा विश्व भर के कारागारों में कम से कम उन बातों का पालन ज़रूर हो। सन् १९५५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपराध निरोध की समस्या पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस को निमन्त्रित किया था।[4] उसने ऐसे नियमों की रचना की है। अधिकांश देशों ने इन नियमों को मान भी लिया है। इन नियमों के पढ़ने से ही प्रकट होगा कि जेलों के शासन तथा संचालन के सम्बन्ध में आधुनिक विचारधारा क्या है। उस कांग्रेस के अनुसार जेलों के संचालन में नीचे लिखी बातों को अपनी नीति का आधार बनाना चाहिए।

सिद्धान्त निर्देशन

१. नीचे दिये गये निर्दिष्ट सिद्धान्त उस भावना को व्यक्त करेंगे जिनके आधार पर कारागारों का संचालन होना चाहिए।

२. जिस किसी अपराधी का सम्बन्ध बाहरी दुनिया से काट दिया गया है और उसकी स्वाधीनता छीनकर उसे आत्म-निश्चय के अधिकार से वंचित कर दिया गया, उसको इतना दण्ड देना ही पीड़ाजनक है।

३. अतएव जेल का शासन इस पीड़ा में और वृद्धि न करे।

४. किसी अपराधी की स्वाधीनता छीन लेना, उसे जेल में बन्द करना इत्यादि कार्य अपराध से समाज की रक्षा करने के लिए होता है। पर यह

Modern Methods of Penal Treatment, p. 23.
International Penal and Penitentiary Commission (IPPS).
League of Nations, Resolution of 26th Sept., 1934.
First U.N.O. Congress on Prevention of Crime and Treatment of Offenders, Geneva, August-Sept., 1953.

मक़सद तभी पूरा होगा जब जेल में ऐसे उपाय किये जायँ कि जेल से बाहर निकलने के समय वह व्यक्ति इतना सुधर गया हो कि अपनी इच्छा से नैतिक और क़ानूनी दायरे में स्वावलम्बी जीवन बिता सके।

५. इसी दृष्टि से जेलों को चाहिए कि ऐसे हर प्रकार के उपाय करें—शिक्षणीय, नैतिक, आध्यात्मिक इत्यादि—जिससे कि बन्दी की निजी आवश्यकता के अनुसार उसकी चिकित्सा की जा सके।

६. कारागार के प्रशासन को चेष्टा करनी चाहिए कि बन्दी के जीवन में तथा स्वतन्त्र नागरिक के जीवन में कम से कम अन्तर हो ताकि बन्दी में मानव जीवन की मर्यादा स्थापित हो सके। उसका बन्दी जीवन समाप्त होने से पहले ही ऐसी तैयारी करनी चाहिए कि वह धीरे-धीरे अपने भावी स्वतन्त्र जीवन के योग्य बन जाय। इसके लिए यह हो सकता है कि उसे छूटने के पहले किसी दूसरी संस्था में कुछ समय के लिए रखा जाय या मियाद के पूरा होने के पहले निगरानी पर छोड़ दिया जाय तथा उसके पुन: संस्थापन में आवश्यक सामाजिक सहायता दी जाय। उसे पुलिस की निगरानी में नहीं छोड़ना चाहिए।

७. क़ैदी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे उसे समाज का बहिष्कृत अंग समझा जाय बल्कि उसे समाज का पूर्ववत् अंग मानकर उसके सुधार का काम करना चाहिए। बन्दी समाज की सेवा करने वाली तथा उनके सामाजिक पुन: संस्थापन का प्रयत्न करने वाली संस्थाओं से जेल का सम्पर्क रहना चाहिए और उनसे सहायता लेनी चाहिएँ। कारागारों के साथ ऐसे समाज के सेवक कार्यकर्ता सम्मिलित रहने चाहिए जो बन्दी तथा समाज, बन्दी तथा उसके परिवार का सम्बन्ध न टूटने दें—उसे और भी घनिष्ठ करते रहें तथा क़ानून की ज़िम्मेदारियाँ तथा सीमा के भीतर रहते हुए उसके सामाजिक अभ्युत्थान तथा संस्थापन के लिए सतत् प्रयत्न करते रहें।

८. कारागारों के साथ अच्छे चिकित्सकों का तथा चिकित्सा का प्रबन्ध होना चाहिए। बन्दी की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति की बराबर जाँच होनी चाहिए तथा हर प्रकार की डाक्टरी, मनोवैज्ञानिक आदि चिकित्सा बन्दी के लिए उपलब्ध होनी चाहिए।

९. इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए हरेक बन्दी की व्यक्तिगत चिकित्सा करनी पड़ेगी। उनका समुचित वर्गीकरण करना होगा। वर्गीकरण के अनुसार भिन्न केन्द्रों में—संस्थाओं में रखना होगा। इन भिन्न संस्थाओं में हरेक वर्ग के लिए समान बन्धन तथा संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। जिस वर्ग के लिए जितनी हिफ़ाज़त की ज़रूरत हो उससे ज़्यादा नहीं होनी चाहिए। बन्दियों के पुन: स्थापन के लिए खुले जेल बहुत ही उपयोगी साबित हुए हैं

क्योंकि इनमें रहने वालों पर शारीरिक प्रतिबन्ध नहीं होता। वे अपने आत्म-निर्णय के लिए पूरा अवसर प्राप्त करते हैं। बन्द जेलों में क़ैदियों की संख्या इतनी नहीं होनी चाहिए कि उन पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान न दिया जा सके। एक जेल में ५०० से अधिक व्यक्ति नहीं बन्द करने चाहिए। खुले जेलों में यह संख्या जितनी कम हो, उतना अच्छा है। साथ ही इतने छोटे कारागार भी न हों कि बन्दियों को समुचित सुविधाएँ प्राप्त न हो सकें।

१०. बन्दी के छोड़ देने से ही समाज का काम पूरा नहीं हो जाता। ज़रूरत इस बात की है कि सरकार या सार्वजनिक संस्थाएँ उत्तर-रक्षा का कार्यक्रम चलाएँ जिससे छूटने के बाद वन्दी के प्रति समाज की दुर्भावना वदली जा सके और उसका सामाजिक पुनर्वास हो सके।

यदि कारागार न रहें ?

संयुक्त राज्य अमेरिका के एक विश्वविद्यालय-टेम्पुल यूनीवर्सिटी के समाज विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० नेगले के० टीटर्स ने अपराधी को कारागार में बन्द रखने की प्रथा का ही विरोध किया है। वे लिखते हैं "कारागार असफल रहे। अब हमको कोई दूसरा उपाय सोचना चाहिए.........राज्य क्यों अपराधी को आलस्य या नीम-आलस्य के जीवन में पालता रहे और उधर उसके परिवार का भी पोषण करे। यह वज्र मूर्खता है।" टीटर्स के समान विचार रखने वाले कम नहीं हैं। बहुत समय से हैं। सन् १८६८ में डेस्प्रोज़ नामक एक फ्रांसीसी लेखक ने जेलों के विरुद्ध काफ़ी लिखा था। उनसे भी ४८ वर्ष पूर्व फ़िलाडेल्फ़िया के सुधारकों ने लिखा था कि बन्दियों को एकान्त में रखकर सुधारने का जो सपना उन्होंने देखा था, वह असफल हो रहा है। यह बात सन् १८२० की है। इनके कुछ समय बाद श्री एनक सी० वाइन्स तथा थियोडोर राइट ऐसे विचारकों ने भी कारागार की असफलता की बात उठायी थी। सन् १९४० में संयुक्त राज्य अमेरिका के सबसे बड़े सरकारी वकील अटार्नी जनरल ने कहा था कि "जेलों से कोई लाभ नहीं हुआ है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण आदर्श जेल प्रणाली चलाना कठिन है। डेढ़ लाख क़ैदियों को आदर्श ढंग से रखने के लिए कम से कम ४० करोड़ रुपया वार्षिक चाहिए। क्या हम इतने धन का प्रबन्ध कर सकते हैं ? क्या इतना धन व्यय करने पर भी परिणाम अच्छा निकलेगा।"

जेलों से लोग निराश होने लगे हैं—बहुत दिनों से निराश हो रहे हैं। यह बात तो प्रकट है; फिर भी, यदि कारागार न हों तो उनके स्थान पर क्या हो ? यह देखना होगा। सोचना होगा। यह बात सबसे पहले तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय जेल कांग्रेस, रोम में सन् १८८५ में विचारार्थ प्रस्तुत की गयी। वहाँ पर यह प्रस्ताव

रखा गया कि क्या यह उचित नहीं है कि उनको निगरानी में रखकर कहीं काम पर लगा दिया जाय। कहीं एक जगह बन्द किया जाय। छोटे-छोटे अपराधों पर केवल प्रताड़ना देकर छोड़ दिया जाय, इत्यादि।

सन् १८९० में रूस की राजधानी सेंट पीटर्सबर्ग में चौथी कांग्रेस हुई। वहाँ भी यही सवाल उठाया गया। सन् १९०० में बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स की कांग्रेस में भी यही सवाल उठा। ९वीं अन्तर्राष्ट्रीय जेल कांग्रेस लन्दन में सन् १९२५ में हुई। वहाँ भी इसी बात पर विचार किया गया। पर कहीं भी कोई निर्णय नहीं हो सका। पच्चीस साल तक यह बात दबी पड़ी रही। सन् १९५० में यही सवाल फिर से पेश हुआ। उस साल हावर्ड बी० गिल ने यह सुझाव हमारे सामने रखा कि जेलों से सिर्फ़ इतना काम लिया जाय कि वहाँ पर कुछ समय के लिए बन्दी रखे जायँ और उनकी पूरी जाँच हो जाय। बस, जेल केवल जाँच करने वाले केन्द्रों का काम दें। इससे अधिक नहीं। जाँच के बाद जैसे इलाज की ज़रूरत हो, वैसा इलाज करने के लिए उनको अलग-अलग केन्द्रों में भेज दिया जाय। दूसरा सुझाव यह भी सामने आया कि पुराना ऐंग्लो सैक्सन तरीक़ा अपनाया जाय। अपराधी से अदालत का ख़र्च तथा जिसकी जितनी हानि उसने की है—उसकी आर्थिक क्षति-पूर्ति करायी जाय। एक इतालियन क़ानूनदां रैफेलो गैरिफातो ने कहा था कि आर्थिक क्षति-पूर्ति कराने से अपराधी का जेल में रखने से अधिक जल्दी तथा अच्छा सुधार होता है।

कोलम्बिया (संयुक्त राज्य अमेरिका का एक प्रदेश) में साधारण अपराधियों को यही दण्ड दिया जाता है कि किसी विशिष्ट नगर या स्थान में रहने की मनाही कर दी जाती है। कोलम्बिया तथा इक्वेडार राज्यों में जेल भेजने के बजाय नीचे लिखे दण्ड दिये जा सकते हैं—

१. कतिपय नागरिक अधिकारों से वंचित कर देना।
२. कतिपय व्यवसाय करने के अधिकार से वंचित कर देना।
३. बुढ़ापे की या बेकारी की पेंशन बन्द कर देना।
४. नागरिक अधिकारों से एकदम वंचित कर देना या उन अधिकारों का उपयोग स्थगित कर देना।
५. सरकारी निर्माण कार्य या किसी कारखाने में काम करने के लिए बाध्य करना।

कारागार की उपादेयता के बारे में चाहे कितनी भी शंकाएँ की जायँ अभी तक तो ऐसा लगता है कि इनका होना ज़रूरी है। अपराधी के हित का विचार करके भी इनका रहना ज़रूरी है। पर, यह सत्य है कि अपने अज्ञानवश हम जेलों का ठीक से संचालन नहीं कर रहे हैं, ठीक से उपयोग नहीं कर रहे हैं। जब तक जेल के अधिकारियों का अपने बन्दियों से घनिष्ठ परिचय न होगा,

तब तक वे अपने बन्दियों का विश्वास न प्राप्त कर सकेंगे; तब तक बन्दी के सुधार का काम न हो सकेगा और जेलों की उपयोगिता न रहेगी। अर्नेस्ट गोल्ड्सबोरो ने लिखा है कि जेल के कर्मचारियों में अपने काम के प्रति आस्था तथा अपने काम की जानकारी का होना ज़रूरी है। अन्यथा वे क़ैदियों में रचनात्मक कार्यों के प्रति प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न कर सकेंगे और उनको ज़िम्मेदारी के साथ जीवन बिताने के लिए तैयार नहीं कर सकेंगे।

आज की हमारी दुनिया में कारागार दुष्टता तथा पाप का प्रतीक समझा जाता है। हम सोचते समझते हैं कि सभी पापी और दुष्ट जेल के फाटक के भीतर बन्द हैं। इसके भीतर बुरे लोग रहते हैं। यह बुरी जगह है। यह नर्क कुण्ड है। यह भावना समाज के मन में भरी हुई है। जिस किसी को हम जेल के भीतर पहुँचा देते हैं, उसके मन में भी यही भावना रहती है कि वह बुरा आदमी है, बुरों का संग करने के लिए बुरी जगह भेज दिया गया है। ऐसे मानसिक वातावरण के कारण भी बन्दी के सुधार में बड़ी बाधा पहुँचती है। पर, यह नहीं भूलना चाहिए कि बुरी चीज़ें भी अच्छी हो सकती हैं और अच्छी चीज़ों को भी हम बुरा बना देते हैं। एक ओर तो हम जेलों को सुधार-गृह मानते हैं और दूसरी ओर हम उनमें एक वर्ष या इससे अधिक तक क़ैदी को काल कोठरी में बन्द किये रहते हैं। बन्दी के सुधार का काम हँसी खेल नहीं है।

बन्दी का मानसिक स्वास्थ्य

डा० कार्ल मिनिंगर तथा जे० आर० रीस का कहना है कि बन्दी के शारीरिक स्वास्थ्य से अधिक महत्व उसके मानसिक स्वास्थ्य का है। जब तक उसके मानसिक स्वास्थ्य को ठीक न किया जायगा, चाहे उसे किसी प्रकार का दण्ड दिया जाय, जेल हो, जुर्माना हो, कुछ भी हो, समाज का कल्याण न होगा। समाज का ख़तरा दूर न होगा। लम्बी सज़ा देने से एक फ़ायदा है। सुधार तथा चिकित्सा के लिए काफ़ी मौक़ा मिलता है। हम तो हरेक सरकार से एक ही सवाल पूछना चाहते हैं। क्या वह अपने बन्दियों को जेलों में इसलिए बन्द रखती है कि वे समाज के कोढ़ हैं, उन्हें अलग रखना ही चाहिए या वह समाज के पथ-भ्रष्टों को सही रास्ते पर चलाने के लिए उन्हें "कारागार" नामक अस्पताल में रखे हुए हैं? क्या क्षयी या किसी अन्य छुतही बीमारी का रोगी समाज के लिए ख़तरनाक नहीं है? क्या अपराधी किसी ख़तरनाक रोगी से ज़्यादा गया गुज़रा हुआ है? ऐसी दशा में कारागार तथा अस्पताल की समान उपयोगिता क्यों न मान ली जाय?

संयुक्त राज्य अमेरिका के कतिपय प्रदेशों में यह नियम है कि यदि क्षयी आदि संक्रामक रोगों का मरीज़ अपनी समुचित चिकित्सा न कराये तो उसे

दण्ड दिया जाय । उसे अपराधी समझा जाय । ऐन्द्रिक बीमारियों के मरीज़ों के लिए इस नियम का कठोरतापूर्वक पालन होता है । स्वीडन में घोर शराबियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं । पर भारत तथा अनेक देशों में ऐसी गहरी तथा संक्रामक बीमारियों के फैलने में कोई रुकावट नहीं है । आसानी से अच्छी हो जाने वाली अपराध की बीमारी की ओर हम ध्यान ही नहीं देते हैं। हमारे जेलों के लिए जो प्रादेशिक तथा केन्द्रीया क़ानून बने हैं उनमें एक बड़ा दोष है । हम जेल के अधिकारियों में यह भावना नहीं पैदा कर रहे हैं कि बन्दी को अपना नागरिक भाई समझकर उसके मन तथा चरित्र को सुधारने की ज़िम्मेदारी उनकी है ।

हमें ऐसे क़ानून की ज़रूरत है जो हमारे आधुनिक जीवन के लिए उपयुक्त हो । ऐसे क़ानून से क्या लाभ कि हम किसी आदमी को चौबीस घण्टे के दिन में से बाइस घण्टे तक काल कोठरी में बन्द रखें । फिर भला वह बिचारा पागल क्यों न हो जायगा ! हमारे विचार से कारागार रहने चाहिए । केवल कर्मचारियों का तथा सरकार का दृष्टिकोण बदलना चाहिए । कारागारों की बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है । उनके पास समाज का सबसे दूषित कहा जाने वाला समुदाय है । उनमें से हरेक को अपने पैरों पर खड़ा होना, स्वस्थ नागरिक जीवन बिताना, ईमानदारी की ज़िन्दगी बिताना सिखाना है । बहुत-से बन्दी बड़े भयंकर तथा विकट होते हैं । उनको रास्ते पर लाना टेढ़ी खीर होती है । पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती से किसी में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । इसके लिए बड़ी समझदारी की ज़रूरत होती है । हरेक बन्दी के मन में बिना पैठे, बिना उसकी समस्याओं की जानकारी प्राप्त किये बन्दी के साथ आत्मीयता नहीं हो सकती । बिना आत्मीयता के किसी का चरित्र-निर्माण करने का उपाय भी नहीं किया जा सकता । जिस जेल कर्मचारी के मन में केवल रोबदाब की भावना भरी हुई है, जो केवल अपनी छड़ी के सहारे मानव-समस्या को हल करना चाहता है, वह समाज का शत्रु है । वह अच्छे ख़ासे समझदार लोगों को भी बिगाड़ रहा है । यदि हमने बन्दी को जेल में स्वस्थ जीवन के लिए तैयार नहीं किया तो जेल से बाहर निकलने पर स्वतन्त्र नागरिकों के बीच में वह अपने को निकम्मा पाता है । उसे उनके साथ मिलने जुलने में झेंप लगती है । उसे जेल के भीतर ही अपने अनुकूल वातावरण प्रतीत होता है । ऐसी दशा में वह पुनः उसी वातावरण में जाना चाहता है जहाँ उसका मन अधिक स्थिर रहता है । इसीलिए प्रथम अपराधी स्वयं न चाहते हुए भी दुबारा अपराधी बन सकता है ।

जिसने समाज के प्रति अपराध किया उसे जेल जाना ही होगा । पर, इसलिए नहीं कि उसे यातना देकर भयभीत करना है, वरन् इसलिए कि उसे

सही रास्ते पर लगा देना है। उसके लिए कितना तथा कैसा उपचार चाहिए, उसे जेल में कितने दिनों तक रखना चाहिए, या उसका किस प्रकार वर्गीकरण करें जिसके द्वारा भिन्न संस्थाओं द्वारा उसका सुधार हो सके—निगरानी, आरक्षण यानी प्रोवेशन, जमानत पर छोड़ना, या जेल यह सब बातें सुलझे हुए तथा विचारवान मैजिस्ट्रेटों को तय करनी चाहिए। जेल भेजने के वजाय प्रोवेशन पर भी छोड़ा जा सकता है। पर, प्रोवेशन अफ़सर को वहुत ज़िम्मेदारी से काम लेना पड़ेगा। उसे स्वयं बड़ा सुलझा हुआ, ईमानदार, सच्चरित्र तथा मनोवैज्ञानिक कर्मचारी होना चाहिए। भारतवर्ष में प्रोवेशन अफ़सरों की अभी क़द्र नहीं है। उनका वेतन इतना कम है कि अच्छे लोग उस विभाग की ओर आना ही नहीं चाहते।

अपराध एक रोग है। चोर चोरी की मूर्ति नहीं है। वह चोरी करने के बुख़ार का मरीज़ है। अपराधी की कोई ख़ास नस्ल नहीं होती। क़ानून की निगाह में सभी बराबर हैं। पर, क़ानून को यह नहीं भूलना चाहिए कि हरेक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व भी होता है। यदि आदमी के व्यक्तित्व की हत्या कर दी जाय तो वह सामाजिक रूप से, दोनों प्रकार से, मर जाता है। जब हम किसी आदमी को जेल में बन्द कर देते हैं तो उसके मन में यह भावना पैदा कर देते हैं कि समाज का फाटक उसके लिए वन्द हो गया है। वह समाज के लिए मर गया है। इस प्रकार हमने जेल में समाज के लिए एक नया आतंक, एक प्रेत पैदा कर दिया। यदि हम उस व्यक्ति के मन में यह भावना पैदा कर दें कि वह थोड़े समय के लिए समाज से बिछुड़ा है, उसे फिर अपने समाज में वापस जाना है तो उसके मन की प्रवृत्ति ही दूसरी हो जायगी। इसलिए कारागार के भीतर ही समुचित सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का विकास करना होगा। अन्यथा जेल की संस्था कर-दाता के लिए एक निरर्थक भार बन जायगी।

मनोवैज्ञानिक विश्लेपण

यह अध्याय समाप्त करने के पहले हम पाठकों के सामने एक उदाहरण देकर सिद्ध करना चाहते हैं कि अपराध तथा अपराधी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कितना आवश्यक है तथा अपराधी के निदान में, उसकी चिकित्सा में प्रोवेशन (आरक्षण प्रणाली) का अधिकतम उपयोग कितना आवश्यक है।

हैडविग स्वार्ज लन्दन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का कार्य करते हैं। उनका यही पेशा है। यही धन्धा है। निजी अध्ययन के लिए वे प्रायः बाल-अपराधियों के सम्पर्क में आते हैं और वे बाल-अपराधियों की देखरेख करने वाले प्रोवेशन अफ़सर की सहायता से किसी न किसी बाल अपराधी की मनो-वैज्ञानिक मीमांसा करने का अवसर प्राप्त करते हैं।

मार्च सन् १९४५ ई० में एक प्रोबेशन अफ़सर की कृपा से १९ वर्ष की एक लड़की से इनका परिचय हुआ। मार्च सन् १९४५ ई० से अप्रैल सन् १९४६ ई० तक इस लड़की का उपचार अर्थात् इसकी चिकित्सा का भार श्री स्वार्ज ने अपने ऊपर ही ले रखा था। अप्रैल सन् १९४६ ई० के बाद भी कई वर्ष तक इस लड़की से उस मनोवैज्ञानिक का सम्बन्ध बना रहा और वास्तव में इन दोनों में काफ़ी दोस्ती हो गयी थी।

इस लड़की की चिकित्सा में स्वार्ज महोदय को बड़ा विचित्र और रोचक अनुभव प्राप्त हुआ। इन अनुभवों को उन्होंने इंगलैण्ड की अपराध-शास्त्र सम्बन्धी एक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में छपवा दिया था और निःसन्देह इस विषय में लेशमात्र भी रुचि रखने वालों के लिए यह लेख बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

आज बाल-अपराध की समस्या हरेक देश में गम्भीर अध्ययन की वस्तु बन गयी है। प्रत्येक सभ्य देश अब इस नतीजे पर पहुँचा है कि किसी भी आदमी में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा-बूढ़ा हो, अपराध करना स्वाभाविक नहीं हुआ करता यानी यह कोई ख़ानदानी मर्ज़ नहीं है। असल में हर अपराध की तह में मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। विशेषकर बाल-अपराध के सम्बन्ध में तो मनोवैज्ञानिक कारण बहुत ही स्पष्ट होता है, यदि उसके जानने की ज़रा भी कोशिश की जाय। जिस देश में बाल-अपराधियों को साधारण अपराधियों की श्रेणी में रखा जाता है, नन्हें-नन्हें बच्चों को जेल में रखकर उनके दिल और दिमाग़ में अपराध का बहुत बड़ा असर पैदा किया जाता है, उस देश के बच्चों का भविष्य बड़ा ही अन्धकारमय होता है।

बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति होते हैं। इन्हीं के ऊपर देश की उन्नति और उसका विकास निर्भर करता है। इनकी उपेक्षा और इनका अनादर करना अगली पीढ़ी को ही चौपट कर देना है। बच्चों के कोमल हृदय और मस्तिष्क में मार-पीट की सज़ा, जेल की सज़ा या हथकड़ी-बेड़ी की सज़ा इतना बुरा असर डालती है कि वे सदा के लिए निकम्मे हो जाते हैं। हमारे देश में ज़रा-ज़रा से अपराध पर बच्चों को जेल में ठूँस दिया जाता है। महीनों तक वे क़ैदखाने में पड़े रहते हैं। उनकी शक्ल देखिए तो कितने गन्दे और भद्दे दिखायी पड़ेंगे। हमारी पुलिस बच्चों को हथकड़ी पहनाकर सड़क पर घुमाती हुई जेलखाने ले जाती है। भारत की केन्द्रीय अदालत, सुप्रीम कोर्ट के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर ने लिखा था कि जिस दिन भारत में बच्चों को हथकड़ी पहनाकर सड़क पर ले जाना बन्द हो जायगा उस दिन वे समझेंगे कि भारत सभ्य हो गया।

पश्चिम के देशों में ऐसा नहीं होता। वहाँ कोशिश यह की जाती है कि एक बार नहीं अनेक बार अपराध करने पर भी बच्चों को जेल में न रखा जाय।

यदि उनको बहुत बड़ी सज़ा हुई तो केवल यही कि उन्हें सुधार-गृह या बाहर छात्रावासों में रख दिया गया। किन्तु ये छात्रावास भी बहुत ही साफ़ सुथरे और अच्छे होते हैं और इनमें मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रहता है जो अपराध करने वालों के दिल और दिमाग़ की बराबर जाँच करता रहता है और जाँच करने के बाद जो कुछ कमियाँ उन लड़के या लड़कियों में उसे मिलती हैं, उसी को पूरा करने का नुस्खा तैयार किया जाता है। सभ्य देशों में अपराधियों के जुर्म को क़ानून की दफ़ा से नहीं नापा-तोला जाता। वहाँ हरेक जुर्म का कारण जानने का प्रयत्न होता है। मतलब यह है कि अपराध से अधिक अपराधी की जाँच की जाती है। उसके हाथ के काम से अधिक उसके मन की गति की जाँच पड़ताल शुरू होती है। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता घटने नहीं पाती।

ऊपर हमने हैडविग स्वार्ज का ज़िक्र किया है। हैडविग स्वार्ज बाल-अपराधियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का कार्य बहुत रुचि के साथ करते थे और उनके इसी कार्य के सिलसिले में मार्च सन् १९४५ ई० में डोरोदी नाम की १९ वर्ष की एक लड़की से परिचय हुआ था। यह लड़की उस समय तीसरी बार प्रोबेशन अफ़सर की निगरानी में छोड़ी गयी थी। प्रोबेशन अफ़सर का काम होता है कि अपराधियों को जेल से बचाकर उनको अपनी देखरेख में रखना और उनके चरित्र में जो दुर्बलता आ गयी है उसमें सुधार करना, उन्हें सच्चा नागरिक बना देना। इंगलैण्ड में इस प्रकार के १५०० प्रोबेशन अफ़सर हैं। हमारे उत्तर प्रदेश में लगभग ५० हैं।

डोरोदी की कहानी

श्री स्वार्ज के पास जो लड़की लायी गयी थी उसका नाम था डोरोदी। उसकी यह तीसरी सज़ा थी। सबसे पहले जब वह १२ वर्ष की थी एक पड़ोसी के घर से एक बोतल दूध चुराने के अपराध में पकड़ी गयी थी। उस समय अदालत ने यह निर्णय किया था कि मालूम होता है कि इसके परिवार की आर्थिक हालत बहुत ख़राब है अतएव उसे किसी अच्छे परिवार के साथ रख दिया जाय, तो उसकी चोरी की आदत छूट जायगी। डोरोदी को दूसरे मुहल्ले में एक सम्पन्न महिला के साथ रख दिया गया। वहाँ से उसने अपनी मालकिन की सुन्दर घड़ी, गले में पहनने की माला और गालों पर पाउडर लगाने का पफ़ चुरा लिया। किसी प्रकार यह चोरी अदालत के सामने नहीं आयी और उस महिला ने इतने अपराध पर भी डोरोदी को अपने यहाँ रखने का निश्चय किया। किन्तु, इस घटना के १५ दिन बाद ही उस लड़की ने एक महिला अध्यापिका के लगभग १८ आने पैसे चुरा लिये। अब मजबूर होकर अधिकारियों को उसे एक ऐसे छात्रावास में भेजना पड़ा जहाँ

बिगड़े हुए बच्चे सरकारी देखरेख में रखे जाते हैं। वहाँ पर रहते हुए भी उसकी चोरी की आदत नहीं सुधरी। जब वह १४ वर्ष की हुई तो उसके बहुत आग्रह करने पर प्रोबेशन अफ़सर ने उसे घर जाने की आज्ञा दे दी। घर पहुँचने के बाद उसने कई जगहों पर नौकरी की। उसका पिता महायुद्ध में घायल होकर सदा के लिए अपाहिज हो गया था। उसकी माता को घोर परिश्रम करके परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता था। इस प्रकार ८ वर्ष की उम्र से ही डोरोदी अपने घर की दरिद्रता का अनुभव करती आई थी। जब वह १५ साल की हुई तो उसके पिता को फिर कोई काम लग गया था जो उसके ऐसे अपाहिज भी कर सकते थे। पिता अपनी पुत्री को बहुत चाहता था इसलिए उसने जब अपनी बेकारी के ७ वर्ष बाद कमाना शुरू किया तब प्रेमवश अपनी नन्हीं बच्ची की बचपन की माँगों को न पूरा कर सकने के प्रायश्चित स्वरूप, अपनी आमदनी का अधिकांश भाग उसके लिए उपहार ख़रीदने में व्यय करता था। इसी कारण डोरोदी के माता-पिता में आपस में झगड़ा हो जाया करता था। किन्तु यह झगड़ा ज़्यादा दिनों तक न चल सका। डोरोदी की १७वीं वर्षगाँठ पर उसके पिता का देहान्त हो गया। ग़रीब माता घर गृहस्थी सँभाल नहीं सकती थी। डोरोदी का छोटा भाई हवाई जहाज़ के हमले में घायल हो गया था। यह परिवार देहात पहुँचाया गया। १९वीं साल की उम्र में डोरोदी पर चार चोरियाँ करने का अभियोग लगा। कुछ नक़द रुपया, एक फाउन्टेनपेन, एक अँगूठी और एक कोट उसने चुराया था। इस प्रकार वह तीसरी बार प्रोबेशन में आयी और उसे एक अपराधगृह में रखा गया, जहाँ से सप्ताह में केवल एक बार वह बाहर जा सकती थी। किन्तु हैडविग स्वार्ज ने जब उस बालिका के अध्ययन का निश्चय किया तो कुछ दिनों के बाद उसे बिना किसी पहरे के स्वार्ज के दवाख़ाने में आने की आज्ञा मिल गयी। अपने नये घर में वह इतने परिश्रम से काम करती थी कि कुछ ही दिनों में उसे बाहर की कमान में काम मिल गया। बहुत-सी लड़कियाँ उस अपराध-गृह से भाग जाती थीं और फिर पकड़कर मँगायी जाती थीं, पर डोरोदी ने कभी ऐसी बात सोची भी नहीं। वह केवल एक उद्देश्य से अपने जीवन को ईमानदारी से निभा रही थी। उसने स्वार्ज से कहा कि वह जल्दी से जल्दी सुधर कर अपनी माता के पास जाना चाहती है। उसे अपनी माता की ग़रीबी और बुढ़ापे में नौकरी का उसका परिश्रम बहुत ही खल रहा है और वह चाहती है कि जल्दी से जल्दी अपनी विधवा माता को काम करके खिलाना शुरू कर दे। उसके दो बड़े भाई सेना में थे, उसका सबसे छोटा भाई स्कूल में पढ़ता था। उसकी माता इतनी बूढ़ी हो गयी थी कि अब वह किसी जगह पूरे दिन काम नहीं कर सकती थी। डोरोदी से बात करने के बाद

स्वार्ज अचम्भे में आ गये। उन्होंने देखा कि इस चोर लड़की के दिल में अपने परिवार के प्रति, अपने कुटुम्ब के प्रति और अपने कर्तव्य के प्रति बहुत ही उन्नत और अच्छे भाव हैं।

चोरी का कारण

यही बात डोरोदी में ही नहीं बल्कि अधिकांश बाल-अपराधियों में होती है। हम उन्हें चोर और लफंगा समझकर, संसार में निकम्मा और बेकार समझकर अपने से अलग कर देते हैं, किन्तु वास्तव में उन अभागे लड़कों के मन के भीतर पैठकर देखा जाय तो पता चलेगा कि उनके दिल और दिमाग में वही तरंगें, वही कामनाएँ और वही महत्वाकांक्षाएँ हैं जो हमारे और आपके दिल में होती हैं तथा उनसे जो भूल हुई है उसका कारण उनकी सामाजिक अथवा आर्थिक परिस्थिति है जिसकी ज़िम्मेदारी समाज पर भी होती है। जिन्हें हम चोर समझकर जेल में ठूँस देते हैं वही हमारे सच्चे हितैषी और समाज के सच्चे कार्यकर्ता होते हैं।

स्वार्ज ने डोरोदी के साथ बातचीत करके जो सम्बन्ध स्थापित किया था उसमें कभी इस प्रकार की भावना नहीं होने दी कि वह उसका सुधार करने आया है अथवा उसकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करने आया है। यह हरेक मनोवैज्ञानिक जानता है कि जिस किसी लड़के में कुछ विकसित व्यक्तित्व होता है तथा जिसमें लेशमात्र भी अहम्भाव या आत्मसम्मान की भावना होती है वह कदापि यह स्वीकार नहीं करता कि कोई उसकी समीक्षा कर रहा है तथा उसके दिल और दिमाग़ की निगरानी की जा रही है। इसलिए ऐसे बच्चों को अपने वश में करने के लिए उन साधारण तरकीबों को काम में लाना पड़ता है जिनसे हम अपने घर के बच्चों को वश में करते हैं, जैसे खिलौने देकर, मिठाई देकर फ़ुसलाना या डरा धमकाकर अपने वश में करना।

अपराध के कारण

डोरोदी ने जब स्वार्ज के यहाँ आना शुरू किया तो उनके कमरे में पहली बार प्रवेश के बाद ही उसे आत्मीयता का ऐसा वातावरण मिला कि वह धीरे-धीरे उस मनोवैज्ञानिक को अपना मित्र बना बैठी और बिना उसके जाने ही मनोवैज्ञानिक ने उसी के मुँह से उसकी पूरी कथा सुन ली। उसने बताया कि सबसे पहले उसने अपने साथी एक लड़की की गुड़िया में से एक काली गुड़िया को पसन्द किया और उसे माँगा। जब लड़की ने उसे देना अस्वीकार किया तो वह गुड़िया छीनकर भाग आयी। लेकिन घर पहुँचने पर वह गुड़िया उससे ज़बर्दस्ती छीन ली गयी और असली मालकिन के पास पहुँचायी गयी।

आख़िर, डोरोदी गुड़िया क्यों चाहती थी ! सभी छोटी लड़कियाँ अपनी

माँ के समान पुत्रवती बनना चाहती हैं और छोटे-छोटे बच्चों को गोद में खिलाना चाहती हैं। मातृत्व की इस विकसित भावना के कारण ही लड़कियों को गुड़िया का खेल बहुत पसन्द है। लेकिन डोरोदी ने सभी गुड़ियों में से काली गुड़िया को ही क्यों पसन्द किया ? उसके परिवार में जिन लोगों से उसे बहुत स्नेह था वे एक प्रकार से साँवले रंग के थे। डोरोदी उनके साँवले-पन से बहुत आकर्षित होती थी। इसलिए वह अनायास काली गुड़िया की तरफ आकर्षित हो गयी। इस घटना से निश्चित हो गया कि इस लड़की में किसी चीज़ की ओर आकर्षित होने की और खासकर बच्चे खिलाने की इच्छा के कारण स्त्रीत्व की भावना विकसित हो रही थी। किन्तु उसके व्यवहार में एक अजीब चीज़ पैदा हो गयी थी। जब कभी वह अपनी माँ के साथ बाग़ में टहलने जाती थी तो बड़ी फुर्ती और होशियारी से खटोलों में या नन्हीं गाड़ियों में पड़े हुए बच्चों को गाड़ी या खटोले सहित उलट दिया करती थी। जब तक कि उसकी माँ उसको रोक सके या उन गाड़ियों की दाइयाँ अपने बच्चों को बचा सकें, हवा की फुर्ती से डोरोदी उन्हें उलट दिया करती थी। चाहे उसके ऊपर कितनी ही मार पड़ती वह अपनी शरारत से बाज़ नहीं आती थी। उसकी यह भावना अपराध-गृह में भी बनी रही और सदैव छोटे बच्चों को मारने पीटने का यत्न किया करती थी। किन्तु १ वर्ष बाद यह बात भी बिलकुल बदल गयी। बहुत सोचने पर उसको उस प्रवृत्ति का वैज्ञानिक कारण समझ में आ गया। जब से उसने होश सँभाला अपनी माँ के साथ उसकी बड़ी प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या होती गयी और उसे बुरा लगता था कि उसकी माँ को बच्चा होता है, उसे क्यों नहीं होता। और चूँकि उसकी माँ को ही बच्चा होता था इसलिए उसको सभी के बच्चे बुरे लगते थे। जब वह ४ वर्ष की थी तभी उसके एक कान में ऑपरेशन हुआ था जिससे वह कान सदैव के लिए सुन्न हो गया। इस अवगुण को वह प्रायः छिपाये रखना चाहती थी। जब वह छोटी थी तब बायें हाथ से लिखती थी। एक ओर उसे अपनी माता से ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा थी दूसरी ओर वह हर मामले में लड़कों से आगे बढ़ जाना चाहती थी। खेल-कूद में तथा दौड़ में भी वह हमेशा उनसे आगे बढ़ना चाहती थी। उसमें स्त्री तथा पुरुष दोनों की भावनाओं का ऐसा विचित्र सम्मिश्रण था कि हरेक मनोवैज्ञानिक के लिए वह सचमुच एक रोचक पहेली थी।

स्वार्ज ने धीरे-धीरे उसकी ज़िन्दगी के बारे में सवाल करना शुरू किया और उसकी मनोवृत्ति की जाँच करने लगा। पहले तो वह लड़की उस आदमी को देखकर चिढ़ उठती थी—जैसे उसे स्वार्ज के प्रति कोई घृणा या पहले का बैर हो। इसलिए बच्चों का साधारण तरीक़ा उसने अख़्तियार किया। वह क्रोध में आकर स्वार्ज के ऊपर अपनी किताब पटक देती थी या

थूक देती थी। पर उसको डाँटने के बजाय वह मनोवैज्ञानिक केवल मुस्करा देता और पूछता कि गाली देने से तथा थूक देने से उसके चित्त को कोई क्लेश तो नहीं हुआ।

आज हम लोग गांधी जी के सत्य तथा प्रेम के सिद्धान्त को कितना ही निकम्मा क्यों न समझें, यूरोप तथा अमेरिका के समझदार लोगों में उस सिद्धान्त की बड़ी क़द्र है। मान लीजिए कि स्वार्ज ने उस लड़की की बदतमीज़ियाँ देखकर सज़ा दी होती तब वह क्या करती ? चिढ़ जाती। उम्र तो ज़्यादा हो ही चली थी। वह अपना बस्ता उठाकर मास्टर साहब को अन्तिम सलाम करती। उसके मन के भीतर आग लगी हुई थी। किन्तु, इसके विपरीत धीरे-धीरे मित्रता करके डाक्टर स्वार्ज उसके साथी या उसकी सहेली बन गये।

माता से प्रतिस्पर्धा

बचपन में डोरोदी को यह बात बहुत ही खटकती थी कि उसका पिता उसकी माता को प्यार करता है। वह चाहती थी कि पिता का समूचा प्यार या अधिकांश प्यार उसे ही मिले। इसीलिए अपनी माता के प्रति ईर्ष्या प्रकट करने के लिए वह अक्सर घर-गृहस्थी की चीज़ों को तोड़-फोड़ दिया करती थी ताकि जहाँ तक हो सके माता की हानि हो। इसके विपरीत वह अपने छोटे भाइयों से बहुत प्रेम करती थी और चेष्टा यही करती थी कि उनको बहुत ही सुखी रखे। जब उसका पिता अपाहिज बनकर घर में पड़ा रहता था तो वह अपने पिता की बहुत सेवा करती थी। जब उसका पिता कुछ दिनों के लिए फिर से काम पर चला गया तो वह अक्सर अपनी बच्ची के लिए क़ीमती उपहार लेकर घर आता और अपनी कमाई का ज़्यादातर हिस्सा डोरोदी के लिए उपहार ख़रीदने में खर्च कर देता था। यह बात उसकी माता को बुरी लगती थी, और वह उपहारों को फेंक दिया करती थी। इसकी प्रतिक्रिया डोरोदी में यह हुई कि वह क़ीमती चीज़ें चुरा-चुराकर अपने पास रखती थी और ऐसा करके उसे अपनी माता को नीचा दिखाने में सन्तोष मिलता था।

जब उसकी माता विधवा हो गयी तो डोरोदी अपनी माँ की सहायता के लिए बेचैन हो उठी। इसका भी कारण था। उस अवसर पर उसके मन का पुरुषत्व जाग उठा था और एक अबला स्त्री की सहायता की भावना उसके मन में उत्पन्न हो गयी थी।

इस प्रकार ऐसी विचित्र लड़की के ऊपर स्वार्ज ने अपनी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा प्रारम्भ की। धीरे-धीरे उन्होंने उसके मन के भीतर से चुरायी हुई चीज़ों के प्रति प्रेम का काँटा निकाल दिया और फिर तो कोई चीज़ चुरा लेने

के बाद वह घण्टों तक दुःखी होकर सोचा और रोया करती कि उसने ऐसी भूल क्यों की। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि अपने होस्टल में अगर कोई चीज़ कहीं से उसने उठा ली परन्तु तब तक उसके मन को शान्ति नहीं मिलती थी जब तक उस वस्तु को वह वापस नहीं कर देती थी। इस प्रवृत्ति के साथ उसके मन में दूसरा भाव उत्पन्न हुआ। क्या दुनिया में चोर कहलाकर अपने माता-पिता की सेवा की जा सकती है? क्या इस प्रकार के काम करने से दोनों की इज़्ज़त बढ़ती है? जब स्वार्ज ने डोरोदी का मन इस पहलू की ओर ले जाना चाहा तो पहले तो वह बहुत ही उखड़ी, उसे बहुत दुःख लगा पर धीरे-धीरे उसकी समझ में यह बात आने लगी कि कमाई अच्छी हो और अच्छे ढंग की हो तो उसका सुख मिलता है। यदि बुरी कमाई हो तो उसका सुख क्षणिक होता है और परिणाम दुःखदायी होता है। इसी के साथ ही डोरोदी को १९ वर्ष की उम्र में, छोटी-छोटी गुड़िया और खिलौने दिये जाने लगे। लेकिन अब उसका बचपन दूर हो चुका था। इसलिए उसे उन गुड़ियों के प्रति आकर्षण नहीं होता था। उसने देखा कि जिन चीज़ों को वह चुराया करती थी वही चीज़ें अब उसे बेकार-सी मालूम होती हैं। एकाएक उसके मन में यह भावना पैदा हुई कि खेलने की चीज़ों को चुराने से क्या फ़ायदा। उनका महत्व सदा एक-सा नहीं रहता। जो खिलौना कल अच्छा लगता था उसी को देखकर आज बालक उपेक्षा से मुँह फेर लेता है। जो सामान कल चुराया गया था, आज सोचने में ऐसा लगता है कि न जाने क्यों ऐसी मूर्खता हुई कि उस सामान को चुरा लिया। इन सब भावनाओं का फल यह होता है कि अपराधी बालक के मन में अपने प्रति घृणा पैदा होती है। स्वार्ज ने डोरोदी को चोरी करने, चोरी का सामान बेचने तथा अन्य नयी सामग्रियाँ प्राप्त करने की सुविधाएँ दीं परन्तु ज्यों-ज्यों सुविधाएँ अधिक होती गयीं वह लड़की सन्मार्ग की ओर बढ़ती गयी।

अब उसमें एक तीसरा दोष और बाक़ी रह गया था—वह था उसमें व्यक्तित्व का न्यून विकास। व्यक्तित्व के विकास के लक्षण तो तभी प्रगट हो गये जब उसने अपनी माता के पास जाकर उसके भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेना चाहा तथा अपने छोटे भाई की देखरेख की चिन्ता उसे लगी। बस, इसी प्रवृत्ति का लाभ उठाकर मनोवैज्ञानिक स्वार्ज ने उसको इतना सचेत कर दिया कि वह जीवन की पहेली सुलझाने में समर्थ हुई और उसके सामने अपने आगे का जीवन ही रह गया, पिछले जीवन की कहानी समाप्त हो गयी। आज डोरोदी एक बहुत ही प्रतिष्ठित और भद्र महिला है, उसका परिवार है और वह अपने देश की भी सेवा करती है।

यदि हम अपने अपराधी बालकों के प्रति स्वार्ज महोदय की तरह धैर्य से

काम लें तथा यदि हम अपने बाल-अपराधियों को घृणा की दृष्टि से न देखकर केवल नादान बच्चे समझकर उनको जेल में ही भेज देना समाज का कल्याण न समझें और यदि हम हरेक बच्चे को अपनी निजी महत्ता तथा व्यक्तित्व रखने वाला समझ लें और उनके मन के भीतर बैठकर उनकी अपराधी प्रवृत्ति का कारण जान जायँ तो हर महीने में हम कम से कम १० या २० बच्चों को सही रास्ते पर ला सकेंगे; और यदि इतना बड़ा काम हो सके तो हमारे समाज का और हमारी सरकार का बहुत बड़ा कल्याण होगा।

इस समय हम छोटे बच्चों को समाज का धन नहीं समझते। उन्हें ज़रा-ज़रा से अपराध पर जेल में बन्द कर देते हैं। इस प्रकार हम उनके व्यक्तित्व को कुचल डालते हैं और उन्हें जानबूझकर अपराधी बना देते हैं। यह उचित बात नहीं है। जिस देश ने अपने बच्चों की इज़्ज़त करना नहीं सीखा, जिस देश ने हर बच्चे की क़ीमत नहीं समझी वह देश बड़ी भारी भूल कर रहा है। यह उसका अभाग्य है कि बाल-अपराधियों के नाम पर न जाने कितने बड़े-बड़े होनहार लेखक, शासक, सम्पादक, व्यवसायी तथा देशभक्त को हाथ से खो बैठता है। आज हम अगर ठीक से पता लगायें तो हमें मालूम होगा कि दुनिया में बड़े से बड़ा काम करने वाले ऐसे सैकड़ों महापुरुष हैं जो पहले बिना टिकट यात्रा करने के अपराध में या कोयले की चोरी में जेल भेज दिये गये होंगे।

८

पारिवारिक जीवन तथा अपराध

अपराध की दुरूहता

एक बार अपराध की दुरूहता जब सामने आ गयी तो उसका निदान तो करना ही होगा। संसार का कोई ऐसा कोना नहीं है जहाँ पर अपराध की गम्भीरता न बढ़ गयी हो। बड़े, बूढ़े, हर प्रकार के अपराधी बढ़ते जा रहे हैं। बाल-अपराधियों की संख्या में कितनी अधिक वृद्धि हुई है, इसका अनुमान भारत सरकार की एक रिपोर्ट से मिलता है। नीचे हम एक तालिका दे रहे हैं। इससे पता चलेगा कि सन् १९४७ से यानी स्वराज्य होने के बाद से लेकर सन् १९५६ तक—इसके बाद के ताज़े आँकड़े हमें प्राप्त नहीं हैं—२२ वर्ष की उम्र से नीचे के कितने व्यक्तियों को कठोर कारावास का दण्ड मिला था।[१]

वर्ष	पुरुष	स्त्री	जिन देशों के आँकड़े शामिल नहीं हैं
१९४७	२१,९७०	७८९	
१९४८	५१,२७३	१,२३६	
१९४९	५६,९६३	१,३६०	हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, मध्य भारत, भूपाल तथा विन्ध्य प्रदेश
१९५०	६६,९६८	१,३४६	जम्मू और काश्मीर, मध्य भारत
१९५१	६३,४४७	२,०२०	
१९५२	७५,९४८	२,४१५	जम्मू, काश्मीर, पेप्सू, विन्ध्य प्रदेश
१९५३	६१,८९०	२,३०९	पेप्सू, अजमेर, बिलासपुर, हिमाचल प्रदेश, कच्छ
१९५४	६९,६८२	२,५५२	आसाम, मध्य भारत, पेप्सू, अजमेर, और कच्छ
१९५५	६३,२३६	१,७४७	आन्ध्र, हैदराबाद, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, पेप्सू, सौराष्ट्र, अजमेर, कच्छ, विन्ध्य प्रदेश
१९५६	७४,७२१	२,४५५	

[१] *The Indian Statistical Abstract*, Government of India, 1960, Table No. 70.

सन् १९४७ और सन् १९४८ के बीच में २२ वर्ष से कम उम्र के दण्डितों की संख्या २२,००० से बढ़कर ५२,००० हो गयी थी। स्वराज्य होने के एक साल के भीतर इतनी वृद्धि हुई, इसका कारण स्वराज्य नहीं, उच्छृङ्खलता तथा समाज के जीवन में नया मोड़ है। सन् १९५३ में २९,७७४ बाल-अपराधी गिरफ़्तार हुए थे। सन् १९५९ में देश भर में ४७,९२५ बाल-अपराधी गिरफ़्तार हुए यानी छः वर्ष में बाल-अपराधियों की संख्या में ६१ प्रतिशत की वृद्धि हुई।[1] सन् १९५९ में गिरफ़्तार किये गये बाल-अपराधियों की उम्र के हिसाब से संख्या नीचे दी जा रही है :—

उम्र	लड़के	लड़कियाँ
७—१२	६८७०	४९६
१२—१७	१२४३८	५८९
१७—२१	२६४२४	१०५८

इनके द्वारा किये गये अपराधों की तालिका भी रोचक है। उदाहरण के लिए

(७ से २१ वर्ष की उम्र तक)

	लड़के	लड़कियाँ
हत्या अथवा हत्या का प्रयत्न	६२१	४८
२. अप्राकृतिक व्यभिचार	१७३	२
३. डकैती, राहजनी	२३१	२
४. चोरी	९,४०५	३६३
५. आबकारी, नशेबाजी	४,४५५	४११

लड़कियों में भी अपराध बढ़ता जा रहा है। सभी बाल-अपराधियों का बाल-अधिनियम के अन्तर्गत निदान नहीं हो पाता। यह अधिनियम सभी जगह लागू भी नहीं है। सन् १९५९ में ७ से १२ वर्ष की उम्र के भीतर के ४७२७ बच्चों को तथा १२ से १७ वर्ष के बीच के केवल १५१० बच्चों को बाल-अधिनियम के अन्तर्गत लाया जा सका। इसी वर्ष ४५,७७९ मुक़द्दमे बाल-अपराधियों की अदालत के सामने आये और उनमें से केवल ४,८४५ को देखरेख के लिए संस्थाओं में भेजा जा सका। २९,१६४ बाल-अपराधी जेल भेजे गये और ११,७७० विचाराधीन बन्दी के रूप में जेलों में सड़ते रहे। स्पष्ट है कि कम उम्र के बच्चों को जेल भेजने से समाज का कोई लाभ नहीं हुआ और बारह हज़ार बच्चों को केवल विचाराधीन क़ैदी बनाकर रखना तो और भी बुरा रहा।

[1] *Social Defence*, November 1961, Central Bureau of Correctional Service, Government of India.

बाल-अपराध की चतुर्दिक वृद्धि

बाल-अपराध केवल भारत में ही नहीं, हर जगह बढ़ रहा है, हर देश में बढ़ रहा है। हमारे सामने जितने बाल-अपराधियों की संख्या आती है, वह पूरी नहीं है, पर्याप्त नहीं है। वास्तविक संख्या कहीं अधिक है। संयुक्त राष्ट्र-संघ के सामाजिक सुरक्षा विभाग ने अगस्त ८ से १८ तक, सन् १९५६ में बैंगकाक में एक सम्मेलन किया था। उसमें भी यही कहा गया था कि बाल-अपराध की संख्या जो उपलब्ध है, वह वास्तविकता से कम है, क्योंकि बाल-अपराध सब जगह बढ़े हैं। जापान ऐसे समृद्ध देश में सन् १९५० की तुलना में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई है।[१] थाईलैण्ड में सन् १९४८ में २,२६,१६३ बाल-अपराधी थे। सन् १९५७ में ४,३३,०७६ की संख्या थी। हांगकांग की ढाई करोड़ की आबादी में ही ४,८७,०१९ बाल-अपराध सन् १९५४-५५ में हुए।[२] जिन देशों में शहरी आबादी, समूची आबादी की तुलना में जिस औसत में अधिक है वहाँ बाल-अपराध भी अधिक है। केवल भारतवर्ष ही इस विषय में अपवाद है।

देश[3]	समूची आबादी की तुलना में शहरी आबादी	देश में समूचे अपराधों की वृद्धि में बाल अपराधों की वृद्धि का औसत
हांगकांग	९४·०	९२·० प्रतिशत
जापान	२५·६	१५·० प्रतिशत
कोरिया	१३·२	४२·० प्रतिशत
लंका	५·४	१५ से २०·० प्रतिशत
थाईलैण्ड	६·७	९२·० प्रतिशत
भारतवर्ष	६·६	१० से १५·० प्रतिशत

एशिया के कतिपय देशों की तुलना में भारतवर्ष की समस्या उतनी जटिल नहीं प्रतीत होती। पर, यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकती। इसकी अभी से रोकथाम करनी पड़ेगी। शहरों की आबादी भारत में बढ़ रही है। शहर में बाहर के लोग जीविका के लिए आते हैं। वे श्रम के बाजार को सस्ता कर देते हैं। सस्ती मज़दूरी पर काम करते हैं। पेट भरता नहीं।

---

१ *Glimpses of Social Work in Japan*, Japan Social Workers' International Club, 1958, p. 116.

२ *Prevention of the types of Criminality resulting from Social Changes and Accompanying Economic Development in Less-developed Countries*, United Nations, Aug. 1960, pp. 25-26.

3 *Ibid*, p. 27.

गन्दे निवास स्थान में रहते हैं। अपने परिवार को या तो गाँव में छोड़ आते हैं या उसकी देखरेख नहीं कर सकते। ऐसी दशा में उनका अपना तथा उनके बच्चों का जीवन छिन्न-भिन्न और निरंकुश, उच्छृङ्खल और बुरे साथियों का शिकार बन जाता है। तब उनके लिए भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। बाल-अपराध की समस्या शहरों में इसीलिए गम्भीर हो जाती है। देहाती तथा शहराती सभ्यता के मेल में जब तक कि आदमी रम नहीं जाता, उसका जीवन अनेक कठिनाइयों में पड़ जाता है।

शहराती जीवन तथा परिवर्तनशील आधुनिक सभ्यता का प्रभाव हरेक देश के अपराधी जीवन पर पड़ा है। उदाहरण के लिए अफ्रीका का पिछड़ा हुआ महादेश लीजिए। इस महादेश की ८० फ़ीसदी आबादी देहातों में रहती है। इसका भी अब रूप बदल रहा है। शहरों में आबादी बढ़ने लगी है। शहरों में देहातों के लोग जीविका के लिए चले आ रहे हैं। मकानों की बड़ी कमी है। गन्दे निवास-स्थलों की भरमार है। पुरानी और नयी सभ्यता के मेल में जो प्रारम्भिक असुविधा पैदा होती है, वह भी बढ़ गयी है। उस पिछड़े महादेश में भी अब विवाह-सम्बन्ध आसानी से टूट जाते हैं। पारिवारिक जीवन उच्छृङ्खल होता जाता है। परिणाम यह है कि यद्यपि वहाँ अभी बाल-अपराध की समस्या गम्भीर नहीं हुई है, फिर भी बढ़ रही है। श्री हॉवर ने उस महादेश के कतिपय क्षेत्रों का पर्यटन करके अपने विचार प्रकाशित कराये हैं। उनका कहना है कि उस महादेश में जीवन का स्तर इतना नीचा है कि ग़रीब बच्चों में अगर कोई जूता पालिश करके जीविका कमाता है तो उसे पूँजीपति समझा जाता है। हॉवर के कथनानुसार अब अफ्रीका में भी आवारा लड़कों की तादाद बढ़ती जा रही है।[१] पश्चिमी अफ्रीका में १६ देश हैं। इनकी आबादी कुल ७ करोड़ है। इनमें साढ़े तीन करोड़ तो नाईजीरिया में रहते हैं। घन राज्य की आबादी ६० लाख है। अब घन राज्य तथा नाइजीरिया में बाल-कल्याण का कुछ कार्य शुरू हो रहा है।

बाल-अपराध की समस्या का एक बड़ा कारण यह भी है कि हम लोग बालकों के दिल और दिमाग़ को पहचानने की चेष्टा नहीं करते। इसका परिणाम बड़ा बुरा होता है। डा० अलेक्जेण्डर आलनिक ने लिखा है कि यदि सामाजिक रूप से बड़े या छोटे की मानसिक बीमारी का आंशिक रूप से भी निरूपण हो जाय तो बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा। पर, यह कैसे सम्भव

[१] *Impressions and Reflections about Child Welfare in some Regions of Africa*, Q. R. Mullock Houwer in *Newsletter* of the International Union of Child Welfare, No, 88, March/April, 1961.

होगा ! बच्चों की रक्षा तथा उनकी देखरेख के लिए उनके मन के विकार को पहचानना ज़रूरी है । इसीलिए डा० वाल्टर स्पील ने बच्चों के मानसिक रोग की देखरेख के लिए चार उपाय बतलाये हैं[1] :—

१. मानसिक रूप से कमजोर तथा मानसिक रोग से पीड़ित बच्चों की चिकित्सा ।

२. अपराधशील, अपराधी-प्रवृत्ति वाले, समाज में अपने को स्थिर न कर पाने वाले तथा विकारशील बच्चों की चिकित्सा ।

३. शिक्षा या विकास के साधनों में बच्चों के सामने जो बाधाएँ हों उनका निराकरण ।

४. बच्चों के लिए स्वास्थ्य की शिक्षा, उनके मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि का कार्य तथा उनकी मनोवैश्लेषणिक सेवा ।

इस प्रकार की सेवा का भारतवर्ष में अभी उचित प्रबन्ध नहीं है । उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र में कुछ मनोवैज्ञानिक अफ़सर नियुक्त हुए हैं पर उनका कार्यक्षेत्र सीमित तथा कार्य शिथिल है ।

गतिशील सभ्यता और परिवार

जब अपराध हर दिशा में बढ़ रहे हैं तो आज की वासनामय सभ्यता में ऐन्द्रिक अपराधों की वृद्धि भी आश्चर्यजनक नहीं है । जापान धन तथा समृद्धि में संसार में बहुत ऊँचा उठ गया है, पर अपनी ६ करोड़ की आबादी के चरित्र को सँभालने में असमर्थ है । सन् १९६० में उस देश में केवल मादक द्रव्य की अवैधानिक बिक्री के १९८६ अपराध हुए यानी फ़ी ४५,००० व्यक्ति पीछे एक अपराध अर्थात् ०·०००२ प्रतिशत । जापान सरकार का कहना है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह उनके देश में ऐसे अपराध कर रहा है ।[2]

आज की गतिशील सभ्यता में अपराध, हत्या, मृत्यु, यह सब तो खिलवाड़-सा होता जा रहा है । मनुष्य जैसे उन्मत्त हो रहा है । संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रसिद्ध नगर शिकागो का २७ दिसम्बर १९६१ का समाचार है कि बड़े दिन में मतवाले लोगों के कारण ५१९ व्यक्ति सड़क की दुर्घटनाओं से मरे । सन् १९५५ में उसी नगर में ६०९ व्यक्ति ऐसे ही मरे थे । ऐसी सभ्यता में अपराधों का बढ़ना कौनसा आश्चर्य है ? सोवियत रूस के प्रधान सरकारी वकील रूडेनको

[1] Dr. Walter Spiel in *Mental Health*, London, Vol. 13, No. 2, May 1961, p. 92.

[2] *Information Bulletin*, Embassy of Japan, New Delhi, Vol. VIII, No. 17, October 15, 1961.

ने वर्तमान सोवियत रूस में बढ़ते हुए अपराधों की मीमांसा करते हुए आजकल की सभ्यता को भी दोषी ठहराया है।[1]

आज हमारे जीवन का हरेक बन्धन शिथिल हो गया है। मानव जीवन का सबसे बड़ा बन्धन परिवार होता है। वही छिन्न-भिन्न हो गया है। डा० कर्कपैट्रिक ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि सौ वर्ष पूर्व अमेरिकन परिवार में पति का बड़ा आदरणीय स्थान होता था। घर में उसकी बात क़ानून की तरह मान्य होती थी। बच्चे उसके सामने बड़े आदर से पेश आते थे। आजकल उस क़िस्म के न तो बच्चे मिलेंगे और न आज्ञाकारिणी पत्नी मिलेगी। आजकल का पति दिन भर का थका-माँदा घर वापस आता है और उसे तुरन्त घर के काम में जुट जाना पड़ता है।[2] आज के अमेरिकन परिवार में भी पूर्ण प्रजातन्त्र है। घर में अब सब की राय से काम होना चाहिए। बिचारे बाप की एक ही वोट होती है। प्रायः लड़के अपनी माता के पक्ष में वोट देते हैं। बाप को यह भी अधिकार नहीं है कि अपने मन के कपड़े पहने या अपने मन की नौकरी करे।[3] ऐसी दशा में बाल-अपराधों में वृद्धि होना स्वाभाविक है। डा० जैकबसन का कहना है कि पिछले पैंतीस साल के भीतर १८ वर्ष की उम्र से कम के ४०,००,००० बच्चे ऐसे हैं जिनके माँ-बाप ने एक दूसरे को तलाक़ दे दिया है।[4] ऐसे पिता-माता की सन्तान यदि अपराध की ओर न बढ़े तो आश्चर्य है।

जब पारिवारिक जीवन इतना बिगड़ जायगा तो युवक-युवतियाँ अपना संतुलन खो बैठेंगीं। सोवियत रूस में भी अपराधों में इसी कारण बड़ी वृद्धि हो गयी है। नवयुवकों में गुंडाशाही, पाजीपन और उद्दण्डता बहुत बढ़ गयी है। इसीलिए सोवियत रूस के जेलों का शासन और कठोर हो गया है। ५ मई, १९६१ को वहाँ एक आदेश जारी करके क़ैदियों को अवधि के पूर्व छोड़ने की सुविधा समाप्त कर दी गयी है। प्राणदण्ड की सजा फिर चालू कर दी गयी है तथा गुंडागीरी के लिए भी प्राणदण्ड की सज़ा की घोषणा कर दी गयी है।

सोवियत सरकार की सबसे बड़ी अदालत के प्रधान विचारपति श्री ए० गोर्किन ने अपनी एक विज्ञप्ति में गुण्डों को चेतावनी दी है।[5] उन्हें प्राणदण्ड

1. Rudenko, Prosecutor General of Soviet Russia Article on Principles of Criminal Legislation *Sovetskaya Rossiya*, May 6, 1961.
2. Kirkpatrick, *The Family as Process and Institution* (1961).
3. Dr. Leo. W. Simons and Dr. Harold C. Wolff : *Social Science in Medicine* (1960).
4. *Life International*, October 23, 1961.
5. *Komsomolskaya Pravda*, July 16, 1961.

की सज़ा देने की धमकी दी है। कम्यूनिस्ट युवक समिति के मुखपत्र ने ऐसे उद्दण्ड युवकों की भर्त्सना करते हुए एक लेख में लिखा है—

"समाज में ऐसे अस्थिर चरित्र के लोग हैं जो गुण्डागीरी करने के लिए मौक़े की तलाश में रहते हैं......ये लोग समाज की आत्मा में, उसके रक्त में घुल मिल रहे हैं। इनकी बीमारी बढ़ती जा रही है।"

समाज के रोगी, असन्तुलित, नशेबाज़ तथा सह-मैथुन के शिकार लोगों की चिकित्सा में बड़ा ख़र्च बढ़ता जा रहा है। कैलिफोर्निया के एक अस्पताल में क्षयी रोग के २०० मरीज़ हैं। २०० मरीज़ मानसिक असंतुलन के हैं। १०० नशेबाज़ हैं तथा १०० सह-मैथुन के रोगी हैं। इनकी देखरेख के लिए ३३० वैतनिक कर्मचारी नियुक्त हैं।

अविवाहित माताएँ

डा० क्रिस्टेंसेन तथा रूबर्स्टेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के १५२० नव-विवाहितों की परीक्षा करके यह निर्णय किया है कि वहाँ हर पाँच नवविवाहिता वधू में एक वधू विवाह के पहले से ही गर्भवती होती है।[१] डा० जैकबसन का कथन है कि गत पैंतीस वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका में डेढ़ करोड़ पुरुष तथा स्त्रियों ने तलाक़ दे दिया है। जैक नार्सन नामक एक बड़े वकील ने गत ३५ वर्ष में उसी देश में तलाक़ सम्बन्धी ३३०० मुक़द्दमे किये थे। उनका कहना है कि ऐसे तलाक़ देने वाले अधिकांश लोगों ने जल्दी में, बिना सोचे समझे शादी कर ली थी। उनमें से अनेक को यह भी याद नहीं रहा कि क्यों शादी की, कब तथा कहाँ शादी की। कुछ लड़कियों ने प्यार किसी दूसरे से किया। जब वे अपने प्रेमी से ठुकरायी गयीं तो उसे चिढ़ाने के लिए जो युवक मिला, उसी से शादी कर ली।[२]

कुछ अमेरिकन इसलिए शादी से छुटकारा पाना चाहते हैं कि वे अपने बच्चों की पढ़ाई लिखाई का ख़र्च नहीं सहन कर सकते। वह ज़माना चला गया जब देहात के परिवार में जितने ही बच्चे पैदा होते थे उतना ही घर-गृहस्थी में काम करने वालों की वृद्धि समझी जाती थी। अब तो एक लड़का या लड़की पैदा होना मुसीबत है। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक लड़के को १८ वर्ष की उम्र तक पालने में लगभग ३,००,००० रुपये का ख़र्च पड़ता है। इसमें स्कूल की पढ़ाई का ख़र्च शामिल है। कालेज की पढ़ाई में इस रक़म के ऊपर ५ से १० हजार डालर यानी पच्चीस या पचास हज़ार रुपया ख़र्च पड़ता है। इसलिए नये ज़माने के पिता-माता बच्चा पैदा करना मूर्खता समझते हैं।

---

[१] *True Story*, New York, March 1958.

[२] *Life International*, October 23, 1961.

अभिभावकों की लापरवाही से ही, माता-पिता की उदासीनता के कारण ही सन् १९५७-५८ के एक वर्ष में ४४०० अमेरिकन बच्चे मोटरकार के नीचे दब कर मर गये। ३६० लड़के अमेरिकन नगरों की सड़कों पर साइकिल चलाने का अभ्यास करने में कुचलकर मारे गये।[१] सन् १९५७ में न्यूयार्क के ९०० स्कूलों से ५४४ छात्र इसलिए पढ़ाई से हटा दिये गये कि वे उद्दण्ड थे, शरारती थे।[२]

आज के सौ सवा सौ वर्ष पूर्व सामाजिक जीवन अधिक स्थिर था। अधिक संयत था। शायद उस जमाने में पति-पत्नी में उतना प्रेम भी न होता हो जितना आज प्रकट में मालूम होता है पर विवाहित लोग जीवन भर साथ निभाना जानते थे। धर्म कहिए, समाज कहिए, परम्परा कहिए, जिस किसी कारण से हो, पारिवारिक जीवन में अधिक ठोसपन था। वह भी ज़माना था जब कि इंगलैण्ड में पैसे, दो पैसे पर औरत नीलाम कर दी जाती थी। ७ अप्रैल, १८३२ को इंगलैण्ड के कार्लाइल नगर में एक व्यक्ति अपनी पत्नी को चौराहे पर लेकर खड़ा हो गया और आवाज़ लगाने लगा—

"यह स्त्री नहीं है प्लेग है, पागल कुत्ता है, भरी हुई पिस्तौल है, इसे कौन ख़रीदेगा ?"

और उसने २० शिलिंग यानी पन्द्रह रुपये तथा न्यूफ़ाउण्डलैण्ड की नस्ल का एक कुत्ता लेकर अपनी पत्नी को बेच दिया था।[3]

इंगलैण्ड तथा वेल्स में पारिवारिक जीवन शिथिल होता जा रहा है। वहाँ सन् १९३८ में कामवासना के २,७४९ अपराध हुए थे। सन् १९५९ में ६,१६१ तथा सन् १९६१ में ६,१५० यानी तेरह साल में ऐसे अपराधों की संख्या तिगुनी हो गयी थी। सबसे अधिक अपराध उस देश में २१-३० वर्ष की उम्र के बीच होते हैं। सन् १९६१ में ३५·८ प्रतिशत डाके, ३३·९ प्रतिशत हत्याएँ या मारपीट, २२·९ प्रतिशत काम-वासना के अपराध, २८·२ प्रतिशत जालसाज़ी तथा २०·६ प्रतिशत चोरी—इसी २१-३० वर्ष की उम्र वालों के ज़िम्मे रही।

पश्चिमी देशों में अपराधों में वृद्धि का विशेष कारण यह है कि आधुनिक सभ्यता में परिवार के जीवन की मर्यादा को नष्ट कर दिया है। इसकी एक मिसाल पूर्वी जर्मनी की लीजिए। सन् १९६१ में वहाँ की आबादी १,७१,८०,००० थी जिनमें ७७,४०,००० पुरुष तथा ९४,४०,००० स्त्रियाँ

१ *True Life*, New York, March, 1958.
२ *New York Times*, September 1958.
3 *English Digest*, February, 1959, p. 185.

थीं। इनमें से ४० लाख स्त्रियाँ जीविकोपार्जन के काम में लगी हुई थीं। इनमें से ६० फ़ीसदी स्त्रियों की उम्र २५-२६ साल के भीतर है। अतएव इनको अपने बच्चे को सम्भालने, उनकी देखरेख करने की फ़ुरसत नहीं है। सरकार ने इनके बच्चों की देखरेख के लिए "आवास" खोल रखे हैं। इन आवासों में सन् १६५१ में ढाई लाख बच्चे थे। अब ६,००,००० से ऊपर हैं। माता पिता से दूर रहने वाले इन बच्चों के चरित्रवान् तथा स्वस्थ नागरिक बनने में कितनी बड़ी बाधाएँ हैं, यह अनुमान करना कठिन नहीं है।

पर आज की सभ्यता में ऐसी बात हो तो बलवा हो जाय। फिर भी आज स्त्री का सामाजिक मूल्य समाप्त हो रहा है। आज उसका आर्थिक मूल्य है। संयुक्त राज्य अमेरिका की सवा करोड़ विवाहिता स्त्रियों में, हर तीन पत्नी पीछे एक कमाने वाली बीबी है। पत्नी दफ़्तर से आकर थकी-माँदी आराम करती है। पतिदेव दफ़्तर से थके माँदे आकर बच्चे सँभालते हैं। चूल्हा-चक्की देखते हैं। झाड़ू-बुहारी करते हैं। स्त्री आराम करने के बाद अपने क्लब जाती है। अपने राजनीतिक कार्यों को सँभालती है या फिर सिनेमा देखने या गोल्फ खेल खेलने चली जाती है। इसीलिए डा० कर्कपैट्रिक कहते हैं कि आजकल पत्नी तीन प्रकार की होती है—

१. पुराने ढंग की बीबी।
२. जीवन की सहचरी स्त्री।
३. जीवन में बराबरी की हिस्सेदार बीबी।

आधुनिक स्त्रियाँ सहचरी बनना चाहती हैं, पत्नी नहीं।[1]

यह न सोचना चाहिए कि यह सब दूषण इंगलैण्ड या अमेरिका ऐसे उन्नत देशों में है। पूर्वी देशों में सबसे आगे बढ़ा हुआ जापान है। आज के पचीस साल पहले तक जापान में लड़की की उम्र सात वर्ष की होते ही भाई से अलग कर दी जाती थी। वह अपने भाई के साथ भी खेल कूद नहीं सकती थी। अब यह सब समाप्त हो गया है। पुराना तरीक़ा कि माता-पिता शादी पक्की करें, वह भी समाप्त हो गया है। अभी वहाँ समाजशास्त्रियों द्वारा एक गणना की गयी थी जिससे पता चला कि जापान के ३८ प्रतिशत नवयुवक उसी से शादी करेंगे जिससे उनका प्रेम हो पर केवल प्रेम के कारण शादी करने वाली युवतियों की संख्या केवल १८ प्रतिशत है। ३७ प्रतिशत जापानी लड़कियाँ "स्नेहवश" शादी करना चाहती हैं। २७ प्रतिशत लड़कियाँ पुरुष का स्वास्थ्य देखकर शादी करना चाहती हैं। १५ प्रतिशत लड़कियाँ पुरुष का "व्यक्तित्व"

---

[1] Dr. Clifford Kirkpatric (Professor of Sociology, Indiana University, U. S. A.) *The Family as Process and Institution.*

देखकर, ११ प्रतिशत "सच्चरित्रता" देखकर, ६ प्रतिशत "उम्र" का विचार कर तथा केवल २ प्रतिशत "संस्कृति" देखकर पति का चयन करना चाहती हैं।[१]

इस प्रकार के चुनाव में कितने ही लोग मैदान में हार मान जाते होंगे और फिर ऐसे चुनाव के बाद जो विवाह होगा, उसके बारे में केवल सोचा ही जा सकता है, लिखना बेकार है। एक अमेरिकन उपन्यासकार हेमिंगवे ने एक ऐसे अधेड़ उम्र के रईस का चित्रण किया है जो अपनी सुन्दरी युवती पत्नी का दूसरे पुरुषों के साथ प्रेमालाप तथा प्रेमकाण्ड देखकर संतुष्ट हो जाता था।[२] इसी प्रकार की बातों को देखकर डा० किंसे ने लिखा है कि ७५ प्रतिशत पुरुष तथा २५ प्रतिशत स्त्रियाँ विवाह के बन्धन के बाहर जाकर अपनी काम-वासना को सन्तुष्ट करती हैं। मनोवैज्ञानिक फ्रेड फ़ेल्डमान ने लिखा है कि आजकल बहुत-से लोग विवाह के बन्धन में इसलिए नहीं पड़ते कि उससे वासना की सन्तुष्टि में बाधा पड़ती है।

हमने ऊपर जैक नार्मन नामक एक प्रसिद्ध अमेरिकन वकील का ज़िक्र किया है। तलाक़ के मुक़द्दमे लड़ने में उनका बड़ा नाम है। उनका कथन है कि ज़्यादातर तलाक़ तीन कारणों से होते हैं :—

१. पति के पास या पत्नी के पास धन की कमी।

२. पति पत्नी की वासना को शान्त नहीं कर सकता या अपने काम धन्धे में बहुत व्यस्त रहता है।

३. पति प्राय: बीमार रहता है, पूरी कमाई नहीं कर पाता। पत्नी को परिवार का ख़र्च चलाने के लिए नौकरी करनी पड़ती है। वह थककर चूर हो जाती है।

डा० जॉन एल० टामस ने हिसाब लगाया है[3] कि मध्य पश्चिम अमेरिका के सनातनी (कैथोलिक) ईसाई परिवारों में नीचे लिखे कारणों से तलाक़ होते हैं :—

अत्यधिक शराबी	—	३०%	नपुंसकता	—	५%
दुराचारी	—	२५%	मानसिक रोग	—	३%
ग़ैर ज़िम्मेदार	—	१२%	धार्मिक मतभेद	—	३%
स्वभाव नहीं मिलता	—	१२%	फुटकर कारण	—	२%
रिश्तेदारों के कारण	—	७%	धन की समस्या	—	१%

आज की सभ्यता में वासना की एक दौड़ और हाय-हाय-सी मची हुई है।

---

१ *Sexology*, New York, May 1961, p. 654.

२ Earnest Hemingway : *To Have or Not to Have.*

3 *Life International*, October 23, 1961.

छोड़ दिया है। मुक्त बन्दी का स्वस्थ जीवन में स्थापित होना इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि जेल में उसकी कैसी शिक्षा-दीक्षा हुई है। यदि स्वतन्त्र जीवन के लिए उसको तैयार नहीं किया गया तो फिर उसके सामने अन्धकार ही समझिए।

स्वतन्त्र भारत सरकार ने देश भर के जेलों के लिए आदर्श नियमावली बनाने के लिए जो कमेटी सन् १९५७ में बिठायी थी उसने सन् १९५९ में अपनी रिपोर्ट दी थी। इस ऑल इण्डिया जेल मैनुएल कमेटी ने भी स्वीकार किया है कि जेलों के सामने सबसे महत्वपूर्ण और विकट समस्या है बन्दी को पुनः स्थापित करना। इस समस्या को हल करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे देश में दुबारा क़ैदियों का हिसाब ठीक से नहीं रखा जाता है, "दुबारा" क़ैदी का इन्दराज भी दोषपूर्ण है तथा अदालत, प्रोबेशन विभाग, पुलिस, जेल तथा उत्तर-रक्षा की संस्थाओं में परस्पर का सम्बन्ध ठीक से नहीं है।[१]

ऑल इण्डिया जेल मैनुएल कमेटी की राय में दुबारा क़ैदियों के लिए शुरू से ही उत्तर-रक्षा के कार्यक्रम की योजना बनाने पर ज़ोर देना चाहिए।[२] उत्तर-रक्षा का कार्य तभी हो सकता है जब कारागारों में सहायता, सेवा, पथ-प्रदर्शन, परामर्श, रक्षा इत्यादि की भावना हो। यह रचनात्मक कार्यक्रम है। बन्दी के व्यक्तिगत जीवन के उस पहलू पर ध्यान देना होगा जिसमें कमी के कारण वह व्यक्ति अपराध के प्रति बढ़ा था। जिस प्रकार बीमारी अच्छी हो जाने पर रोगी के स्वास्थ्य-सुधार के दिनों में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है, उसी प्रकार उत्तर-रक्षा का कार्यक्रम बन्दी का स्वास्थ्य सुधार है। यह एक ऐसा कार्यक्रम है जिसके द्वारा हम बन्दी को क्रमशः जेल के बन्धन-युक्त वातावरण से स्वस्थ नागरिक जीवन की ओर ले जाते हैं ताकि अन्ततोगत्वा वह स्वतन्त्र समाज में पुनः स्थापित हो जाय। बन्दी जीवन में उसकी चिकित्सा तथा देखरेख का जो कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ था उसकी परिसमाप्ति है बन्दी का पुनर्वास। इसीलिए दण्ड-सुधार के क्षेत्र में उत्तर-रक्षा की योजना मौलिक महत्व रखती है।[३]

उपर्लिखित कमेटी ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि दण्ड-सुधार के कार्य में उत्तर-रक्षा के प्रति उदासीनता बरती गयी है। फिर भी अंशतः ऐसा कार्यक्रम पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, मद्रास, केरल, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश,

१ *All India Jail Manual Committee Report,* 1957-1959, p. 85, para 144.

२ *Ibid,* p. 96, para 161.

३ *Ibid,* pp. 60-61, para 121.

आन्ध्र और दिल्ली में चालू हो गया है। इनमें से कुछ प्रदेशों में, जैसे आन्ध्र, मध्य प्रदेश तथा दिल्ली में तो इस कार्य की अभी शुरूआत ही हुई है। जो हो, भारतवर्ष में मुक्त बन्दी के पुनर्वास के लिए बहुत ही शिथिल प्रयत्न किया जा रहा है। इसीलिए समिति ने सिफ़ारिश की है कि हर प्रदेश में एक प्रादेशिक उत्तर-रक्षा समिति हो जिसकी शाखाएँ हर ज़िले तथा हर नगर में हों। बाल-अपराध, प्रोबेशन विभाग तथा उत्तर-रक्षा विभाग को एक में मिला दिया जाय और इनका एक संचालक हो। वही संचालक उत्तर-रक्षा समिति का सदस्य और मन्त्री दोनों ही हो। इस कार्य को दण्ड विभाग का आन्तरिक अंग बना देना चाहिए। मोटे तौर पर उत्तर-रक्षा का काम तीन श्रेणियों में विभक्त होना चाहिए :—

(अ) कारागार के जीवन में, चिकित्सा तथा देखरेख की अवधि में उत्तर-रक्षा की योजना।

(ब) जेल से छूटते ही उत्तर-रक्षा का प्रबन्ध।

(स) छूटने के बाद के जीवन में पुनर्वास का प्रबन्ध।

समिति की सम्मति में उत्तर-रक्षा की योजना एक व्यक्ति के लिए नहीं, समूचे समूह के लिए बनानी चाहिए और हरेक व्यक्ति पर यह योजना तभी से लागू होनी चाहिए जब से वह जेल में प्रवेश करता है।[१]

खुला कैम्प अथवा कारागार

ऑल इण्डिया जेल मैनुएल कमेटी ने बन्दी की मुक्ति की तैयारी के लिए उनको खुला जेल यानी खुला कैम्प में रखने की प्रणाली अपनाने की सलाह दी है। बन्द जेलों में रहते-रहते बन्दी कारागार के जीवन का अभ्यस्त हो जाता है। "यदि ठीक से संगठन कर दिया जाय तो खुली शिक्षणीय संस्थाएँ, खुला कैम्प या खुला उपनिवेश इस सम्बन्ध में कुछ हल निकाल सकते हैं। बन्दी की चिकित्सा में इस बात पर ज़ोर नहीं देना चाहिए कि वे समाज से अलग हो चुके हैं बल्कि उन्हें ऐसा अनुभव होना चाहिए कि वे समाज के अंग बने हुए हैं। दण्ड का वास्तविक उद्देश्य है असामाजिक प्राणी को अच्छा नागरिक बनाना। यदि उनको जेल में न रखकर खुली संस्थाओं में रखा जायगा तो उसमें सहकारी सामाजिक जीवन की भावना पैदा होगी।"[२]

समिति ने सलाह दी है कि लम्बी मीयाद के क़ैदियों में कतिपय आशा का संचार होते रहना चाहिए। उनके बन्दी जीवन में सुसंयमित तथा सुसंतुलित प्रेरणा मिलती रहनी चाहिए। कारागार के बन्द जीवन की चिकित्सा की

---

१ *Ibid*, p. 96, para 162.

२ *Ibid*, p. 163.

सीमा होती है। जितनी सहूलियतें तथा सुविधाएँ लम्बी क़ैद में जेल में एक क़ैदी को मिल सकती हैं, उन सबका उपभोग कर लेने के बाद उसके लिए आगे बढ़ने या और अधिक कुछ आशा करने के लिए कुछ नहीं रह जाता। यदि उसे खुले कैम्प में भेज दिया गया तो जीवन में एक नया मोड़ पैदा हो जाता है, एक नवीन आशा बँध जाती है।

सन् १९५९ में उत्तर प्रदेश के कारागारों के प्रधान निरीक्षक डा० सी० पी० टण्डन ने खुले कारागारों की व्याख्या करते हुए लिखा था—

"खुले कैम्प (जेल) में स्वच्छन्द जीवन को रोकने वाली दीवालें, ताला, कुंजी या सींकचे नहीं होते। उसमें जेल का शासन विश्वास पर निर्भर करता है। बन्दी में आत्म-संयम की भावना स्वयं उत्पन्न हो जाती है और वह अपने साथियों के प्रति, अपने वर्ग के प्रति, ज़िम्मेदारी का व्यवहार करना सीखता है।"

खुला कारागार का लक्ष्य होता है कि बन्दी के मुक्त जीवन की तैयारी के लिए उसमें ज़िम्मेदारी तथा आत्म-सम्मान की भावना पैदा करे। खुले कारागार में संयम तथा व्यवस्था क़ायम रखना अधिक सरल होता है। दण्ड देने की बिरले को ही आवश्यकता पड़ती है। वहाँ पर बन्दी का जीवन साधारण स्वतन्त्र जीवन के समान होता है।

खुला कारागार तथा उत्तर-रक्षा दोनों की व्याख्या कर देने के बाद हमें यह देखना है कि दोनों बातों का मेल कैसे हो सकता है। संयुक्त राष्ट्रपरिषद् के सामाजिक सुरक्षा विभाग ने संसार के जेलों के प्रशासन के लिए जो आदर्श नियम बनाये हैं, उनमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि उत्तर-रक्षा तथा खुला कारागार का मेल शुरू से ही क़ायम रहे।

मानव कल्याण की दृष्टि से

मानव कल्याण की पहेली सुलझाने की समाज आदि काल से चेष्टा कर रहा है। पर, उसकी गति बड़ी मन्द है। प्रजातन्त्र के युग में तो सबकी राय से काम करने की नीति के कारण गति और भी मन्द हो जाती है। पाँच सौ वर्ष से ऊपर हुए जब पश्चिम के समाजशास्त्रियों के दिमाग़ में यह बात आयी कि किसी दुर्गुण को कुचलने से अच्छा है उसे रोकने का उपाय करना। पर, अभी तक वह बात सब के मन में बैठी नहीं है। सन् १९२९ में अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार कमीशन[1] ने आवाज़ उठायी थी कि जेलों के प्रशासन के लिए कम से कम एक आधार नियम बन जायँ जिससे संसार भर के असामाजिक व्यक्ति का एक निश्चित आदर्श के अनुकूल उपचार हो सके। यदि जेलों का शासन ऐसा

[1] *International Penal and Penitentiary Commission.*

हो कि दुबारा लोग जेल न आयें, बन्दी का पूरा सुधार हो जाय, तो नये बनने वाले अपराधियों की समस्या ही बच जायगी। एक समस्या से निपटा जा सकता है। अनेक समस्याओं से नहीं। सन् १६२६ में उपर्युक्त कमीशन ने ऐसे नियम बनाये थे और सन् १६३३ में उन नियमों में उसी कमीशन ने अनुभव के आधार पर कुछ संशोधन किये थे। पुरानी राष्ट्रपरिषद् ने उसे स्वीकार भी कर लिया। पर द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने के बाद पन्द्रह वर्ष तक यह काम ठप पड़ा रहा। नवीन संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामाजिक सुरक्षा विभाग ने इस काम को हाथ में लिया और अगस्त १६४६ में उसने अपराध निरोध के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की बैठक बुलायी। इस बैठक ने अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार कमीशन के नियमों में कतिपय संशोधन का परामर्श दिया और पुराने मसविदे में संशोधन तथा परिवर्द्धन का काम उसी कमीशन को सौंप दिया गया। ८ अगस्त १६५१ को राष्ट्रसंघ के महामन्त्री के पास संशोधित नियमावली पहुँच गयी। राष्ट्रसंघ वर्षों से सम्मेलनों का आयोजन कर दण्ड सुधार की समस्या पर विचार कर रहा है। अक्टूबर १६५४ में रंगून में एक सम्मेलन हुआ था। उसके बाद राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित अपराध निरोध पर सन् १६५५ में जेनेवा में तथा सन् १६६० में लन्दन में कांग्रेस अधिवेशन हुआ था। इन सभी अवसरों पर इस समस्या की ठोस छानबीन की गयी थी।

कुछ देशों का कहना है कि बाल-अपराध रोकने के लिए शिक्षा को अनिवार्य कर देना आवश्यक है। कुछ का कहना है कि अल्पमत वाले समुदायों में बहुमत वाले समुदायों की अपेक्षा अपराध अधिक है। जेलों के शासन के सम्बन्ध में छोटे-छोटे राज्य भी हमको उपयोगी बातें बतला सकते हैं। मलाया राज्य में बन्दी के जेल से छूटने से ही जेल की ज़िम्मेदारी समाप्त नहीं होती। प्रत्येक बन्दी, विशेषकर बाल-अपराधी के जेल से छूटने के बाद शुरू के महीनों में पथ-प्रदर्शन करने के लिए कारागार की ओर से "प्रदर्शक" नियुक्त हैं। बाल-अपराधी को तभी जेल से बाहर आने देते हैं जब उसकी नौकरी या शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध हो जाता है। मलाया के जेलों में "उठाने वाला पाख़ाना" नहीं है। हर एक क़ैदी को अलग से साबुन, तौलिया, नहाने का सामान आदि मिलता है। सारावाक की आबादी छः लाख की है। वहाँ सामाजिक भावना इतनी उन्नत है कि देश में एक भी बाल-अपराधी नहीं होता।

इज़रायल के राज्य में बाल-अपराधी को हथकड़ी नहीं लगाते। बच्चों की फ़ोटो या उँगली की छाप नहीं ली जाती। लक्ज़ेमबर्ग की छोटी-सी रियासत में नियम है कि यदि किसी बाल अपराधी को गिरफ़्तार करना हो तो पुलिसमैन को सादी बर्दी में जाना होगा। फ्रांस में हथकड़ी का उपयोग प्रायः वर्जित है।

बेल्जियम में पुलिस का उपयोग केवल बड़ी उम्र के क़ैदियों के लिए होता है। इटली में आवारा तथा अनाथ बच्चों की रक्षा के लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त हैं।

जापान में क़ैदियों की धार्मिक शिक्षा के लिए सरकारी पादरी या धर्म शिक्षक नियुक्त हैं। यूगोस्लाविया के जेलों में सांस्कृतिक तथा शिक्षणीय कार्य प्रचुर मात्रा में होते हैं। कनाडा में बन्दी को जेल के बाहर घर जाने की छुट्टी मिल जाती है—यदि उसका कोई निकट सम्बन्धी काफ़ी बीमार हो। इंगलैण्ड में भी बन्दियों को यही सुविधा प्राप्त है। फ़िलप्पीन में बन्दी के छूटने पर सरकारी खेतों पर काम मिल जाता है। कई देशों में गर्भवती बन्दी स्त्रियों को बड़ी सुविधाएँ दी जाती हैं।

ऊपर लिखे नियमों से स्पष्ट है कि जेल के प्रशासन में मानव कल्याण की भावना मुख्य स्थान ग्रहण करती जा रही है। पेटरसन ने ठीक लिखा था कि मनुष्य को दरिद्र रखकर उसे स्वाधीनता की शिक्षा नहीं दी जा सकती। अपराधी को दण्ड देने के साथ ही यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि उसे कम से कम बन्धन तथा रोक-थाम में रखा जाय। यह नहीं भूलना चाहिए कि जेल में जो बन्द है वही अपराधी नहीं है। विशेषज्ञों का कथन है कि संसार में प्रति ढाई सौ व्यक्ति पीछे एक व्यक्ति अपराधी है। इसलिए बन्दी के प्रति घृणा से नहीं, प्रेम के साथ व्यवहार करना चाहिए। उसका पुनर्वास ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं कराया जा सकता। इसके लिए उसके मन में स्वतः प्रेरणा उत्पन्न करानी चाहिए। जेल में उसे समुचित शिक्षा देनी चाहिए। आत्म-विश्वासी बनाना चाहिए और ऐसा उपयोगी धन्धा सिखला देना चाहिए कि बाहर निकलकर ईमानदारी से रोटी कमा सके। पुनर्वास का कार्य उन्मुक्त-बन्दी-गृह अर्थात् खुला जेल से बहुत अच्छी तरह पूरा हो सकता है।

उत्तर-रक्षा का महत्व

बृहस्पति ने अपने सूत्रों में दण्डनीति को राजधर्म का मुख्य अंग माना है। वे दण्डनीति के ज्ञान को ही वास्तविक विद्या मानते थे : "दण्डनीति श्रेष्ठ विद्या।"[१] वे यह भी कह गये हैं कि धर्मयुक्त होते हुए भी समाज की मर्यादा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए।[२] दण्डनीति नदी के तट पर खड़े वृक्ष के समान है। इस वृक्ष के द्वारा नदी की धारा का नियन्त्रण होता है और तट की भी पुष्टि होती है।[3] भूत, भविष्य तथा वर्तमान को दृष्टि में रखकर

---

[१] बृहस्पति सूत्र, १-३।

[२] वही, १-४।

[3] वही, १-१०२।

चतुर्वर्ण की मर्यादा का ध्यान रखते हुए इसका अध्ययन करना चाहिए।[1] तीन हज़ार वर्ष पूर्व चाणक्य लिख गये हैं कि दण्डनीति में सभी नीतियाँ समाश्रित हैं। दण्डनीति के द्वारा आचरण का निर्धारण होता है। ऐत्रेय उपनिषद् में लिखा है कि दण्डनीति के निरादर से चतुर्वेद का हनन होता है।

अतएव दण्डनीति से बहुत सावधानी से काम लेना है। उसकी ज़रा भी भूल से बड़ी हानि हो सकती है। वह युग चला गया जब डण्डे से काम लिया जाता था। शक्ति के प्रयोग से सुधार नहीं होता। हरेक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है। हरेक व्यक्ति की अपनी अलग पहेली होती है। हरेक अपराधी का भिन्न निदान होता है। व्यक्ति अपराध करता है। अपराध अपराध नहीं करता। व्यक्ति के अपराध में समाज की भी ज़िम्मेदारी है। अनुचित दण्ड से राजा तथा समाज, शासक तथा शासित दोनों की हानि होती है। मनु ने लिखा है कि अन्यायपूर्ण दण्ड से यश तथा मर्यादा की हानि होती है।[2] इसलिए अपराधी यदि जानबूझकर अपराध करता है तो प्रायश्चित्त[3] करना चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि जो लोग अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं उनके प्रति किसी प्रकार की दया दिखाने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि अपराध स्वीकार कर उन्होंने समाज की ज़िम्मेदारी समाप्त कर दी। पर, अपराध स्वीकार करने के बहुत-से कारण हो सकते हैं। श्री जगन्नाथराव ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि अपराध स्वीकार करने के इतने अधिक कारण हैं कि उनको ठीक से नहीं गिनाया जा सकता। पर, एक कारण यह भी हो सकता है कि अपनी परिस्थिति से परेशान होकर चैन की साँस लेने के लिए या भाग्य के सहारे अपनी नैया छोड़ देने के लिए कथित अपराधी "अपराध स्वीकार" कर ले और या फिर वह इतना सीधा हो या इतना बर्बर हो कि उससे जो चाहे, कहला लिया जाय।[4] अतएव केवल अपराध के स्वीकार कर लेने से ही समाज की ज़िम्मेदारी समाप्त नहीं होती। अपराध स्वीकार करने वाला मनुष्य मनुष्य तो है ही। बार-बार अपराध करने वालों के साथ भी मनुष्यता का व्यवहार करना होगा। ग्रेट ब्रिटेन में सन् १९३३ में एक कमेटी बिठायी गयी थी जिसे बारबार अपराध करने वालों की समस्या पर विचार करना था। उसने भी यही निर्णय दिया था कि दण्डनीति में बिना सुधार किये अपराधी की चिकित्सा नहीं हो सकती।

1. वही, ३-७५।
2. मनुस्मृति, ८-१२८।
3. वही, ९-४६।
4. D. Jagannath Rao : *Law Relating to Confession*, (1961), Eastern Book Company, Delhi, pp. 438-439.

कई विचारकों ने स्पष्ट लिख दिया है कि जहाँ तक सम्भव हो अपराधी तथा मानसिक रोगी को जेल के बाहर रखने से ही उसका वास्तविक उपचार हो सकेगा।[१] यदि दुबारा अपराध करने वालों की संख्या कम करनी है तथा अपराधियों का पुनर्वास करना है तो समुचित रूप से उत्तर-रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।[२] ब्रिटेन में सन् १९४८ में जो क़ानून बना था[3] उसने "उत्तर रक्षा" के विचार से ही जेल विभाग के संचालक को अधिकार दे दिया है कि दण्ड प्राप्त करने के समय जिनकी उम्र २१ वर्ष से कम हो, उसे "लैसेंस पर" छोड़ा जा सकता है।

ऑल इण्डिया जेल मैनुएल कमेटी ने[४] जेल के मानवीयकरण पर बहुत ज़ोर दिया है। उसका कथन है कि ऐसा करने से दण्ड कमेटी का भय कम नहीं हो जाता। बन्दियों के पुनर्वास तथा उत्तर-रक्षा के सम्बन्ध में उसने लिखा है—

"उत्तर-रक्षा सेवा सहायता की दृष्टि से की जाती है—यह बन्दी की सहायता की एक प्रणाली है। उत्तर-रक्षा का कार्यक्रम अपराधी का रोग के बाद स्वास्थ्य सुधार है। इस प्रणाली के द्वारा उसको कारागार के कृत्रिम और बन्धनयुक्त वातावरण से निकालकर स्वस्थ नागरिकता, पुनर्वास तथा स्वतन्त्र समाज में पुनः स्थापन की ओर ले जाया जाता है।[५]

समुदाय में रखकर, सामुदायिक रूप से बन्दियों की सेवा करनी चाहिए। यही उनकी उत्तर-रक्षा है। यदि ऐसी सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि होती है तो अपराधी अपराध की ओर उन्मुख होता है।[६] अपराधी के प्रति समुदाय की भी ज़िम्मेदारी है। उसकी उत्तर-रक्षा के लिए भी समुदाय ज़िम्मेदार है। पुराने ज़माने के पाप-पुण्य तथा उचित-अनुचित की भावना से काम नहीं चलेगा। ऐसी भावना समाज के तत्कालीन विचार पर निर्भर करती है। इसीलिए विलियम हीली का कथन है कि समाज के विकास के साथ ऐसी भावना का विकास होता है। अपने नैतिक चरित्र से विचलित होने वाले

---

१ *Mental Abnormality and Crime*, Macmillan & Co., London, 1949, page XXXI.

२ *The Journal of Criminal Science*, Macmillan & Co., London, 1950, p. 152.

3 Criminal Justice Act, 1948.

४ *All India Jail Manual Committee Report*, 1957-59, Government of India, 1960, p. 45.

५ *Ibid*, p. 69.

६ Harris B. Peck and Virginia Bellsmith : *Treatment of the Delinquent Adolescent*, Family Service Association of America, New York, 1957, p. 142.

व्यक्ति में इतनी बुद्धिमत्ता की कमी होती है कि वह अपने समाज के अनुशासन को कुछ समय के लिए भूल जाता है। मन से बिलकुल स्वस्थ व्यक्ति में नैतिक भावना शिथिल नहीं होती। हरेक अपराधी को देखिए, उसमें कोई न कोई मानसिक दोष होगा ही।[1]

अधिकांश स्वतन्त्र व्यक्ति अपने मन में न जाने कितने पाप, हत्या, बलात्कार तथा दुराचार करते रहते हैं। बाहर से देखने में इन भावनाओं का पता नहीं चलता। चरित्र से दुर्बल व्यक्ति में तथा मन के भीतर पाप करने वाले में इतना ही अन्तर है कि पहला खुले मार्ग से चल रहा है, दूसरा छिपकर वही काम करता है। हरेक व्यक्ति उत्तेजना, चमत्कार, भाग्य का खेल और न जाने क्या-क्या चाहता है। कोई मन की मन ही मन रखता है, कोई छिपा नहीं सकता। पॉल रेवाल्ड ने सही लिखा है कि मन में अपराध या हत्या की भावना न हो तो हमको अपराध सम्बन्धी उपन्यास और उसमें हत्या की घटना इतनी पसन्द न होती।[2] आज के ज़माने में दिवाला निकालने वाले, ग़बन करने वाले, दूसरों का धन लूटने वाले सबसे बड़े अपराधी हैं पर हमारे मन में हत्यारा ही, प्राण लेने वाला ही वीर पुरुष है। जब हम इतने नीचे गिर गये हैं तो अपराधी पर इतना क्रोध क्यों है? मन को शान्त करके, स्थिर भाव से सोचना चाहिए। अपराधी के प्रति अपनी भावुकता को ठीक करना चाहिए।[3] हरेक मनुष्य के भीतर हिंसक प्रवृत्ति होती है। हम अपराधी से छुटकारा नहीं पा सकते, अतः अपराध से लड़ने का प्रयत्न करते हैं।[4]

उत्तर-रक्षा की प्रगति

रंगून में सन् १९५४ में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बाल-अपराधियों की चिकित्सा पर विचार करने के लिए हुआ था उसने अपने एक निर्णय में कहा था कि "उत्तर रक्षा का लक्ष्य यही है कि कारागार के बाहर के जीवन में भी सहायता करते रहना और बाल-अपराधी की चिकित्सा कारागार से छूटने के बाद भी जारी रखना।"[5]

दक्षिण अमेरिका में इसी सम्बन्ध में एक सम्मेलन हुआ था। उसने भी सिफ़ारिश की थी कि कारागार के भीतर तथा बाहर चिकित्सा का क्रम

1. William Healey : *The Individual Delinquent*, Little Brown & Company, Boston, 1927, p. 783.
2. Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, pp. 107-108.
3. *Ibid*, p. 298.
4. *Ibid*, p. 186.
5. International Review of Criminal Policy, United Nations, Nos. 7-8, January-July, 1955, pp. 62-64.

ज़ारी रहना चाहिए। कारागार के बाहर की चिकित्सा ऐसी सुस्थापित संस्थाओं तथा संगठनों के ज़िम्मे होनी चाहिए जिन पर सामाजिक कार्यकर्ताओं का नियन्त्रण रहे।

जहाँ तक बाल-अपराध का सम्बन्ध है हरेक बाल-अपराधी का पृथक् निदान तथा उसकी पृथक् चिकित्सा होनी चाहिए। तभी उसके व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। तुर्किस्तान में बाल-अपराधियों के छूटने के बाद उनके घर पर ही निगरानी रखी जाती है। यह प्रथा दोषपूर्ण है। वियना (आस्ट्रिया) में नियम है कि एक वर्ष या उससे कम सज़ा पाये हुए बाल-अपराधियों को एक विशेष कारागार में रखते हैं। समाज कल्याण विभाग की महिला कार्यकर्ताओं का कर्तव्य होता है कि उन बालक-बालिकाओं से बराबर सम्पर्क रखें। बच्चों को पुनर्वास की हर प्रकार की सहायता दी जाती है और समाज कल्याण अफ़सर उनके छूटने के तीन महीने बाद तक उनसे सम्पर्क बनाये रखते हैं। बालिग़ अपराधियों की रक्षा के लिए भी समाज कल्याण अफ़सर होते हैं।[1] पश्चिमी जर्मनी तथा आस्ट्रिया में बाल-अपराधियों के लिए पृथक् अदालतें हैं तथा उच्छृङ्खल, अवज्ञाशील तथा परित्यक्त किन्तु स्पष्ट अपराध न करने वाले बालक-बालिकाओं के लिए पृथक् "अभिभावक अदालतें"[2] हैं। सीलोन (लंका) में बाल-अपराधियों को उचित नौकरी दिलाने की सरकार की ओर से चेष्टा की जाती है।

प्रोबेशन या आरक्षण का कार्य अपराधी के पुनर्वास में बड़ा महत्व रखता है। यूरोप तथा अमेरिका के अनेक देशों में प्रोबेशन का मुहकमा बहुत ही सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित दशा में है। इज़रायल ऐसे छोटे से देश में जहाँ भी बाल-अदालतें हैं उनके साथ प्रोबेशन अफ़सर तैनात हैं। इनके द्वारा अपराधी के सम्बन्ध में उचित निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है।[3] पोलैण्ड में बाल-अपराधियों के लिए नियुक्त अदालतों के मैजिस्ट्रेटों को कुछ समय के लिए बाल-मनोविज्ञान की शिक्षा दी जाती है। जिन देशों में उत्तर-रक्षा तथा प्रोबेशन सेवा अनिवार्य रूप से है उनके नाम नीचे दिये जाते हैं :—

१. आस्ट्रिया —१८ वर्ष की उम्र तक के अपराधियों के लिए अनिवार्य है।

२. बेल्जियम —वैतनिक कर्मचारियों की देखरेख में अपराधी छोड़े जाते हैं।

1. *Annual Review*, International Association of Youth Magistrates, Brussels, No. 2, 1960, p. 21.
2. *Ibid*, p. 32.
3. *Ibid*, (1959), p. 17.

३.	फ्रांस	—वही ऊपर जैसा ।
४.	डेनमार्क	—सज़ा स्थगित कर निगरानी में छोड़ देते हैं।
५.	फिनलैण्ड	—वही, ऊपर जैसा ।
६.	पश्चिमी जर्मनी	—वही, ऊपर जैसा ।
७.	यूनान	—सन् १९५१ से प्रोबेशन सेवा ।
८.	हंगरी	—रिहाई के बाद निगरानी ।
९.	आयरलैण्ड गणतन्त्र	—वही तथा प्रोबेशन सेवा ।
१०.	इजरायल	—वही, ऊपर जैसा ।
११.	इटली	—वही, ऊपर जैसा ।
१२.	नीदरलैण्ड्स	—बाल-अपराधियों के लिए प्रोबेशन सेवा ।
१३.	नार्वे	—सज़ा स्थगित कर निगरानी तथा पेरोल पर रिहाई ।
१४.	स्वीडन	—वही, ऊपर जैसा ।
१५.	स्विटज़रलैण्ड	—वही, ऊपर जैसा ।
१६.	संयुक्त राज्य अमेरिका	—प्रोबेशन, निगरानी पर रिहाई ।
१७.	ग्रेट ब्रिटेन	—प्रोबेशन, निगरानी पर रिहाई, ज़मानत पर रिहाई ।
१८.	भारतवर्ष	—प्रोबेशन, निगरानी पर रिहाई, ज़मानत पर रिहाई, जेल से कुछ समय के लिए छुट्टी, पेरोल ।
१९.	सोवियत रूस	—पेरोल, प्रोबेशन, निगरानी पर रिहाई ।[१]

अस्तु, लक्ष्य यह है कि बन्दी को बन्दी जीवन काल से ही उसकी रिहाई के लिए तैयार करना होगा । इस तैयारी के लिए क्रमागत रूप से बन्दी को मार्ग पर लाना होगा ।[२] डा० सम्पूर्णानन्द जी ने वाराणसी में सन् १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार सम्मेलन में कहा था :—

"मनोविज्ञान के द्वारा हमको जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका उपयोग अपराध निरोध के कार्य के लिए भी होना चाहिए । यदि हम मनोविज्ञान से दूर जाते हैं तो हम अपराधी के पुनर्वास के कार्य में भी असफल होते हैं ।"

राउथ नामक लेखक ने भी लिखा है कि यदि अपराधी को जीवन में

---

१ For details see : *The Prevention of Juvenile Delinquency in Selected European Countries*, United Nations, April 1955, pp. 71-72.

२ *Modern Methods of Penal Treatment*, International Penal and Penitentiary Commission.

पुनः स्थापित करना है तो उसकी भावना, उसकी प्रवृत्ति, उसके दृष्टिकोण, उसकी इच्छाओं का भी ध्यान रखना होगा, तभी हम उसके जीवन से सामाजिक असम्बद्धता को दूर कर सकेंगे।[१]

युवक अपराधियों की उत्तर-रक्षा

अपराधी की मनोवृत्ति को समझना बड़ा कठिन है। फ्रेंच लेखक मिराबू के उपन्यास में एक स्थान पर लिखा है :—

"अपराध के साथ कुछ ऐसी हिंसात्मक, गम्भीर, न्यायसंगत तथा धार्मिकता मिली हुई है कि मैं उसे प्रशंसा की भावना से देखती हूँ···मुझे ऐसा लगता है कि हरेक अपराध, विशेषकर हत्या का गुप्त सम्बन्ध प्रेम से होता है।"

यदि धर्म, न्याय तथा प्रेम की भावना अपराध की तह में है तो फिर मानना पड़ेगा कि ऐसी भावनाओं को सही मार्ग पर लगा देने से मनुष्य का विकास काफ़ी शीघ्र गति से होता है। पॉल रेवाल्ड ने लिखा है कि नियमानुकूल तथा नियम के प्रतिकूल चलने वालों में सम्बन्ध स्थापित करना कठिन नहीं है—यदि दोनों की मनोवृत्ति का अध्ययन ठीक से किया जाय। रेवाल्ड के कथनानुसार युवक अपराधियों को सही मार्ग पर लाना अधिक सरल है।[२] केवल क़ानून के उपयोग से अपराध न तो घटे हैं और न घट सकते हैं। दण्ड की कठोरता भी बेकार जाती है। अपराध बढ़ता ही जाता है। शायद क़ानून की इसी लाचारी को देखकर स्विट्ज़रलैण्ड के अपराध-शास्त्री आगस्ते फ़ोरेल ने सलाह दी है कि दण्ड विधान को एकदम समाप्त कर देना चाहिए। किसी को दण्ड देने का अधिकार ही नहीं रहना चाहिए।

लन्दन के एक मैजिस्ट्रेट क्लॉड मलिन्स ने आँकड़े देकर यह साबित किया है कि युवकों में बाल-अपराध कितना बढ़ गया है।[3] इसी पुस्तक में हमने अन्यत्र आँकड़े देकर बतलाया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल अपराधियों में १९ वर्ष की उम्र के लगभग के युवकों की संख्या सबसे अधिक है। ग्रेट ब्रिटेन में १३ वर्ष की उम्र ख़तरनाक है। भारतवर्ष में १४-१५ वर्ष की उम्र में है। यही औसत प्रायः समूचे संसार के देशों में मिलेगा। इसीलिए १४ से २० वर्ष की उम्र के अपराधियों की समस्या पहले हाथ में लेनी चाहिए। इसी उम्र में अपराध की ओर क़दम उठने लगता है। उस समय

१ Thomas A. Routh : *Realistic Rehabilitation*, The Journal of Rehabilitation in Asia, Madras, Vol. II, No. 4, October 1961, p. 5.

२ Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 297.

3 Claude Mullins : *Crime and Psychology*, Methuen and Co., London, 1945.

ज़रा सी रोकथाम से बड़ा काम हो सकता है। फ़िलाडेल्फिया के मानसिक स्वास्थ्य विभाग के संचालक डा० लिंडन ने सिद्ध कर दिया है कि पारिवारिक जीवन की बढ़ती हुई विषमताएँ, उन्मुक्त आचरण की अतिरंजित भावना तथा व्यक्तिगत सामाजिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता से अधिक की इच्छा आदि के कारण ही नवयुवकों में अपराध बढ़ रहा है।[1] डा० लिंडन ने घबड़ाकर यहाँ तक कह डाला है कि "इस समस्या का हल निकालना आसान नहीं है। महान् सामाजिक सुधार तो बहुत कठिन है। पर ऐसा लगता है कि परिवार में पिता का प्रधान नेतृत्व तथा प्रमुख स्थान और माता का आदरणीय मातृत्व यदि पुनः स्थापित हो जाय तो युवकों तथा बालकों का स्वस्थ चरित्र-निर्माण सम्भव हो सकेगा।"

घूम फिर कर सभी अपराधशास्त्री चरित्र निर्माण तथा स्वस्थ जीवन के लिए पारिवारिक जीवन की मर्यादा को पुनः स्थापित करना चाहते हैं। इसी धारणा से बन्दी को पुनः सामाजिक जीवन में स्थापित करने के लिए खुला कारागार का सामूहिक तथा पारिवारिक जीवन श्रेष्ठ प्रणाली समझा जाता है।

नये प्रकार के बन्दीगृह

अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार कमीशन की राय में बन्दियों की वास्तविक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसे कारागार हों जिनमें :—

१. प्रचलित क़ानून के अनुसार बन्दियों के प्रति साधारण व्यवहार से भिन्न, विशेष प्रकार के बन्दियों के लिए विशेष प्रकार के कारागार बनाये जायँ।

२. ऐसे खुले कारागार हों जहाँ पर सुधार के पात्र बन्दियों को विश्वास तथा स्वावलम्बन के आधार पर रखा जा सके।

३. अधिकांश बन्दियों के लिए एक मध्यम मार्ग का जेल हो जिसमें क़ैद के साथ ही कुछ स्वाधीनता का भिन्न मात्रा में प्रयोग किया जा सके।

४. जहाँ तक हो सके पुराने ढंग के कारागारों को बन्द कर दिया जाय।

५. क्रमशः पुराने ढंग के सभी जेल बन्द कर दिये जायँ तथा नवीन सामाजिक भावना से संचालित कारागारों की ही सत्ता रह जाय।

नये प्रकार के कारागार खोलने की चेष्टा बहुत से देश कर रहे हैं। बहुत से देशों में अब स्त्री तथा पुरुष के लिए पृथक् कारागार हैं। भारतवर्ष तथा नार्वे ऐसे अनेक देशों में स्त्री बन्दियों की संख्या इतनी कम है कि वे पुरुषों

[1] Maurice E. Linden : *Social Case Work*, Family Association of America, November, 1959, pp. 485-86.

के जेल में ही एक पृथक् अंग में रखी जाती हैं। उत्तर प्रदेश, बम्बई, दिल्ली आदि में महिलाओं के लिए पृथक् कारागार भी हैं। कई देशों में, जिनमें भारत भी है, बालिग़ अपराधियों के सुधार के लिए काम हो रहा है पर बाल-अपराधियों के लिए बहुत कम काम हुआ है। बरेली के किशोर सदन अथवा दिल्ली के रिमाण्ड होम या बम्बई के बाल-सुधार-गृह ऐसी बहुत कम संस्थाएँ हमारे देश में हैं। अनेक देशों में, जिनमें भारत भी है, जेल सुधार का काम केवल इतना ही शुरू हुआ है कि लम्बी अवधि के क़ैदियों के लिए अलग कारागार बनाये गये हैं। इसके साथ ही इन देशों में मानसिक असंतुलन वाले अपराधियों के लिए अलग कारागार बनाये जा रहे हैं। उत्तर प्रदेश में ऐसा कारागार आगरा में है। अर्जेण्टाइना, बेल्जियम, ब्राजील, चाइल, फ्रांस, हालैण्ड, इटली, नार्वे, स्कॉटलैण्ड, स्पेन आदि में मानसिक रोगी बन्दी के लिए अलग चिकित्सालय हैं। बेल्जियम, जर्मनी, यूनान, स्पेन, फ्रांस आदि में बन्दियों के लिए अलग अस्पताल हैं। भारतवर्ष, जर्मनी, यूनान, स्पेन, फ्रांस आदि में क्षयी के रोगी बन्दियों के लिए पृथक् कारागार हैं। फ्रांस, जापान, स्विटज़रलैण्ड, हालैण्ड, स्वीडन, भारतवर्ष आदि में बाल-अपराधियों के लिए शिक्षा तथा दस्तकारी का काम सिखाने के लिए अलग कारागार हैं। इज़रायल में बाल-अपराधियों के लिए पृथक् शिक्षण केन्द्र हैं।

वारबार अपराध करने वालों के लिए ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, हालैण्ड, स्पेन, इटली तथा पुर्तगाल में पृथक् कारागार हैं। डेन्मार्क, स्वीडन, न्यूज़ीलैण्ड, नार्वे, स्विट्ज़रलैण्ड आदि में काम-वासना के अपराधी तथा मदकची लोगों के लिए पृथक् कारागार हैं। फ्रांस में सुधार के प्रति उन्मुख आदतन अपराधी के लिए अलग कारागार हैं। स्पेन तथा अर्जेन्टाइना में बूढ़े और अपाहिजों के लिए अलग कारागार हैं। भारतवर्ष में बूढ़े और अपाहिजों को जेल के अस्पताल में हल्का-सा काम दे देते हैं या कहीं पड़े रहने देते हैं। किन्तु, सभी कारागारों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन ने लिखा है :—

"वर्तमान कारागार प्रणाली को मूलत: आधुनिक मानने के लिए बन्द या खुले कारागारों के सम्बन्ध में एक ख़राबी दूर करनी ही होगी और वह यह कि इन सब की तह में जानबूझकर दण्ड की भावना सन्निहित है। यदि हम वर्तमान भिन्न प्रकारों के कारागारों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि पुराने ढंग के कारागारों में आधुनिक दण्ड भोगना पड़ता है। आजकल हम दण्ड के साथ जिस पुन: शिक्षण या समाज में पुन: स्थापना की बात करते हैं उनके भीतर भी प्रतिशोध की भावना मिली हुई है। साधारण नियमों के अन्तर्गत

जो कारागार बने हुए हैं उनमें हम नयी भावना का समावेश करना चाहते हैं पर अन्तर केवल इतना ही है कि पहले "पुनः शिक्षण" का गौण स्थान था, दण्ड का स्थान प्रथम था। अब भी दण्ड का वही स्थान है, केवल नयी भावना का किंचित मेल करा दिया गया है।"[१]

नये ढंग की चिकित्सा का एक अच्छा प्रयोग आस्ट्रिया की राजधानी वियना में हो रहा है। वहाँ पर आगस्ट ऐकार्न ने पथ-भ्रष्ट बच्चों के लिए एक संस्था स्थापित की है जिसमें नम्रता, दया, सदा उपयोगी काम में लगाये रहना, खेलकूद आदि का प्रबन्ध है जिससे अपराधी बच्चों की उग्र भावनाएँ शान्त रहती हैं।[२]

सोवियत रूस में बोलशाबो का आदर्श कारागार सन् १९३४ में स्थापित हुआ था। उसमें पहले कुछ सौ बन्दी थे। अब दो हज़ार से अधिक बन्दी हैं। इसे एक खुला उपनिवेश कहना चाहिए।[3] बन्दियों का खुला जीवन है। उन्हें काम करने, परिश्रम करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा मनोरंजन का अवसर मिलता है। स्वस्थ वातावरण में अच्छे ढंग से रहने का अवसर मिलता है। जरायम पेशा लोगों के लिए सोवियत रूस में अच्छा काम हुआ है। समाज में उनके पुनः स्थापन में तथा उनके पूर्व के कलंकित जीवन को धो डालने में कुछ ज़्यादा देर नहीं लगती।

खुले कारागार

संयुक्त राज्य अमेरिका में छोटी अवधि वाले क़ैदियों के ३० प्रतिशत को खुले कारागारों में रखने का प्रयास किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड कमीशन ने खुले कारागारों के सम्बन्ध में लिखा है :—[४]

"खुले या लगभग खुले कारागारों को "विशेष" कारागार शायद इसीलिए कहा जाता है कि उनकी संख्या बहुत कम है। यह सही है कि वे पुरानी रूढ़ि से बहुत भिन्न नहीं हैं। फिर भी वे प्राचीन परम्परा से बिलकुल भिन्न भावना लेकर चल रहे हैं।"

दर्जनों देशों में खुले कारागार हैं। किन्तु, सभी की योजना तथा संचालन एक ही ढंग से नहीं होता है। हेग के अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार कांग्रेस ने खुले कारागारों के सम्बन्ध में जो रूपरेखा निर्धारित कर दी थी, उसका

१ *I. P. P. C. Report*, p. 73.
२ Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 29.
3 *Ibid*, p. 292.
४ *Modern Method of Penal Treatment*, p. 71.

पालन सब जगह नहीं होता है। नीचे हम कतिपय खुले कारागारों से परिचय प्राप्त करेंगे।

आस्ट्रेलिया

आस्ट्रेलिया महादेश के विक्टोरिया प्रदेश में कूरीमंगल स्थान में १६,००० एकड़ का खुला कारागार है। सन् १९३९ में यहाँ पर क़ैदी लाकर रखे गये थे ताकि उनके द्वारा भूमि को ठीक कराकर देश के साधारण लोगों को भूमि के टुकड़े देकर बसा दिया जाय। अब यहाँ पर अच्छे-अच्छे मकान हैं, वैज्ञानिक ढंग से खेती होती है, बाग़ है, मशीन घर है, दुग्धशाला है, टेलीफ़ोन, डाक व तारघर है। किन्तु, यहाँ पर रात्रि में बन्दियों को ९ बजे तक अलग-अलग कोठरियों में बन्द कर देते हैं। पहरेदार की ज़रूरत नहीं होती, केवल कुछ कर्मचारी रहते हैं। अधिकांश कार्यों में क़ैदियों पर विश्वास किया जाता है। परिवार के साथ रहने की अनुमति नहीं है। जेल के अफ़सर लोग १८० मील दूर, मेलबोर्न नगर में रहते हैं। केवल विश्वासपात्र बन्दी ही यहाँ भेजे जाते हैं। इनमें से बहुतों को छूटने के बाद खेती के पेशे से कोई दिलचस्पी नहीं होती। कूरीमंगल भेजे जाने के पहले बन्दियों को एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करना होता है। २० सितम्बर, १९५४ तक इस कारागार में ८०० बन्दी भेजे गये थे जिनमें से केवल ६ भाग गये थे। भागे हुए सभी बन्दी गिरफ़्तार हो गये। बन्दियों को कोई मज़दूरी नहीं मिलती, जो भूमि वे तैयार कर देते हैं वह भी उनको नहीं मिलती। स्वतन्त्र नागरिकों को पट्टे पर दे दी जाती है।

दुर्गापुर फ़ार्म, राजस्थान (भारत)

जयपुर राजस्थान प्रदेश की राजधानी है। उससे छः मील दूर पर राजस्थान सरकार के कृषि विभाग का फ़ार्म है—खेत है। ११६ एकड़ के इस खण्ड को दुर्गापुर फ़ार्म कहते हैं। जयपुर के केन्द्रीय कारागार से ८ बन्दी इस फ़ार्म पर भेज दिये गये हैं। इनके रहने के क्वार्टर हैं। इनका अपना भोजनालय है। कोई पहरा-चौकी नहीं है। डेढ़ रुपये रोज़ मज़दूरी मिलती है। उसमें से वे जितना चाहे ख़र्च करें या घर भेजें। अपने भोजन पानी का प्रबन्ध बन्दी अपनी आमदनी में से करता है। सन् १९६० में इन बन्दियों को अपनी स्त्री के साथ रहने के लिए क्वार्टर दे दिया गया था। पर एक बन्दी ने अपनी भावज के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया और जब वह पकड़ा गया तो भाग गया। तब से यह अधिकार हटा लिया गया है। तब से कोई बन्दी भागा भी नहीं। बन्दी मज़दूरों से फ़ार्म के सुपरिन्टेंडेन्ट इतने प्रसन्न हैं कि वे चाहते हैं कि स्वतन्त्र मज़दूरों की तुलना में उन्हें और भी बन्दी मिलें। फ़ार्म

पर काम करने वाले बन्दियों को सज़ा की अवधि में विशेष छूट देने का नियम नहीं है।

सम्पूर्णानन्द शिविर

उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गृहमन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने प्रदेश में खुला कारागार का श्रीगणेश किया था। उन्होंने बन्दी को मुक्त, स्वस्थ, स्वतन्त्र जीवन देने के साथ ही रचनात्मक कार्य में भी लगा दिया है। चन्द्रप्रभा नदी पर बाँध बनाने की योजना बनी, आबपाशी के लिए। बस इसी कार्य के लिए बन्दियों को खुला जीवन मिला। वे बिना पहरा चौकी के एकदम स्वतन्त्र रहने लगे। उनकी अपनी पंचायत थी जो आवश्यक नियमन करती थी। भोजनशाला, पाठशाला, मनोरंजन शाला, सब पर उनका अपना नियन्त्रण था, स्वतन्त्र मज़दूर के समान मज़दूरी मिलती थी। वे अपने भोजन आदि का व्यय सरकार को दे देते थे तथा दो आना पैसा रोज़ ख़र्च भी कर सकते थे। शेष रक़म उनके हिसाब में जमा होती थी। इस खुला कारागार का नाम रखा गया सम्पूर्णानन्द शिविर। अक्टूबर १९५२ में प्रारम्भ हुआ और ३ अक्टूबर, १९५३ को यह शिविर समाप्त हुआ। खुला कारागार का यह पहला अनुभव था। यहाँ पर बन्दी को बन्दी कह देने पर एक आना यानी छः नया पैसा दण्ड लगता था। बन्दी को मज़दूर कहा जाता है। अब यह प्रथा बाद में खुलने वाले सभी कैम्पों में लागू हो गयी। दूसरा शिविर ४ अक्टूबर, १९५३ को बाँध के कार्य के लिए ही नौगढ़ में खुला और जनवरी १९५५ में समाप्त हुआ। डा० सम्पूर्णानन्दजी ने मुख्य-मन्त्री हो जाने के बाद अपने शिविरों को बहुत ही आदर्श रूप दे दिया था। इस प्रकार एक के बाद दूसरे कैम्प खुलते गये। सन् १९५६ में वाराणसी शहर में वरुणा नदी पर पुल बनाने के लिए ५०० बन्दियों का शिविर संसार में अभूतपूर्व था। लम्बी अवधि के ये क़ैदी शहर की आबादी के साथ घुल-मिलकर रहते थे और उनके साथ स्वतन्त्र स्त्री-पुरुष मज़दूर, सैकड़ों की तादाद में काम करते थे। बन्दियों को शहर में तथा स्वतन्त्र स्त्रियों के साथ रखने का यह पहला प्रयोग था और इसमें बड़ी भारी सफलता हुई। एक भी क़ैदी भागा नहीं, काम-वासना की एक भी घटना नहीं हुई। भारतीय जीवन की इस उच्चता की विदेशियों ने बड़ी प्रशंसा की है। रामधुन के साथ जब इन "मजदूरों" की दिनचर्या प्रारम्भ होती है तो मानो वे अपने भगवान से अपने चरित्र की रक्षा की प्रार्थना कर पूरा बल प्राप्त कर लेते हैं। सम्पूर्णानन्द शिविरों में चरित्र-निर्माण, लिखा-पढ़ी तथा मनोरंजन का इतना अच्छा प्रबन्ध रहता है कि वास्तव में बन्दी सुधार का यह बड़ा भारी प्रयोग है। यहाँ से बन्दियों की भागने की संख्या हज़ार पीछे चार से अधिक नहीं है। यह संख्या बन्द कारागारों से कम ही है। सम्पूर्णानन्द शिविरों के सम्बन्ध में अखिल

भारतीय अपराध निरोधक समिति ने एक बड़ी अच्छी पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें पूरा व्यौरा है।[1]

इन शिविरों में जेल के कर्मचारियों को उनके प्रचलित सम्बोधन नहीं प्राप्त हैं। यानी जेलर को कल्याण अफ़सर कहते हैं। सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रधान कल्याण अफ़सर हुआ। वार्डर को "सुपरवाइज़र" कहते हैं। दि हेग के सम्मेलन ने जिस प्रकार के खुले कारागारों का निरूपण किया था, वैसे ही ये शिविर हैं। इनमें न तो बन्दी को "बन्द" रखने का नियम है और न दीवालें हैं। व्यायाम तथा मनोरंजन का पूरा प्रबन्ध है। डेढ़ सौ मज़दूरों पर एक सुपरवाइज़र होता है। इनके लिए सिनेमा दिखाने का प्रबन्ध है। इन्हें मज़दूरी मिलती है। चुर्क के सीमेण्ट के कारखाने में जो बन्दी मज़दूर काम करते हैं उन्हें ढाई रुपये से तीन रुपये रोज़ तक मिलता है। उनमें से कुछ मज़दूर तो फ़ैक्टरी में स्थायी रूप से काम करने के लिए तैयार किये जा रहे हैं। शिविरों में रहने वाले हरेक बन्दी को क़ैद की अवधि में शिविर में रहने के प्रत्येक दिन के हिसाब से उतने ही दिन की छूट मिलती है। फ़सल के मौक़े पर खेतिहर बन्दी अपने घर छुट्टी पर चला जाता है। हर तीन वर्ष पर एक महीने घर रहने के लिए भी छुट्टी मिलती है। क़ैद की अवधि समाप्त होने पर यदि शिविर में सरकारी कर्मचारी का कोई स्थान खाली हुआ तो उन्हें दिया जाता है। मज़दूरों की औसतन डेढ़ रुपये से दो रुपये रोज़ की मज़दूरी में से ७५ नया पैसा उनके भोजन पर व्यय का काटकर दे दिया जाता है। काम न करने वालों को या आलसियों को दण्ड नहीं दिया जाता। उन्हें मनोवैज्ञानिक उपचार से काम में रुचि लेना सिखलाया जाता है। सम्पूर्णानन्द शिविरों में उत्तर प्रदेश के समूची बन्दी संख्या की १५ प्रतिशत आबादी है।

ऊपर हमने नौगढ़ शिविर का ज़िक्र किया है। इसमें ३९०५ बन्दी मज़दूर थे जिनके अपराध की तालिका इस प्रकार थी :—

१. मारपीट, दंगा-फ़साद के अपराधी	१०८९
२. चोरी, अपहरण, राहज़नी	६८५
३. अव्यवस्था तथा उपद्रव	९९१
४. हत्या सहित डाका	११५
५. आबकारी क़ानून, अफीम-गाँजा आदि	३८
६. बलात्कार तथा विष देने के अलावा अन्य व्यभिचार	१२
७. समाज की रक्षा के लिए बन्द किये गये	९७५
	३,९०५

[1] *Convicts Redeemed*: All India Crime Prevention Society, Lucknow, 1960.

इनकी सज़ा की अवधि इस प्रकार थी :—

१. एक वर्ष से कम	१६८
२. एक वर्ष से तीन वर्ष	२,२७८
३. तीन वर्ष से पाँच वर्ष	६६९
४. पाँच वर्ष से दस वर्ष	३३१
५. दस वर्ष या इससे अधिक	४६१
कुल	३,९०५

न्द शिविर, सितारगंज

इस प्रकार कम से कम १०,००० बन्दियों को बन्द कोठरी से निकालकर जीवन में पुनः स्थापित होने का अवसर प्रदान किया गया है। इन शिविरों की प्रशंसा में, विशेषकर बनारस (वाराणसी) के सरैया घाट शिविर की प्रशंसा में एक विदेशी लेखक ने लिखा है :—

"उत्तर प्रदेश में, बनारस में लम्बी अवधि के क़ैदी शहर के बीच में, बिना पहरा के, सार्वजनिक निर्माण कार्य में लगे हुए हैं और वे स्वतन्त्र स्त्री-पुरुषों से आज़ादी के साथ मिलते-जुलते हैं। इस प्रदेश में दो तीन हज़ार बन्दी सार्वजनिक निर्माण कार्य में, नहर तथा बाँध बनाने के काम में एक स्थान से दूसरे स्थान पर बराबर काम कर रहे हैं।"[1]

रचनात्मक कार्य की दृष्टि से भिन्न स्थानों में सम्पूर्णानन्द शिविर खुलते रहते हैं और काम समाप्त होने पर बन्द कर दिये जाते हैं। दो शिविर स्थायी हैं। एक है चुर्क के सीमेण्ट के कारखाने के साथ नत्थी जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर आये हैं। दूसरा है नैनीताल ज़िले में सितारगंज में। चुर्क के कारख़ाने के साथ नत्थी घुर्मा शिविर में १ जनवरी से ३१ दिसम्बर, १९६० तक बन्दियों को ४,६८,०१६ रुपया मजदूरी मिली। इसमें से उनके भोजन का ख़र्च २,१६,९५५ रुपया जेल ने काट लिया और क़ैदियों को २,२१,१२६ रुपया बचा।

सितारगंज शिविर कृषि प्रधान है। यह ६००० एकड़ भूमि में है जिसमें से ३००० एकड़ भूमि कृषि के योग्य बनायी गयी है। यहाँ पर पढ़ाई-लिखाई की शिक्षा, बुनाई, कताई, बढ़ईगीरी, ट्यूबवेल का काम आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। देहाती, सुखी, सम्पन्न जीवन है। एक हज़ार से अधिक बन्दी यहाँ रहते हैं। पिछले दो साल में केवल पाँच भाग गये। इस फ़ार्म के

R. S. Cavan & E. S. Zemans: *Marital Relationship of Prisoners in Twentyeight Countries*, The Journal of Criminal Law, New York, Vol. 49, No. 2, July-August, 1958, p. 138.

खोलने में प्रदेश सरकार का ८,४१,०७५ रुपया व्यय हुआ था—८ फरवरी, १९६० से ३१ जनवरी, १९६१ तक। इसी अवधि में शिविर के खेतों की पैदावार से २,३४,१२३ रुपये की आमदनी हुई थी। इस फ़ार्म के बन्दियों को पच्चीस नया पैसा रोज़ मजदूरी मिलती है। सितारगंज में ५०० तथा घुर्मा शिविर में ८०० "मज़दूर" रहते हैं।

सन् १९४९ में लखनऊ सेन्ट्रल जेल को मॉडेल जेल का रूप दिया गया। उसका नाम रखा गया आदर्श कारागार। उसके साथ ही आदर्श नारी निकेतन नामक महिला जेल है। आदर्श कारागार में दो विभाग हैं—यमुना भवन, गंगा भवन। यमुना भवन में छः महीने तक पूरे परीक्षण, शोध, चिकित्सा के बाद बन्दी गंगा भवन में भेजे जाते हैं। गंगा भवन के क़ैदियों को यहाँ तक आज़ादी है कि जेल में जो कुछ पैदावार उनके द्वारा हो, उसे जाकर स्वयं बाज़ार में बेच आवें। आदर्श कारागार हर दृष्टि से बहुत ही ठोस संगठन है। आदर्श नारी निकेतन में ७० नारियाँ रहती हैं।

भारत में अन्य खुले कारागार

४ जून, १९५५ को महाराष्ट्र प्रदेश के यरावदा नगरी में एक खुला कारागार खोला गया जिसमें २५ बन्दी रखे गये थे। पचास व्यक्तियों के रहने का प्रबन्ध है। महाराष्ट्र के समूचे जेलों में से श्रेष्ठ तथा सुधार योग्य बन्दी यहाँ लाये गये थे। यहाँ रहने वाले बन्दियों को दो तिहाई सज़ा समाप्त करने के बाद एक तिहाई छूट मिल जाती है। पचीस से पचास नया पैसा रोज़ मज़दूरी मिलती है। खुली हवा में, प्रायः बन्धनरहित वातावरण में काम करना होता है। भोजन-वस्त्र अन्य जेलों के बन्दियों के समान हैं।

एक दूसरा खुला जेल सतारा ज़िले के अपदी ग्राम से डेढ़ मील दूरी पर है। इसे स्वतन्त्रपुर उपनिवेश कहते हैं। पचास एकड़ ऊसर भूमि बन्दियों को खेती के लिए दे दी गयी है और उन्हें वहाँ झोपड़ियों में बिना पहरा, ताला या दीवाल की चहारदीवारी के बसा दिया गया था। प्रायः एक रुपया रोज़ मज़दूरी मिलती है। ऊसर भूमि अब उर्वर हो गयी है। बन्दी अपनी कुटिया में अपना परिवार रख सकता है। अपने भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध वह स्वयं अपनी मज़दूरी की कमाई से करता है। उसके परिवार के सदस्य भी यदि फ़ार्म पर काम करते हैं तो उनको भी वही मज़दूरी मिलती है। छः महीने उपनिवेश में ठीक से काम करने पर एक सप्ताह तक की छुट्टी घर जाने के लिए मिल सकती है। सज़ा पूरी हो जाने पर इस उपनिवेश में वे स्वतन्त्र रूप से बस भी सकते हैं। उनको खेती के लिए भूमि भी दी जा सकती है।

आन्ध्र प्रदेश में "मौलाअली कृषि उपनिवेश" के नाम से एक खुला

कारागार है। इसमें ९३ एकड़ भूमि है। यह केन्द्रीय' कारागार हैदराबाद से १४ मील की दूरी पर है। शुरू-शुरू में यहाँ रोज़ केन्द्रीय कारागार से ३०-४० क़ैदी ट्रक पर ले जाये जाते थे और दिन भर वे खुले वातावरण में काम करते थे और शाम को केन्द्रीय कारागार में वापस कर दिये जाते थे। अब वे वहीं पर झोपड़ियों में रहते हैं और काम करते हैं। उन्हें मज़दूरी इत्यादि नहीं मिलती थी। इस समय की वस्तुस्थिति ज्ञात नहीं है।

विदेशों में कुछ खुले कारागार

इज़रायल में रामलेह तथा लिद्दा से दो किलोमीटर की दूरी पर एक खुला कारागार है जिसमें १४५ व्यक्ति झोपड़ीनुमा इमारत में रहते हैं और अपने जीवन संचालन में इन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्रता है। उपनिवेश के बाहर भी बिना पहरा के आने जाने की अनुमति है। शिक्षा, दस्तकारी, मनोरंजन आदि का भी समुचित प्रबन्ध है। अगस्त १९५५ तक इस उपनिवेश से केवल दो बन्दी भागे थे। फिनलैण्ड में पेरोल पर छोड़े जाने योग्य बन्दियों के लिए एक ऐसा कारागार है जिसमें दिन में स्वतन्त्र रूप से काम होता है किन्तु रात्रि में ताले में बन्द होना पड़ता है। श्रेष्ठ बन्दियों के लिए उस देश में कई श्रमिक उपनिवेश हैं।

न्यूज़ीलैण्ड में दो खुले तथा एक नीम-खुला कारागार है। खुले कारागारों का नाम टोंगारिनो तथा वैकुने बन्दी शिविर है। हर बन्दी के लिए अलग-अलग झोपड़ियाँ बनी हुई हैं। जो बन्दी कठोर परिश्रम से न घबड़ाये तथा जेल में जिसका चरित्र ठीक रहा हो, जिसकी लम्बी क़ैद हो, उसे ही छूटने के कुछ समय पूर्व यहाँ रखा जाता है। वैकुने में केवल ६०-७० बन्दी रहते हैं। पहरा चौकी भी है। मज़दूरी नहीं मिलती, शिक्षा के लिए थोड़ी देर के लिए एक अध्यापक नियुक्त है।

जापान में अकागी फ़ार्म खुला कारागार है। उसमें ५३६ एकड़ भूमि है जिसमें से ११६ एकड़ भूमि में खेती होती है। इसमें ४०० से ५०० बन्दी रहते हैं। ऐसे ही कुछ खुले कारागार जापान में और भी हैं जिनमें ७०-८० बन्दी रहते हैं। इन शिविरों में केवल २५-३० वर्ष की उम्र के भीतर के प्रथम बार साधारण अपराध करने वाले बन्दी रखे जाते हैं। कुल खुले कारागारों की संख्या ७० है जिनमें जुलाई, १९५४ में कुल ५,११३ बन्दी थे। यानी जापान के जेलों की समूची आबादी का ८ प्रतिशत। इन शिविरों में खेती, पशु-पालन, पेड़ काटना, कोयला बनाना, बाँध बनाना, मछली मारना आदि की शिक्षा दी जाती है। साधारण बन्द जेलों से जितने क़ैदी उस देश में भाग जाते हैं उससे कम ही इन शिविरों से भागते हैं।

डेनमार्क में दो खुले कारागार हैं। एक नार्ते स्नेडे में है। इसमें १८ से २५ वर्ष के बीच के ८० युवक रहते हैं जिनको मशीनरी, कृषि तथा फल उत्पादन की शिक्षा दी जाती है। सह-मैथुन या दुबारा अपराध करने वाले या दो वर्ष से ऊपर की सज़ा वालों को यहाँ नहीं रखा जाता। युवकों की शिक्षा, धार्मिक शिक्षा तथा उनके मनोवैज्ञानिक परीक्षण का समुचित प्रबन्ध है।

दूसरा शिविर है जटलैण्ड प्रदेश के उत्तरी भाग में, कागशेडे कारागार। इसमें २७०० एकड़ भूमि लगी हुई है। चार पृथक् खण्डों की इमारत है जिनमें प्रत्येक खण्ड में चार-चार बन्दियों को एक साथ रहने योग्य २२ कमरे बने हैं। पाठशाला भवन है। पुस्तकालय है। पुस्तकालय में १६,००० पुस्तकें हैं। किन्तु, अभी इस शिविर में ८० से अधिक बन्दी नहीं रखे जाते। दो वर्ष से चार वर्ष तक के सज़ायाफ़्ता दुबारा क़ैदी अपराधी रहते हैं जिनको शिविर से दूर खेतों पर काम करने जाना पड़ता है। सप्ताह में एक बार शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य है। साधारण मज़दूरी भी मिलती है।

नार्वे, स्वीडन आदि में कई बहुत अच्छे खुले कारागार हैं पर इन सभी में रात्रि में ताला में बन्द रखने का नियम है। स्विट्ज़रलैण्ड में विट्ज़विल नामक बहुत अच्छा खुला कारागार है। यहाँ पर शिक्षा, मशीन का काम, दस्तकारी, खेती आदि की अच्छी शिक्षा दी जाती है। मनोरंजन का भी प्रबन्ध है। एक बड़ा भवन मुक्त बन्दियों के लिए है। छूटने के बाद वे अपने पुनर्वास तक उस भवन में रह सकते हैं।

फ़िलप्पीन देश में सन् १९०४ में ही खुला कारागार का प्रयोग किया गया था। इवाहिग उपनिवेश में राजधानी मनीला के कारागार से शातिर तथा नम्बरी बदमाश कैदी छाँटकर यहाँ भेजे गये थे। विचार यह था कि उनको एक साथ रखा जाय। पर कुछ ही दिनों में उन क़ैदियों में गहरा दंगा हो गया और बहुत से बन्दी भाग गये। तब से नीति बदल दी गयी और इवाहिग के बड़े उपनिवेश में केवल अच्छे व्यवहार वाले प्रथम अपराधी भेजे जाने लगे। अब यह उपनिवेश एक आदर्श खुला कारागार है जिसमें बन्दी आराम से अपनी खेती करता है, कमाता खाता है और छूटने पर यदि चाहे तो वहीं बस भी जाता है। इस प्रयोग की सफलता के बाद सन् १९१२ में सान रमोन शिविर खुला। फिर १९३२ में दवाओ उपनिवेश खुला, १९३७ में बिलबिड शिविर तथा १९५४ में सबलायन उपनिवेश खुले। इन शिविरों द्वारा देश के प्राकृतिक साधनों का जैसे खेत, कुआँ, तालाब, आबपाशी आदि का सदुपयोग कराने का प्रयत्न किया जाता है। भारत की तरह फ़िलप्पीन भी कृषि प्रधान देश है अतएव खेती के काम पर ही ज़ोर दिया जाता है। बन्दियों को शिविरों में भेजने के पहले आठ सप्ताह तक अलग स्थान में रखकर उनका परीक्षण-

निरीक्षण होता है। फिर वे शिविरों में भेजे जाते हैं। शिविरों में अच्छा काम करने पर हर महीने पीछे दस दिन की छूट दी जाती हैं तथा प्रधान कारागार निरीक्षक इसके ऊपर भी पाँच दिन प्रतिमास दे सकते हैं। काम के अनुसार कुछ मज़दूरी भी मिलती है और बहुत अच्छा काम करने पर उन्हें भूमि दे दी जाती है जिसकी पैदावार को बेचकर वे अपनी आमदनी कर सकते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन में खुले कारागारों में वे बन्दी रखे जाते हैं जो सरकारी आदेश के अनुसार अच्छे बन्दी की श्रेणी में आते हों। इनमें प्रायः ताला, कुञ्जी या सींखचों का बन्धन नहीं होता। पहला खुला कारागार सितम्बर, १९४७ में ऐलडिंगटन में खुला था। इस समय वयस्कों के लिए १३ खुले कारागार तथा इतनी ही संख्या बाल-अपराधियों के लिए है; बाल-अपराधियों के खुले कारागार को बोर्स्टल संस्था कहते हैं। नवम्बर १९५४ में पेनिंघम का खुला शिविर वयस्कों के लिए खुला था जिसके बाद कोई नया शिविर अभी तक नहीं खुला है। उसमें ६० बन्दी हैं—लम्बी तथा साधारणतः लम्बी सज़ा के बन्दी। खुले शिविरों में बाग़वानी, धोबी का काम, जूता की मरम्मत, ईंट तैयार करना, चित्रकारी, रँगाई तथा कुछ औद्योगिक कार्य भी सिखाया जाता है। सबसे बड़ा खुला शिविर लोहल का है। सन् १९५५ में इसमें ३२० बन्दी थे। अधिकांश खुले कारागारों में मज़दूरी नहीं मिलती, केवल क़ैद की अवधि में छूट मिलती है। कतिपय कार्यों के लिए कुछ मज़दूरी भी दी जाती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कारागार दो प्रकार के हैं—प्रदेशों द्वारा संचालित तथा केन्द्रीय सरकार के नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए केन्द्र सरकार द्वारा संचालित। केन्द्रीय कारागार में औसतन २०,००० बन्दी रहते हैं जिनमें से २० प्रतिशत खुले कारागारों में रखे जाते हैं। उस देश में पहला खुला कारागार सन् १९३० में ४० बन्दियों को लेकर खोला गया था। अरीजोना प्रदेश के टक्सन नगर के पास ११,००० फ़ीट ऊँचे स्थान में, सन् १९५६ से ५०० बन्दी रहते हैं। उस देश में वृद्धों के लिए पृथक् खुला शिविर है। १५-१७ वर्ष के लड़कों के पृथक् शिविर हैं। सन् १९५५ में संयुक्त राज्य अमेरिका में ५००० बन्दी ७ खुले शिविरों में रहते थे और उनमें से केवल छः भाग गये थे।

इन बन्दियों का जीवन स्वतन्त्र, उन्मुक्त, शिक्षापूर्ण, स्वस्थ, मनोरंजक तथा परिश्रमशील है। पर इन शिविरों के चारों ओर दीवालें हैं जिनके बाहर नहीं जा सकते। सबसे बड़ा खुला शिविर कैलिफोर्निया का चिनो का कारागार है जिसमें १५०० बन्दी रहते हैं। इनमें से ७८ प्रतिशत प्रथम अपराधी हैं। इन खुले शिविरों के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के केन्द्रीय कारागार विभाग के प्रधान संचालक श्री जेम्स वी० बेनट ने कहा है—

"खुले कारागारों तथा शिविरों के प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया है कि दण्ड देने के लिए प्राचीन प्रणाली ही एकमात्र उपाय नहीं है। निरन्तर अनुभव तथा प्रयोग से यह बात साबित हो जाने का पूरा लक्षण है कि अमेरिका के कारागार की प्रणाली में खुली संस्थाओं का प्रमुख स्थान हो जायगा।"[१]

खुला कारागार का महत्व

ऊपर हमने जिन खुले कारागार तथा शिविरों का ज़िक्र किया है वे सभी आदर्श खुली संस्थाएँ नहीं हैं। कुछ तो ऐसी संस्थाएँ हैं जिन्हें खुला तो कहा जाता है पर केवल बन्दी को हाथ-पैर हिलाने की आज़ादी दे देना खुला जेल नहीं कहा जा सकता। ब्रिटेन के जेल विभाग के प्रधान लियोनेल फ़ॉक्स ने लिखा है कि खुला जेल वही है जहाँ न तो दीवाल का बन्धन हो, ताला कुंजी, बन्दूक, पहरा, चौकी कुछ न हो। इमारत से खुली संस्था नहीं बनती। हम उसी संस्था को खुला कारागार कह सकते हैं जहाँ बन्दी अपने आत्मसंयम से काम ले। अपने समुदाय के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझे। उसे जो स्वाधीनता दी गयी है उसका दुरुपयोग न करे।[२]

इसी सम्बन्ध में १९५० में हेग सम्मेलन में[3] तथा सन् १९५१ में ब्रूसेल्स के एक सम्मेलन में आदर्श निर्धारित किये जा चुके हैं। जेम्स वी० बेनेट ने सिद्ध किया है ताला बन्द कारागार की तुलना में खुला कारागार सस्ता पड़ता है।

स्वीडन में खुले कारागार में फ़ी बन्दी दस क्राउन रोज़ ख़र्च पड़ता है। बन्द कारागार में फ़ी बन्दी पर खर्च का औसत २५ क्राउन है। चाहे सम्पूर्णानन्द शिविर हो या चिनो का खुला जेल, भागने वालों की संख्या दो प्रतिशत भी नहीं पड़ती। इसके अलावा खुला जेल का बन्दी रिहाई पर फिर अपराध नहीं करता। ग्रेट ब्रिटेन में खुला कारागार का ९४ प्रतिशत बन्दी स्वस्थ जीवन में पुनः स्थापित हो गया। वहाँ के बन्द जेलों के ८७ प्रतिशत दुबारा अपराध नहीं करते। संसार में सबसे बड़ा खुला शिविर उत्तर प्रदेश का सम्पूर्णानन्द शिविर है जिनमें ३००० बन्दी तक एक साथ सानन्द जीवन व्यतीत करते हैं। बन्द जेल बनाने का खर्च इतना बढ़ता जा रहा है कि अब संसार में सम्पूर्णानन्द शिविर का ही अधिकतम उपयोग होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक बन्दी सुधार गृह "डेवल वोकेशनल इंस्टीट्यूट" के नाम से बनाया गया है।

---

१ *Report to the United Nations, Geneva*, Congress on Crime Prevention, 1955.

२ Sir Lionel Fox : *The Place of the Open Institution in the Penal System and in the Community.*

3 *Proceedings of the Twelfth International Penal and Penitantiary Congress*, Vol. II, pp. 586-588.

इसमें १२१३ कोठरियाँ हैं तथा ३० खाट का अस्पताल है। इसके बनाने तथा साज-सज्जा में ६० लाख रुपया खर्च हो गया यानी ४८,००० हज़ार रुपया फ़ी बन्दी पीछे निर्माण पर व्यय हुआ।[१]

अपराध रोकना है तो पुनर्वास का प्रबन्ध होना चाहिए। अपराधी कम करने हों तो अपराध का तुरन्त पता लगाना चाहिए ताकि वास्तविक अपराधी छिप न सके। जो लोग पकड़ में नहीं आते, वे समाज के लिए अधिक भयंकर वस्तु हैं। प्रसिद्ध लेखक तप्पन का यही मत है।[२] अपराध छिप न सके, यह काम तो पुलिस की सतर्कता पर निर्भर करता है। दण्ड की कठोरता से अपराध में कमी नहीं होती, यह सत्य तप्पन साहब स्वीकार करते हैं। इस बात को अमेरिकन अदालतें भी समझ गयी हैं। तप्पन ने आँकड़ा दिया है कि गत कई वर्षों में जुआ खेलने के लिए गिरफ़्तार लोगों में से ५९·९ प्रतिशत को केवल चेतावनी देकर छोड़ दिया गया था। ३·४ प्रतिशत को प्रोबेशन अफ़सर की निगरानी में भेजा गया था। २३·७ प्रतिशत पर जुर्माना हुआ था तथा १३·० प्रतिशत परिश्रम का काम कराने वाली सरकारी संस्थाओं में भेज दिये गये थे।[3] तप्पन की सलाह है कि जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक क़ैदियों को ज़मानत लेकर पेरोल पर छोड़ना चाहिए ताकि वे अपने पुनः वास का इन्तज़ाम कर सकें।[४] इसी लेखक की सलाह है कि बन्दी का सुधार करने के लिए केवल एक ही उपाय से नहीं, अनेक उपायों से काम लेना पड़ेगा। कई तरीक़ों को मिलाकर काम लेना होगा।[५]

अदालतों का कार्य है अपराधी के अपराध की तह में पैठकर उसके कारण की छानबीन करना। उन्हें प्रतिशोध की भावना से काम नहीं लेना है। समाज के प्रति अपराधी से प्रतिशोध नहीं चाहिए; असामाजिक व्यक्ति का संशोधन करना ही श्रेष्ठ है, कल्याणकर है।

Paul W. Tappan : *Crime, Justice and Correction*, M. Hill Book Company, New York, 1960, p. 647.

२ *Ibid*, p. 251.

3 *Ibid*, p. 444.

४ *Ibid*, p. 736.

५ *Ibid*. p. 444.

१०

प्राणदण्ड

रूसी भाषा के एक प्रसिद्ध उपन्यास में वेश्यावृत्ति, उसकी भयंकरता तथा समाज के सभ्य तथा शिष्ट कहे जाने वाले लोगों का बड़ा कटु, सत्य तथा मार्मिक विवेचन है। उसमें एक स्थान पर लिखा है :—

"पत्रकार ने कहा—जब तक संसार में निजी सम्पत्ति की सत्ता है तब तक दरिद्रता भी बनी रहेगी। इसी प्रकार जब तक संसार में विवाह की प्रथा बनी रहेगी, वेश्यावृत्ति भी समाप्त न होगी। तुम जानते हो कि वेश्यावृत्ति का कौन समर्थन करता है तथा पोषण करता है! शिष्ट कहे जाने वाले दो श्रेणी के व्यक्ति हैं। एक हैं परिवार वाले सम्मानित पिता तथा दूसरे हैं वे पति जिनको हम निष्कलंक समझते हैं। वे लोग जिन्हें हम बड़ा स्नेही बन्धु समझते हैं। वे व्यक्ति ही इस पैसे वाले व्यभिचार का समर्थन करेंगे जिन्हें भय है कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो अन्य लोगों की कामुकता उनके घर पर हमला कर देगी......वे लोग चुपचाप ज़रा-सा व्यभिचार कर लेना अपने लिए भी बुरा नहीं समझते। आखिर एक आदमी एक ही का उपयोग करते-करते ऊब जाता है......"

उसी उपन्यास में एक दूसरे स्थान पर एक वेश्या ने कहा है—

"बहन, अब मैं तुम्हारी बात समझ गयी। क्षमा करना। मुझे यह बुरा लगता था कि तुम उस चोर से क्यों प्रेम करती हो। पर अब मैं समझ गयी हूँ कि सभी पुरुषों में चोर और हत्यारा श्रेष्ठ व्यक्ति होता है। वह यदि किसी लड़की से प्रेम करता है तो उसे छिपाता नहीं। ज़रूरत पड़े तो अपनी प्रेयसी के लिए चोरी कर सकता है। डाका डाल सकता है। हत्या कर सकता है। लेकिन और जो सभ्य कहे जाने वाले पुरुष हैं—झूठे, दग़ाबाज़, नीच, मक्कार, एकदम शातिर तथा पतित हैं।"

वास्तव में मानव समाज के भीतर बैठ कर देखिए तो सभ्य तथा शिष्ट

समाज में जितना पतन तथा पाप मिलेगा उतना चोर, डकैत, हत्यारे तथा वेश्यावर्ग में नहीं। हम इन्हें ही इतना बुरा क्यों कहते हैं ?

अपराध शास्त्री साल्डाना ने लिखा है कि क़ानून का उपयोग वैसा ही है जैसे तोप का गोला फेंकना। जब यह मालूम हो जाता है कि इतनी दूरी पर गोला फेंकना है तो उसी अन्दाज़ से दूरी का हिसाब लगाकर उतनी ताक़त का गोला फेंका जाता है। उसकी चपेट में चाहे जो कोई आ जाय। इसी तरह क़ानून है। अमुक अपराध पर अमुक दण्ड मिलेगा। क़ानून आगे पीछे या वास्तविकता इत्यादि कुछ नहीं पूछता। कुछ नहीं सोचता। गोला फेंकने वाला केवल दूरी देखकर ही गोला फेंकता है और कुछ नहीं सोचता।[१] क़ानून के इस अंधेपन को देखकर ही स्विट्ज़रलैण्ड के विद्वान फ़ॉरेल ने लिखा है कि—"मेरी राय में क़ानून के हाथ से दण्ड देने का अधिकार ले लेना चाहिए।"

न्यायकर्ता सही न्याय करता है या नहीं, इस सम्बन्ध में शुरू से ही लोगों के मन में शंका बनी रही है। न्यायकर्ता सदैव ठीक निर्णय करेगा, इस सम्बन्ध में न्यायकर्ता या न्याय बनाने वालों को भी आशंका थी। मनु ने, याज्ञवल्क्य ने, बड़े-बड़े स्मृतिकारों ने भी लिखा है कि न्याय करने में ज़रा-सी भूल होने पर बड़ा भारी पाप लगता है। कभी भी जल्दबाज़ी में फ़ैसला नहीं करना चाहिए। न्याय का दुरुपयोग करने पर नर्क की आग में जलना पड़ता है।

पश्चिम के अपराध शास्त्रियों में बक्कारिया का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। सन् १७६४ में ही उन्होंने न्याय की मूर्खता तथा उसके अंधेपन के विरुद्ध आवाज़ उठायी थी।[२] उन दिनों या आज भी बहुत-से न्यायाधीश यह नहीं सोचते कि एक ही अपराध के बहुत-से कारण हो सकते हैं और अपराधी की चिकित्सा के लिए हरेक का व्यक्तिगत उपचार करना होगा।

दण्ड में विषमता

किन्तु, क्या अदालत की निगाह में हरेक अपराधी का अपना व्यक्तिगत अपराध समझा जा सकता है। क्या क़ानून के वश की बात है कि वह हरेक अपराध के कार्य की तह में बैठकर मूल प्रवृत्ति की खोज करता रहे। इसके लिए मनोविज्ञान की विशेष जानकारी और अनुभव की भी आवश्यकता है। इसीलिए शेल्डन ग्लूक ने लिखा है कि विचारपति को "न्यायोपरि चमत्कार"[3]

१ Quintiliano Saldana, 1939, Quoted by Paul Reiwald—p. 23.

२ Beccaria : *Essay on Crimes and Punishments*, 1764.

3 *Superintendental Magic.*

से काम लेना होगा।[१] किन्तु, सभी विचारपतियों में न्यायोपरि चमत्कार की क्षमता नहीं होती। पॉल रेवाल्ड ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि अदालत की कुर्सी पर बैठा हुआ विचारपति अपराधी के बारे में कुछ नहीं जानता, न तो जानना चाहता है। इसमें उसका कोई दुर्भाव नहीं है। समाज में अपराधी के प्रति जो सामाजिक मनोवृत्ति है, उसका शिकार वह विचारपति भी है। जब तक विचारपति नैतिक साहस तथा शक्ति से काम न लेगा, वह समाज के इस दोष से ऊपर न उठ सकेगा।[२]

जब इंसान बच्चा रहता है उसका विचारपति उसके पिता-माता या प्राय: पिता ही होता है। यदि पिता ने प्रारम्भिक भूल कर दी तो जीवन नष्ट हो सकता है। युवावस्था प्राप्त होने पर भगवान की सत्ता तथा पाप और पुण्य की सत्ता सामने आती है। और सबसे बाद में मानव चरित्र का निर्माण तथा उस पर विचार करने वाला अदालत का विचारपति होता है। यदि पिता माता ने भूल की तो जीवन बिगड़ा। यदि भगवान की सत्ता तथा पाप पुण्य की भावना ठीक से विकसित न हुई तो जीवन बिगड़ा और अन्त में यदि न्यायाधीश ने भूल कर दी तो जीवन नष्ट हो जाता है। बड़ी विपत्ति में है बिचारा मानव। कितने कठोर बन्धन में है वह।

यूरोप में मध्य युग में हैम्मूराबी नामक एक निरंकुश तथा अत्याचारी शासक हो गया था। उसने बलात्कार, चोरी, चोट-चपेट पहुँचाना तथा हत्या के लिए प्राण-दण्ड का विधान बनाया था। किन्तु, उन दिनों सरकार का काम दण्ड देना नहीं था। जिस व्यक्ति या परिवार के प्रति अपराध किया जाता था, उसके ज़िम्मे अपराधी छोड़ दिया जाता था। वह जैसे चाहे, जिस तरह चाहे, दण्ड दे सकता था। आज के क़ानून ने "जैसे चाहे, वैसे दण्ड दो" का अधिकार न्यायाधीश को दे रखा है।

यदि यह कहा जाय कि न्यायाधीश क़ानून में जो लिखा है, वैसा ही दण्ड देता है, क़ानून बनाती है विधायक सभा, अतएव विधायक सभा को ही दोषी मानना चाहिए। पर शेल्डन ग्लूक ने यह साबित कर दिया है कि जज के ख़ब्त में जो आया, वैसे दण्ड मिलता है। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यू जर्सी नामक प्रदेश में ९ साल में छः विचारपतियों द्वारा दिये गये ७००० दण्डों की समीक्षा की। विचारणीय अपराध थे चोरी, डकैती, ग़बन, बलात्कार, मारपीट इत्यादि। इनमें हत्या नहीं शामिल थी। समीक्षा से पता चला कि—

[१] Sheldon Glueck : *The Sentencing Problem* in 'Federal Probation", XX, Dec., 4, 1956, pp. 15-25.

[२] Paul Reiwald, *Society and its Criminals*, p. 25.

१. क नामक विचारपति ने ३६ प्रतिशत अपराधियों को कारागार की सज़ा दी।
२. ख नामक विचारपति ने ३४ प्रतिशत को।
३. ग नामक विचारपति ने ५३ प्रतिशत को।
४. घ नामक विचारपति ने ५८ प्रतिशत को।
५. न नामक विचारपति ने ४५ प्रतिशत को।
६. च नामक विचारपति ने ५० प्रतिशत को।

२० से ३२ प्रतिशत अपराधी प्रोबेशन पर छोड़ दिये गये थे तथा १६ से ३४ प्रतिशत की सज़ा स्थगित कर दी गयी थी। मासाचुसेट प्रदेश में एक साल में १६४ बन्दी जेल में दाख़िल हुए जिन्होंने प्रायः एक ही प्रकार के अपराध किये थे पर उनको ५३ प्रकार की भिन्न सज़ाएँ दी गयी थीं। २ वर्ष से लेकर ४५ वर्ष तक की सज़ाएँ थीं। यानी एक विचारपति के अनुसार प नामक अपराधी का सुधार करने के लिए ४५ वर्ष चाहिए तथा दूसरे विचारपति के अनुसार तीन ही वर्ष चाहिए। इन दोनों के पास इस अवधि को पहचानने के लिए मापदण्ड कुछ भी नहीं है, केवल उनका अपने मन का विचार है। इस प्रकार की विभिन्नता केवल हमको ही नहीं खलती है; संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन प्रधान सरकारी वकील, अटार्नी जनरल राबर्ट एच० जैक्सन ने सन् १६५० की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में लिखा था कि "बड़ी परेशानी यह है कि एक ही प्रकार का अपराध एक ही परिस्थिति में किये जाने पर भी असमान तथा विभिन्न सज़ाएँ दी जाती हैं। मनुष्य की न्याय-भावना को यह देख कर बड़ा धक्का लगता है कि अधिकांशतः जिस विचारपति के सामने मामला आता है उसके व्यक्तिगत विचार तथा रुचि पर दण्ड निर्भर करता है।"

३० जून १६५५ को समाप्त होने वाले आर्थिक वर्ष में संयुक्त राज्य अमेरिका में सब प्रकार के अपराधों पर केन्द्रीय कारागारों में औसतन २५ महीने की सजा वाले बन्दी थे। देलावेयर प्रदेश के कारागारों में साढ़े तेरह महीने की अवधि थी। न्यूजर्सी के प्रदेश में पौने इक्कीस महीने का औसत था तथा पेनसिलवानिया मध्य के प्रदेश में ५३ महीने का औसत था। कितनी भयंकर विषमता है।

इंगलैण्ड के एक मैजिस्ट्रेट सर हेनरी हॉकिन्स ने दण्ड देने की वर्तमान प्रथा की आलोचना करते हुए लिखा है :—

"यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि हमारे दण्ड-विधान में बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है पर यह उसका दोष नहीं है कि आजकल अपराधियों को दण्ड देने में घोर असमानता है। इस गम्भीर स्थिति का कारण यह है कि विचार-पतियों में बड़ा मत वैभिन्य है। इसका परिणाम यह होता है कि दण्ड देने में घोर विषमता और अनियमित स्थिति भी पैदा हो गयी है। हमारे सामने रोज

ऐसे मामले आते हैं जिनमें एक ही परिस्थिति में किये गये एक ही प्रकार के अपराध पर एक विचारपति बड़ा कठोर दण्ड देता है तथा दूसरा विचारपति साधारण दण्ड देता है। ऐसा क्यों होता है ? इसका स्पष्ट कारण भी नहीं मालूम होता।"

अंग्रेज़ी क़ानून के अनुसार यदि अपराधी के बारे में यह साबित हो जाय कि उसने जानबूझकर अपराध नहीं किया है तो उसे छोड़ देना चाहिए। यदि अपराध की इच्छा तथा स्वीकृति का उससे सम्बन्ध नहीं है तो उसे दोषी नहीं कहा जा सकता।[1] ब्रिटेन के प्रधान न्यायाधीश गोडार्ड ने भी कहा है कि बिना "दोषी मन के साबित हुए कोई भी अपराधी दण्डनीय नहीं है। पर यह पता कैसे चले कि मन दोषी है या नहीं ?" एक दूसरे अंग्रेज विचारपति चैनेल ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि "यह जानने के लिए कि उस अभियुक्त ने उस काम को जानबूझकर किया या कराया, उसके मन में दुर्भावना थी, उसकी जानकारी में काम हुआ या वह जानबूझकर उस काम को होने देता रहा—यह सब बातें उस घटना के साथ सम्बद्ध[2] अन्य घटनाओं के द्वारा ही जानी जा सकती हैं।"

एलियट और मेरिल ने लिखा है कि बिना वैज्ञानिक ढंग से पता लगाये अपराधी की मनोवृत्ति की जानकारी नहीं हो सकती। अपराधी के व्यक्तित्व का ठीक से अध्ययन करना चाहिए।"[3]

जब विचारपतियों की प्रेरणा, भावना या धुन पर ही न्याय निर्भर करता है तो क्या यह सत्य नहीं है कि प्राणदण्ड देते समय बिना इच्छा, भावना तथा मन के दोष का पता लगाये निर्दोष लोगों को भी प्राणदण्ड दे दिया जाता है। पुलिस अपना मुक़द्दमा ऐसा तैयार करती है कि निर्दोष व्यक्ति अपने को निर्दोष साबित कर ही नहीं सकता। निर्दोष होने पर भी यदि कोई फाँसी पर लटका दिया गया तो कितने अनर्थ की बात है। बाद में उसका निर्दोष होना सिद्ध होने पर भी कोई लाभ न रहेगा। यदि सौ प्राणदण्डित में एक भी निर्दोष है तो यह कितने अनर्थ की बात है!

प्राणदण्ड का विकास

कई छोटी अदालतों से निर्णय होने के बाद प्राणदण्ड की पुष्टि सबसे बड़ी

[1] *Mens Rea in Statutory Offences*, Macmillan & Co., London, 1955, pp. 175-176.

[2] *Ibid*, p. 192.

[3] Mabel A. Elliot and Francis E. Merril, *Social Dis-organisation*, Harper Bros., 1941, p. 956.

अदालत करती है। यह अदालत साधारण मानव के जीवन से आकाश की तरह दूर है।[1] विचारपति के सामने प्रायः अपराधी नहीं आता। मुक़द्दमे की मिसिल आती है। विचारपति ने क़ानून की किताब खोली और दूसरे की जान ले लेने का हुक्म जारी हो जाता है। क्या इतने ऊँचे बैठे व्यक्ति को इतना अधिकार मिलना चाहिए ? पुराने ज़माने में भी ऐसा नहीं होता था। उन दिनों साधारण से साधारण अपराध पर प्राणदण्ड होता था। फिर भी अपराधी तथा विचारपति एक दूसरे के सामने होते थे। प्राचीन यूनान में प्राणदण्ड का अर्थ होता था देश निकाला। देश छोड़ दिया तो राज्य की रक्षा हो गयी। कुछ समय बाद यूनानियों ने सोचा कि ऐसे भयानक आदमी को दूसरे देश में क्यों भेजो। वहीं जान ले लो, और वहीं जान ले ली जाती थी।

प्राचीन भारत में प्राणदण्ड होता था पर बिरले अपराधों पर। सम्राट् अशोक ऐसे अहिंसावादी के राज्य में भी प्राणदण्ड होता था पर जान लेने के तीन दिन पहले अभागे को बता देते थे कि भगवान का जप करके अपना कर्म सँवार लो। महाभारत के शान्ति पर्व में महाराजा द्युमत्सेन तथा पुत्र युवराज सत्यवान या सत्यकेतु का बड़ा रोचक संवाद है। उस संवाद के पढ़ने से ही पता चलता है कि उस पुराने ज़माने में भी लोगों के मन में प्राणदण्ड के प्रति गहरी शंका थी। राजा द्युमत्सेन अपराधियों को एक साथ कटवा डालते थे। सत्यवान ने अपने पिता से स्पष्ट कहा कि मनुष्य का प्राण लेना पाप है। राजा ने प्रश्न किया कि क्या चोर डाकुओं को यों ही छोड़ देना पाप है या दण्ड देना पाप है ! इस पर सत्यवान ने जो उत्तर दिया था वही आज का समाज-शास्त्री कहेगा। उन्होंने कहा था कि "शास्त्र के अनुसार दण्ड देना चाहिए। बिना शरीर को नष्ट किये दण्ड देना चाहिए। अपराधियों की हत्या करने के कार्य में निरपराध भी मारे जाते हैं। एक डकैत का प्राण लेकर उसकी पत्नी, पुत्र, माता पिता सबकी हत्या हो जाती है। यदि अपराधी स्वयं ब्राह्मणों के सामने अपना अपराध स्वीकार कर पुनः सत्पथ पर चलने का वचन दे तो उसे अपने जीवन को सुधारने का अवसर देना चाहिए।

पुराना जमाना चला गया जब आदिम निवासी प्रतिशोध में जान ले लेते थे। आज के ज़माने में बरसों तक मुक़द्दमा चलता है। भय तथा पीड़ा से आदमी का दम घुटता रहता है और फिर उसे फाँसी पर लटका दिया जाता है। जंगली जातियों में भी ऐसा नहीं होता था। तुरन्त फैसला किया। तुरन्त दण्ड दिया। जिसके प्रति अपराध किया गया उसके हवाले कर दिया गया। अबीसीनिया की हेलेगा नामक जंगली जाति में अपराधी का ख़ून निकालकर

[1] Paul Reiwald : *Society and its Criminals*, p. 74.

सब लोग प्याले में पीते थे। फिर उसके माँस के टुकड़े आग पर भूनकर खाते थे।[1] ब्रिटेन के नरेश हेनरी आठवें ने सन् १४९१ से १५४७ तक राज्य किया था। उन्होंने अपने ४८ साल के शासन-काल में ७२,००० अपराधियों को प्राण-दण्ड दिया था।[2] उनके शासन-काल में तथा उनकी लड़की महारानी एलिज़बेथ के शासन-काल में प्राणदण्डित व्यक्तियों को पानी में उबालकर मारते थे। प्राचीन चीन में अपराधी के शरीर के हज़ार टुकड़े करते थे। धीरे-धीरे अथवा डंडे से कूट कूटकर उसे मारते थे। तब प्राचीन जंगली लोगों में और इन सभ्य कहे जाने वाले लोगों में क्या अन्तर है ?

प्राचीन रोम में प्राणदण्ड ने बाक़ायदा त्यौहार का रूप धारण कर लिया था। पिता या अभिभावक की हत्या करने वाले को कपड़े के थैले में एक कुत्ता, एक बिल्ली तथा एक विषैले सर्प के साथ बन्द करके नदी में फेंक देते थे। किस दुर्गति से बिचारे की मौत होती होगी ! भारतवर्ष में जहाँगीर के शासनकाल में हत्यारे को भैंस की ताज़ी खाल का बना चुस्त कपड़ा पहनाकर धूप में फेंक देते थे। ज्यों-ज्यों खाल सिकुड़ती थी, उसका माँस नोचती जाती थी और बिचारा प्यास और वेदना से तड़प तड़पकर मर जाता था। प्राचीन देशों में चीन में प्रथा थी कि अपराधी को पक्षी के पर से गुदगुदाकर हँसा हँसाकर, तड़पा तड़पाकर मार डालते थे। यहूदियों तथा यूनानियों ने ऐसी अनेक यातनामय प्रथाओं को अपना लिया था। प्राणदण्ड एक त्यौहार हो जाता था। ब्रिटेन में आज से दो सौ वर्ष पूर्व खुले आम, सड़क पर फाँसी देते थे। खूब मेला लगता था। उसके बाद जेल के गवर्नर के घर फाँसी देने वाले अधिकारी की दावत होती थी। गवर्नर का काफ़ी पैसा इस दावत में ख़र्च हो जाता था। १९वीं शताब्दि में संयुक्त राज्य अमेरिका में बोस्टन नगर में ग़ुलामी प्रथा के कट्टर विरोधी विलियम लॉयड कैरिसन को नंगा करके, शरीर में अलकतरा पोतकर आम सड़क पर पंख से गुदगुदाकर मारा गया था। मिस्र में ऊँट को बीच में खड़ा कर चाकू से उसके शरीर से एक-एक टुकड़ा माँस काटकर खाने की प्रथा थी। यह बड़ा भारी त्यौहार होता था।

आख़िर यह सब क्या है ? क्या मनुष्य की सद्भावना, उच्च विचार तथा न्याय की भूख का द्योतक है या केवल पाशविक प्रवृत्ति को व्यक्त करता है ? प्राचीन हिब्रू लोग बलात्कार, व्यभिचार, अनुचित निन्दा या कलंक लगाना, माता पिता की हत्या या धर्म के व्रतोपवास को न मानने पर प्राणदण्ड देते थे। रोमन लोग सह-मैथुन, राजद्रोह, स्त्री भगा ले जाना आदि के लिए भी प्राणदण्ड

[1] W. Westermark : *Origin of the Moral Idea*, Macmillan & Co. London, (1906), Vol. I. p. 484.

[2] *Spectator*, London, June 1948, "The Future of Hanging."

देते थे। इंगलैण्ड में १३वीं सदी में बारह आने मूल्य का सामान एक बच्चे द्वारा भी चुराये जाने पर फाँसी पर लटका देते थे। किन्तु प्राचीन एंग्लो सैक्शन क़ानून के अनुसार अर्थदण्ड देकर प्राण बच भी सकता था। जुर्माने की रक़म का एक हिस्सा राजा को मिलता था। क्या इन कठोर नियमों से प्राचीन अल्जीरियन कबायली लोगों का नियम अच्छा नहीं है कि यदि किसी ने अनजाने किसी की हत्या कर दी तो उस मारे गये व्यक्ति के परिवार में सदा के लिए ग़ुलाम बन कर सेवा करें। इंगलैण्ड में १७वीं सदी से १९वीं सदी तक एक नियम यह भी था कि प्राणदण्डित व्यक्ति यदि चाहे तो देश छोड़कर अपने प्राण बचा सकता था। सन् १८३२ के बाद से इंगलैण्ड में एक ही व्यक्ति को राजद्रोह के लिए प्राणदण्ड मिला था। रोगर केसमेंट को राजद्रोह में सन् १९१६ में प्राणदण्ड मिला। प्रथम महायुद्ध का ज़माना था।

इंगलैण्ड में १५वीं सदी में २६० अपराधों पर प्राणदण्ड होते थे। कुछ समय बाद उनकी संख्या १६० हो गयी थी। इन दण्डों में पादरी को उपस्थित रहने की अनुमति नहीं थी। कुछ समय बाद प्राणदण्ड के योग्य अपराधों की संख्या २२२ हो गयी थी। किन्तु अब उस देश में केवल आधे दर्जन अपराधों पर ही प्राणदण्ड मिलता है।[1]

कनाडा में हत्या, राज्यद्रोह, बलात्कार तथा उग्र सामूहिक डकैती पर फाँसी होती है। दक्षिण अफ्रीका में जादूगरी पर भी प्राणदण्ड देते हैं; आस्ट्रेलिया में राजद्रोह तथा हत्या के लिए। किन्तु उसके कुछ प्रदेशों में जैसे न्यूसाउथ वेल्स आदि में बलात्कार पर भी प्राणदण्ड देते हैं। भारतवर्ष में दफ़ा १२१ (राजद्रोह) तथा हत्या (दफ़ा ३०२) आदि के लिए फाँसी की सज़ा देते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले तो २०० अपराधों पर फाँसी होती थी, अब केवल राजद्रोह, बलात्कार तथा हत्या पर फाँसी होती है। पर, अब बलात्कार आदि के विषय में भी धारणाएँ बदल गयी हैं। अब हत्या के सम्बन्ध में भी "इच्छा, भावना तथा नीयत" का विचार होता है।

क्या प्राणदण्ड आवश्यक है ?

प्राणदण्ड का लक्ष्य क्या है ? केवल इतना ही न कि जान लेने वाले की जान ले ली जाय। पर, ग़ैरक़ानूनी या समाज के विरुद्ध ऐसे भयंकर अपराधी का क़ानूनी तौर पर हनन करने से कुछ लाभ भी होता है ? यदि किसी का प्राण लेना इसलिए अपराध है कि मानव जीवन को समाप्त करना माफ़ नहीं किया जा सकता तो क्या सरकार के द्वारा मानव जीवन को समाप्त करना

[1] E. F. Cane : *The Punishment and Prevention of Crime* (1858), p. 18.

अपराध नहीं है ? यदि यह कहा जाय कि हत्या करने वाले को अपने प्राण का भय न रहेगा तो समाज में बड़ा ख़तरा पैदा हो जायगा तो किसी अंश तक यह बात सही भी है। पर ऐसा भय उससे होगा जो हत्या करने का आदतन अपराधी हो, जो ख़ूब सोच समझकर हत्या करता हो। यह बात साबित हो चुकी है कि अधिकांश हत्याएँ क्षणिक आवेश तथा उन्माद के कारण होती हैं। हत्या करने वाले अधिकतम व्यक्तियों से और कोई जुर्म नहीं होता। क्या क्षणिक उन्माद के दोष के लिए किसी का जीवन समाप्त कर देना उचित है ? इस दण्ड से भय के कारण हत्याएँ कम नहीं होतीं, यह भी सिद्ध किया जा चुका है। १९वीं सदी के मध्य में इंगलैण्ड में एक कमीशन बैठा था। उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि दूकानों पर चोरी करने के लिए फाँसी पर लटकाये जाने वाले बालकों में से ९० प्रतिशत ने ऐसे ही अपराधों में प्राणदण्ड पाते हुए लोगों का दृश्य देखा था। दक्षिण अफ्रीका में बीस पच्चीस साल में ६०८ आदमियों को केवल जादूगरी के अपराध में फाँसी की सज़ा दी गयी। पर बाद में इसी जुर्म में आजन्म काला पानी की सज़ा रख दी गयी। क्या जादू टोना इतना भयंकर अपराध है ? स्पष्ट है कि प्राणदण्ड की सज़ा तत्कालीन समाज की हिंसक भावना पर निर्भर करती है। जिस चीज़ को समाज जिस समय जितना बुरा समझता है उसके लिए उतना कठोर दण्ड भी देता है।

इंगलैण्ड में प्राणदण्ड

इंगलैण्ड में सन् १९०० से १९४६ के बीच में १२१० व्यक्तियों को फाँसी की सज़ा सुनायी गयी थी। इनमें से ८३६ पर उत्तेजना में आकर प्राण लेने का अपराध था। सन् १९४० से १९४९ के भीतर १,६६० व्यक्तियों को प्राणदण्ड सुनाया गया पर फाँसी पर लटकाये गये १२७ व्यक्ति। हर साल ग्रेट ब्रिटेन में औसतन १७० हत्याएँ होती हैं पर फाँसी पर लटकते हैं २३ व्यक्ति। आजकल उस देश में प्राणदण्डितों में से केवल १३ प्रतिशत फाँसी पर लटकाये जाते हैं। क्या यह बात इसका प्रमाण नहीं है कि सरकार स्वयं सोचती है कि क़ानून ने गुनाह साबित कर दिया पर कौन जाने आदमी बेगुनाह हो। सरकार को क़ानून पर भरोसा होता तो अदालत से दी गयी सज़ा से छेड़-छाड़ क्यों करती ! इंगलैण्ड में एक फाँसी लगाने पर लगभग डेढ़ सो रुपया खर्च पड़ता है। जल्लाद का सफ़र भत्ता वग़ैरह ही इतना हो जाता है। फिर फाँसी घर, रस्सी आदि के रख-रखाव पर अलग से ख़र्च पड़ता है। यदि फाँसी पर हर साल २३ व्यक्तियों को न लटकाकर उनको जेल में काम पर लगा दिया जाय तो राष्ट्र का भला होगा। ख़र्च भी बचेगा। फाँसी का तख़्ता तो मानव की जायज़ बर्बरता का प्रतीक है, चिह्न है। मनुष्य के लिए सबसे अधिक कलंकमय प्रतीक है।

किन्तु ऐसी बातें हमारे उच्च पदस्थ लोगों को तभी तक याद रहती हैं जब तक वे ऊँचे आसन पर नहीं पहुँचते । उसके बाद तो उनका सिद्धान्त ही बदल जाता है । सन् १९४८ में मेजर लॉयड जार्ज इंगलैण्ड में फाँसी प्रथा के विरुद्ध उग्र वक्ता थे । जब कुछ साल बाद वे ब्रिटेन के गृहमन्त्री हो गये तो उन्हें यह सब कुछ भूल गया और उन्होंने अपने देश की लोकसभा में स्पष्ट कह दिया : "सार्वजनिक हित की दृष्टि से इस प्रथा को समाप्त नहीं किया जा सकता ।"

सन् १९३८ में इंगलैण्ड में इस प्रथा के सम्बन्ध में "गैलक पॉल" की रीति से मतगणना की गयी थी । पचास फ़ीसदी लोगों ने प्राणदण्ड के विरुद्ध मत दिया । शेष में से कुछ ने समर्थन किया और कुछ ने कहा—"हमें नहीं मालूम ।" सन् १९४८ में ऐसी ही मतगणना फिर की गयी तो ५८ प्रतिशत ने फाँसी के पक्ष में मत दिया । सन् १९५५ के जुलाई महीने में इंगलैण्ड के अनुदार दल के मुख पत्र "डेली मिरर" ने ऐसी ही गणना करायी तो ६८ प्रतिशत ने फाँसी के विरुद्ध मत दिया । अतएव जनता की प्रवृत्ति इस क्रूर दण्ड को समाप्त करने के पक्ष में होती जा रही है ।

इंगलैण्ड ने इस सम्बन्ध में बड़ी छानबीन की है । आँकड़ों से पता चलता है कि ब्रिटेन में जिसे भी प्राणदण्ड की सज़ा के बदले में आजन्म क़ैद की सज़ा दे दी जाती है । ऐसा बन्दी जेल में अपने अच्छे आचरण, अच्छे कार्य के कारण १४ साल में छोड़ दिया जाता है । इनमें एक भी ऐसा न निकला जिसकी अवधि बढ़ानी पड़ी हो । सन् १९२८-४८ के बीस साल में जिन १७४ व्यक्तियों पर हत्या का अभियोग लगा था उनमें से ११२ अदालत से ही छूट गये थे । उनमें से केवल एक व्यक्ति दोबारा हत्या करने के अपराध में पकड़ा गया था । शेष ने छूटने के बाद कोई बुरा काम नहीं किया । जिस एक व्यक्ति को दोबारा हत्या के अपराध में पकड़कर फाँसी पर लटकाया गया था उसका नाम था वाल्टर ग्राहम रोलैण्ड और उस अभागे का मामला संसार में प्रसिद्ध हो गया है । रोलैण्ड के फाँसी पर लटक जाने के बाद यह पता चला कि वह निर्दोष है, उस पर ग़लती से अपराध लग गया था । पर, ग़लती जिसकी भी हो, वह तो संसार से चला गया । जिस व्यक्ति ने उस मामले में अपना अपराध बाद में स्वीकार किया था उसे पागलखाना भेज दिया गया । और करते भी क्या ? एक ही हत्या पर दो बार फाँसी कैसे देते !

इंगलैण्ड और वेल्स में सन् १९३४-४८ के बीच में १२९ व्यक्ति आजन्म कारावास की सज़ा भोगकर बाहर निकले थे । स्त्रियों की संख्या २७ थी । उनमें से ११२ पुरुष तथा १९ स्त्रियाँ छूटने के बाद ही स्वस्थ नागरिक जीवन बिताने लगीं । केवल चार के बारे में रिपोर्ट नहीं मिली । सम्भवतः उन्होंने उत्तर-रक्षा संगठन से सहायता न ली हो ।

अधिकांश तथाकथित हत्यारे बुरे व्यक्ति भी नहीं होते। ग्रेट ब्रिटेन की सुप्रीम कोर्ट के मास्टर (रजिस्ट्रार) सर जॉन मेक्डोनेल ने सन् १८८६ से १६०५ तक के आँकड़े इकट्ठा करके यह जानकारी प्राप्त की थी कि ६० प्रतिशत हत्यारे पुरुष थे। जिनकी हत्या की गयी उनमें से दो तिहाई पत्नियाँ, रखेलियाँ या प्रेयसी थीं। ३० प्रतिशत हत्याएँ ज़रूरत से ज़्यादा शराब पी लेने पर या गहरा झगड़ा हो जाने के कारण की गयी थीं। ४० प्रतिशत काम-वासना से या डाह के कारण हुई थीं। केवल १० प्रतिशत हत्याएँ आर्थिक कारण से सम्बन्धित थीं। ग्रेट ब्रिटेन में सैकड़ों साल से होने वाली हत्याओं की काफ़ी छानबीन करने पर यह मालूम हुआ है कि ज़्यादातर हत्याएँ शनिवार को आठ बजे शाम से लेकर २ बजे रात्रि के बीच में होती हैं। वहाँ शनिवार मस्ती का दिन होता है। रात्रि का वही समय कामुक वासना का समय होता है। अतएव प्राणदण्ड की प्रथा से कामुक वासना या आवेश या उत्तेजना कम हो जायगी, यह सोचना भूल है।

डर नहीं पैदा होता

काम-वासना भय से नहीं कम होती। यह तो समाज की स्थिति के साथ घटती-बढ़ती रहती है। ब्रिस्टल नगर के जेल के पादरी ने सन् १८४८ में तत्कालीन शाही कमीशन के सामने अपनी गवाही में कहा था कि उनके कार्य-काल में उस जेल में जिन १६७ व्यक्तियों पर हत्या का अपराध लगा था उनमें से १६४ ऐसे व्यक्ति थे जो पहले फाँसी का दृश्य देख चुके थे। इसलिए भय पैदा होने की बात कहाँ रही? कोई दवा यदि कुछ मरीज़ों पर काम न करे तो दवा का दोष नहीं साबित होता। देखना यह होगा कि वह कितनों पर सफल रही। अतएव फाँसी की सज़ा समाप्त करने की दवा की सफलता को आँकना चाहिए। सन् १६४८ में ब्रिटेन के शाही कमीशन ने भी स्वीकार किया था कि जिन देशों में फाँसी की प्रथा समाप्त कर दी गयी है, वहाँ पर हत्याओं की संख्या बढ़ी नहीं है। जिन देशों ने फाँसी की सज़ा समाप्त कर दी, उनके नाम नीचे दिये जाते हैं—

देश	फाँसी की सज़ा समाप्त होने का वर्ष
१. आस्ट्रिया	सन् १६१६—हिटलर ने सन् १६३७ में पुनः चालू कर दिया पर १६५० में पुनः समाप्त।
२. बेल्जियम	१८६३
३. डेनमार्क	१६३३—पर १८६२ से किसी को फाँसी नहीं हुई है
४. फिनलैण्ड	१६२६
५. आइसलैण्ड	१६४४

६. दि नीदरलैण्ड्स	१८७०
७. नार्वे	१६०५
८. पुर्तगाल	१८६७
६. स्वीडन	१६२१
१०. स्विटज़रलैण्ड	१८७४ में—फिर चालू—१६४२ में पुनः समाप्त
११. तुर्किस्तान	१६५०
१२. पश्चिमी जर्मनी	१६४६
१३. अर्जेन्टाइना	१६२२
१४. कॉस्टा रिका	१८८०
१५. डोमिनिका	१६२४
१६. इक्वेडार	१८६५
१७. मेक्सिको	१६२६
१८. निकारागुआ	१८६३
१६. पनामा	१६०३
२०. पेरू	१८६८
२१. न्यू गनी	१८०७
२२. वेनेज़ुएला	१८७३
२३. मिचिगन (संयुक्त राज्य अमे०)	१८४७
२४. रोड्स टापू (,,)	१८५२
२५. विसकौंसिन (संयुक्त राज्य अमे०)	१६५३
२६. मिनिसोता (,,)	१६११
२७. नार्थ दकोता (संयुक्त राज्य अमेरिका)	१६१५
२८. क्वींसलैण्ड (आस्ट्रेलिया)	१६१३
२६. नेपाल	१६३१

काँसे का युग यानी जब लोग काँसे का सामान इस्तेमाल करते थे, उस ज़माने में इज़राइल देश में नियम था कि ख़ून का बदला ख़ून होगा। किन्तु, ऐसे देश ने भी अपनी परिपाटी छोड़ दी है। पुराने ज़माने में ईसाई समाज भी इस प्रथा के विरुद्ध था। रोमन सम्राट् आगस्तीन ने अपने मित्र मार्सेलस से अनुरोध किया था कि ईसाइयों की हत्या करने के अपराधियों को प्राणदण्ड न दें क्योंकि "हम नहीं चाहते कि जिन्होंने ईश्वर के सेवकों को पीड़ा पहुँचायी है उन पर प्रतिशोध में वही पीड़ा पहुँचायी जाय।" प्राचीन ईसाइयों का मत था कि हत्या करने

वाले भ्रमित लोग हैं। विवेक शून्य हैं। ईस्वी सन् १८०० में ब्रिटिश नरेश जार्ज तृतीय का प्राण लेने की चेष्टा जेम्स हैटफील्ड ने की। उनको इस बुनियाद पर छोड़ दिया गया था कि उन्हें "यह बुद्धि विभ्रम हो गया था कि नरेश को मार कर पृथ्वी को बन्धन मुक्त किया जा सकता है।" लार्ड अर्स्काइन ने "बुद्धि विभ्रम" पर ही ऐसी लाजवाब दलील दी थी कि वे मुक़द्दमा जीत गये। सन् १८४३ में मनॉटन नामक एक ख़ब्ती आदमी था। उसे यह विभ्रम हो गया था कि ईसाइयों के सबसे बड़े धर्म गुरु पोप और ब्रिटेन की टोरी पार्टी यानी अनुदार दल उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है। उसने टोरी पार्टी के मुख्य कार्यकर्ता तथा मन्त्रिमण्डल के विदेश सचिव सर राबर्ट पील पर २० जनवरी १८४३ में चार बजे शाम को गोली चला दी। गोली उनके सेक्रेटरी मि० ड्रमण्ड को लगी। अभियुक्त को प्राणदण्ड नहीं हुआ। उस समय विचारपति ने सज़ा सुनाते हुए यह भी कहा था कि दुर्बल बुद्धि या विभ्रम बुद्धि नाम की कोई चीज़ नहीं होती। पर आज का क़ानून इस बात के महत्व को समझता है। आज यह कहा जाता है कि हरेक जीवन पर उसके वंश, वातावरण आदि का प्रभाव पड़ता है—चाहे काम वासना का विकट रोगी क्यों न हो। जान ले लेने से समाज का रोग कम न होगा। समाज की रक्षा न होगी।

इंगलैण्ड में सैमुएल रोमेली ने सन् १८०७ से प्राणदण्ड के विरोध में आन्दोलन शुरू किया था। रैली कहते थे कि "मृत्यु की यह मशीन बर्बरता, भय, निर्दयता तथा जीवन के प्रति घोर अपमान है।" उस समय इंगलैण्ड के प्रधान विचारपति लार्ड ऐलेनबोरो थे। वे महोदय रोमेली के कट्टर शत्रु थे। रोमेली अपने जीवन के संकल्प में असफल रहे। उन्होंने सन् १८३२ में आत्म-हत्या कर ली। उनके मरने के ठीक दो साल बाद इंगलैण्ड में छोटी-मोटी हत्याओं पर प्राणदण्ड देने के विरुद्ध पार्लियामेन्ट में सर्वसम्मत प्रस्ताव पास हुआ था। पर, इसमें रोमिली का ही श्रेय नहीं है। दूकान या बैंक से चोरी करने वालों को फाँसी होती थी। पर दूकानदारों और बैंकों ने स्वयं सरकार से अपील की थी कि चोरी पर इतनी कठोर सज़ा होने के कारण लोग अपराधी को पकड़ने में भी सहायता नहीं देते हैं। फल यह होता है कि चोर-लफंगों की तादाद बढ़ गयी है। रक्षा के स्थान पर अरक्षा होने लगी है। अतएव इस सज़ा को समाप्त किया जाय। इंगलैण्ड में डॉड नामक एक व्यक्ति की कथा प्रसिद्ध है। डॉड पर जालसाज़ी का मुक़द्दमा चला। जिस अदालती पंच ने उसको फाँसी की सज़ा देने पर ज़ोर दिया था तथा जिसके कारण उसे फाँसी हुई थी वही महाशय कुछ समय बाद जालसाज़ी में पकड़े गये और फाँसी पर लटका दिये गये। उस पंच ने प्राणदण्ड के पक्ष में जो दलीलें दी थीं प्रायः वैसी ही

दलीलें सन् १९४८ में फाँसी की सज़ा पर विचार करने वाले शाही कमीशन के सामने प्रधान विचारपति गोडार्ड ने पेश की थीं।

इंगलैण्ड के लोग परम्परा तथा परिपाटी के बड़े पुजारी हैं। शायद इसीलिए उनमें ऐसे लोग पैदा होते हैं जो पुरानी परिपाटी नहीं छोड़ना चाहते। पुराने ज़माने में वहाँ किसी का फाँसी पड़ना एक त्यौहार की तरह मनाया जाता था। बीच सड़क पर फाँसी होती थी। उस समय सभी दर्शकों के नेत्रों में ख़ून का नशा उतर आता था। वे आनन्द से उन्मत्त हो जाते थे। सन् १८०७ में एक फाँसी के बाद देखा गया कि उन्मत्त जनता के उपद्रव से सौ से ऊपर व्यक्तियों के प्राण चले गये थे। लन्दन के 'टाइम्स' नामक दैनिक में सन् १८६४ में एक समाचार छपा था। श्रूसबरी में एक फाँसी देखने के लिए लोग अपने अपने घरों से, दूर दूर से बढ़िया से बढ़िया कपड़ा पहनकर आये थे। न्यूगेट जेल के गवर्नर को फाँसी से इसलिए नफ़रत थी कि फाँसी के बाद उपस्थित सरकारी अधिकारियों को बढ़िया दावत देनी पड़ती थी। उस ज़माने में फाँसी के बाद जब मुर्दा नीचे चला जाता था, फाँसी की रस्सी चूमने के लिए माताएँ दौड़ पड़ती थीं। उस रस्सी को वे अपने बच्चों के मस्तक से लगाती थीं। उनका ऐसा विश्वास था कि ऐसा करने से उनके बच्चे को कोई बीमारी न लगेगी। वह दीर्घायु होगा। किन्तु, ऐसे दक़ियानूसी इंगलैण्ड में भी धारणाएँ बदलीं। उन्होंने समझा कि दण्ड के भय से अपराध कम नहीं होते। जब किसी बच्चे या बड़े को जेब काटने के अपराध में फाँसी पर लटकाया जाता था उस समय ही सबसे ज़्यादा जेबकटी होती थी। फाँसी देने वाले ज़ल्लाद को भी नसीहत नहीं मिलती थी। जॉन प्राइस नामक एक प्रसिद्ध ज़ल्लाद एक व्यक्ति को फाँसी पर लटकाने के समय ही उसी "नीच कर्म" के अपराध में पकड़ा गया और उसे फाँसी हुई।

१९वीं सदी से ग्रेट ब्रिटेन में खुले आम फाँसी देना बन्द हुआ। जेलों के भीतर एकान्त में फाँसी होने लगी। इससे फाँसी के विरोधियों को सन्तोष नहीं हुआ। वे कहने लगे कि हम बराबर समझाते आ रहे हैं कि अपराध की कठोरता से अपराध कम नहीं होता बल्कि कठोरता के कारण दण्ड देना भी कठिन हो जाता है। प्रसिद्ध कवि कीट्स ने लिखा था कि नीयत को देखो, अपराध की गुरुता पर मत जाओ। उपन्यास जगत में प्रसिद्ध चार्ल्स डिकेंस ने भी लिखा है कि "काम को मत देखो, नीयत को देखो।" लेखक पैली ने भी लिखा था कि काम से अधिक महत्व है काम के पीछे नीयत का। "ग्रेट ब्रिटेन को खुले आम में अनाचार करने में शर्म आने लगी इसलिए उसने अपनी लाज बचाने के लिए एकान्त में पाप करना शुरू किया है।"

अनाचार की बात तो है ही। यदि हम प्राचीन भावना यानी प्रतिशोध के

अब भी शिकार हैं तो हम अपने को सभ्य क्यों कहते हैं ? आदमी फाँसी से नफ़रत भी करता है और उसकी ओर पैशाचिक मनोवेग से खिंचता भी आता है। अगर लोगों को पता चले कि अमुक जेल में अमुक को फाँसी होगी, भीड़ वहाँ पहुँच जायगी। यदि किसी कारण वश फाँसी टल गयी तो भीड़ को यह प्रसन्नता न होगी कि चलो, बिचारे की जान बची। घटना के न घटने से उसे बड़ी निराशा होगी। यह तर्क भूठा है कि लोग इसलिए फाँसी रखना चाहते हैं कि समाज की रक्षा हो। सड़क पर रोज़ मोटरों के नीचे दबकर लोग मरते हैं। उनके लिए क्या बचाव है ? सन् १९४६ में इंगलैण्ड में १५० हत्याएँ हुईं और ५,०६२ व्यक्ति मोटरों के नीचे दबकर मरे। कौन अधिक हत्यारा है ? मनुष्य या मोटर !

प्राणदण्ड की पुनः स्थापना

कुछ वर्ष पूर्व न्यूज़ीलैण्ड के अनुदार दल की सरकार ने पिछले चौदह वर्ष के क़ानून को रद्द कर प्राणदण्ड की प्रथा पुनः चालू कर दी। दलील यह दी गयी कि प्राणदण्ड हट जाने से उस देश में हत्याएँ बढ़ गयी हैं। न्यूजीलैण्ड की दण्ड-सुधार-समिति के मन्त्री जे० एस० बार्नेज ने इसे सफ़ेद भूठ साबित किया था। उनका कथन था कि प्राणदण्ड की सज़ा के हट जाने पर उस देश में हत्याओं की संख्या में २५ फीसदी कमी हो गयी थी। सन् १९३६ के पहले उस देश में फ़ी दस लाख व्यक्ति पीछे १६·५ हत्याएँ होती थीं। सन् १९३६ से १९४८ के बीच में उस देश में प्राणदण्ड की प्रथा नहीं थी। तब हत्या का औसत १०·५ हो गया था। सन् १९४८ के बाद प्राणदण्ड फिर लागू हो गया। तब से हत्या का औसत फ़ी दस लाख व्यक्ति पीछे २० हो गया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में फ़ी एक घण्टे में एक हत्या होती है। सन् १९६१ में ३,००८ हत्याएँ हुईं। यह संख्या केवल जानबूझकर की गयी हत्याओं की है। स्विट्जरलैण्ड में हत्या की सज़ा के समय फ़ी दस लाख व्यक्ति पीछे २६३ हत्याएँ होती थीं। प्राणदण्ड समाप्त होने पर यह औसत ·१६३ रह गया। नार्वे में यह औसत घटकर ·१६० से ·३६ हो गया। स्वीडन में ·०५८ से घटकर प्राणदण्ड की समाप्ति पर ·०३६ हो गया। डेनमार्क में ·०४० से ·०२३ रह गया। जिन देशों ने प्राणदण्ड समाप्त किया वहाँ हत्याएँ पचास प्रतिशत ही रह गयीं। इसके विपरीत जिन देशों में फाँसी (इंगलैण्ड), गला काटना (फ्रांस), विजली की कुर्सी पर बिठाना (संयुक्त राज्य अमेरिका) आदि फाँसी देने के भिन्न तरीक़े प्रचलित हैं, वहाँ हत्याओं में वृद्धि हुई है।

मानसिक रोगी और मनॉटन का मामला

यदि अपराध एक रोग है तो उनका क्या किया जांय जो असामाजिकता

तथा अपराध दोनों रोगों से पीड़ित हैं। सन् १८३५ में लार्ड हेल ने इस प्रश्न को उठाया था। उन्होंने पूछा था कि "मानसिक उदासी के कारण जिनका स्वभाव ख़राब हो गया हो उनमें साधारणतः इनकी बुद्धिमत्ता ज़रूर होती है जितना एक चौदह वर्ष के लड़के में। क्या ऐसे आदमी को नीच कर्म के लिए दण्ड मिलना चाहिए?"[1] लार्ड हेल ऐसे मानसिक रोगी को भी दण्ड देने के पक्ष में थे। पर उनका जवाब डा० इज़ाक रे ने सन् १८३८ में अपने एक चिकित्सकीय निदान में दिया था।[2] उन्होंने दलील दी थी कि मन के रोगी के बारे में पहले काफ़ी जानकारी नहीं थी। जिस समय प्राणदण्ड के क़ानून या नियम बने थे लोगों को मन की स्थिति के महत्व के बारे में मालूम नहीं था। अतएव अब उसे महत्व देना ही होगा।

ऊपर हम मनॉटन की कथा बतला आये हैं। जब उस पर हत्या का मुकद्दमा चला। इंगलैण्ड के प्रधान सरकारी वकील ने तर्क किया था कि "कोई नहीं चाहता कि पागल को दण्ड दिया जाय पर जनता की रक्षा के लिए आवश्यक है कि इस दलील को आसानी से ग्रहण न किया जाय।"

क़ानूनदां लोगों के लिए मनॉटन का मामला बड़े महत्व का है। अभियुक्त की ओर से मि० काकबर्न ने बहस की थी। उन्होंने कहा था कि लार्ड हेल और लार्ड कोक की दलीलों का खण्डन डा० इज़ाक रे के विद्वत्तापूर्ण तर्कों से ही हो गया है। डा० रे ने साबित किया था कि बहुत से पागल या सनकी लोगों में हर प्रकार का उन्माद नहीं रहता। किसी एक बात को, चाहे वह कितनी ही असम्भव क्यों न हो, वे पकड़ लेते हैं और उनका बुद्धि-विभ्रम उसी बात में केन्द्रीभूत हो जाता है।

पागलपन किसे कहते हैं? काकबर्न ने कहा था कि इस सम्बन्ध में जानकारी अभी नयी है। प्रधान सरकारी वकील सर विलियम फ़ालेट ने मनॉटन के विरुद्ध तर्क करते हुए कहा था कि यदि अभियुक्त में ऐसा उन्माद हो कि उसे किसी प्रकार ज्ञान ही न रह जाय तो उसे क्षमाकर दिया जाता है। काकबर्न ने इस सम्बन्ध में सम्राट् जार्ज तृतीय की हत्या की चेष्टा करने वाले हैटफ़ील्ड के मुक़द्दमे का जिक्र करते हुए उसकी तरफ़ से सफ़ाई के वकील लार्ड अर्स्काइन की दलील उद्धृत की थी—

"यदि किसी व्यक्ति को दण्ड से बचाने के लिए यह साबित करना ज़रूरी है कि उसकी बुद्धि इतनी विभ्रमित है कि उसे अपना नाम, ग्राम भी नहीं याद

१ Lord Hale : *Pleas of the Crown* (1835).
२ Issac Ray : *A Treatise on the Medical Jurisprudence* (1835).

है और वह अपनी स्थिति से बिलकुल ही अनभिज्ञ है तो इस प्रकार का पागल-पन संसार में कभी नहीं था और न होगा।"

उस समय प्रधान विचारपति टिंडल साहब ने जूरी पंचों से पूछा तो सबने सर्वसम्मति से कहा कि "अभियुक्त पागल है। अतएव निर्दोष है।"

अवैधानिक परम्परा

मनॉटन को दण्ड नहीं मिला। मुख्य न्यायाधीश ने उन्माद के सम्बन्ध में जो व्याख्या की थी, उसी के अनुसार पचास साल तक संसार के सभ्य देशों में, जहाँ भी कहीं प्रजातन्त्रीय शासन था, उन्माद की व्याख्या होती रही। किन्तु, विज्ञान तथा मनोविज्ञान की प्रगति ने इस व्याख्या को दोषपूर्ण तथा अनुचित सिद्ध कर दिया है। मनोविज्ञान का कहना है कि मन इतनी साधारण वस्तु नहीं है कि उसकी पृथक् इकाइयाँ की जा सकें। उसके एक कोठे में और बात और दूसरे कोठे में और बात नहीं हुआ करती। समूची परिस्थिति तथा वातावरण या रोग का व्यापक प्रभाव पड़ता है। मनोविकृति में कौन पहलू कब प्रबल होगा, यह भी कहना कठिन ही नहीं, असम्भव सा है। शेल्डन ग्लूक ने ३० वर्ष पहले इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में यह साबित किया था कि अपराध के कार्य के गुण-दोष या गुरुता लघुता को केवल क्षणिक उन्माद या तत्कालीन उन्माद या बदहोशी से नहीं जाना पहचाना जा सकता। मानसिक जीवन में इच्छा का बड़ा भारी स्थान है। ज्ञान और जानकारी भी आचार व्यवहार पर बड़ा प्रभाव डालते हैं। मानव की बुद्धि विभ्रमित होते हुए भी उसे उचित तथा अनुचित का ज्ञान हो सकता है। किसी की जान लेना गुरुतर अपराध है। यह जानते हुए भी यदि किसी के मन में पैठ जाय कि अमुक व्यक्ति को समाज से समाप्त कर देने की दैवी आज्ञा उसे मिली है, तब हम क्या कहेंगे? उसे अपराधी माना जायगा या नहीं। डा० इज़ाक रे ने सन् १८३८ में ही कह दिया था कि "उचित-अनुचित" का सिद्धान्त ही ग़लत है।

शेल्डन ग्लूक ने भी इस बात का तीव्र खण्डन किया है कि मानसिक रोगियों को अपने कार्य का ज़िम्मेदार इसीलिए समझा जाय कि वे उचित-अनुचित को समझते हैं। उन्होंने एक अच्छा उदाहरण दिया है। पागलखाने में थोड़े से कर्मचारी सैकड़ों पागलों का नियन्त्रण करते हैं—केवल इसलिए कि पागल पिटने के डर से सँभाल कर काम करता है। तब तो उसे पागल नहीं कहना चाहिए क्योंकि पागलखाने के नियमों की उसे उचित जानकारी है। वास्तव में मानसिक रोग बिना कारण के नहीं होता। इंगलैण्ड में क्रायडन के पागलखाने या पागलों के अस्पताल के सुपरिन्टेन्डेन्ट डा० पार्सनीज़ ने लिखा है कि हरेक पागल के मानसिक रोग का मूलतः एक कारण होता है—"अकेलापन"। जो

व्यक्ति अपने परिवार, कुटुम्ब तथा समाज के साथ सन्तोषजनक रीति से नहीं रह पाता वह अपने मन को अपने भीतर ही मोड़ लेता है। तब वह अकेला रह जाता है और इस सूनेपन के कारण उसके मन में उन्माद होना स्वाभाविक है।

डरहम का मामला

न्यायशास्त्र की दृष्टि से पागलपन और ग़ैर ज़िम्मेदाराना व्यवहार की सबसे अच्छी व्याख्या कुछ ही वर्ष पूर्व डरहम केस में हुई है। सन् १९५४ में संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलम्बिया प्रदेश के न्यूहैम्पशायर की आठवीं दौरा अदालत ने[१] अभियुक्त डरहम को पागल समझकर पागलखाने के हवाले किया और यह कहा था कि वह तब तक पागलखाने में रखा जाय जब तक समाज की रक्षा के लिए आवश्यक हो। उसके वहाँ बन्द रहने से राज्य का यह मन्तव्य भी पूरा हो जायगा कि समाज की रक्षा के लिए हत्यारे को समाज से हटा देना, यानी समाप्त कर देना आवश्यक है। विचारपति बैंज़ेलोन ने फैसला देते हुए कहा था कि "जिस व्यक्ति का अवैध कार्य उसके मानसिक रोग तथा दोष के कारण हो, उस पर अपराध का उत्तरदायित्व नहीं हो सकता······हमारी पश्चिमी सभ्यता की यह परिपाटी है कि हम उसी को दण्ड देते हैं जो स्वेच्छया तथा दुर्भावना से ऐसे कार्य करते हैं जो नियम के विरुद्ध हैं। पर हमारी परिपाटी के अनुसार हम उसे उत्तरदायी नहीं समझते जो मानसिक रोग या दोष के कारण वही कार्य करता है। ऐसी दशा में उस पर कोई नैतिक लांछन नहीं आता।"

इस निर्णय का समर्थन करते हुए शेल्डन ग्लूक ने लिखा है कि आज मन की गूढ़तम तथा गुह्यतम गुत्थियों की जानकारी हो जाने के बाद यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि यदि मानसिक रोग के होते हुए भी अदालत के सामने यह साबित न किया जा सके कि अभियुक्त को मानसिक रोग है और उसे सज़ा दे दी जाय तो यह बड़ी अनुचित बात होगी।[२]

किन्तु, ऐसा ही अनुचित निर्णय उसी देश की नवीं अदालत ने किया था।[3] उसने डरहम के मुक़द्दमे में निर्धारित सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए कहा था कि हम मनॉटन के समय के सिद्धान्त को मानते हैं।

दण्ड देने की समस्या

यह युग-युगान्तर से होता चला आया है कि विचारपतियों का दृष्टिकोण भिन्न होता है। सन् १८१० में सैमुएल रोमेली ने कहा था कि यह प्रायः होता

१ U. S. Court of Appeals, VIIIth Circuit.

२ Sheldon Glueck : *Mental Disorder and Criminal Law.*

3 U S. Court of Appeals, IXth Circuit.

है कि एक ही परिस्थिति में की गयी एक प्रकार की करतूत को एक विचार-पति दूसरी दृष्टि से देखता है और दूसरा विचारपति भिन्न दृष्टि से देखता है। सर हेनरी हॉकिन्स ने भी चिन्ता प्रकट की है कि अदालत के फ़ैसलों में इतनी विभिन्नता है कि स्पष्ट है कि जरायम का मुक़द्दमा करने वालों में बड़ा मतभेद है। इटली के प्रोफ़ेसर एनरिक फ़ेरी ने अपने देश को इस प्रकार के मत वैभिन्य से बचाने के लिए एक आदर्श दण्डविधान का मसविदा तैयार किया था। उस विधान में उन्होंने यह चेष्टा की थी कि हरेक व्यक्ति को अधिकार रहे कि जैसी सज़ा किसी अपराध में एक व्यक्ति को मिले, वैसी ही सबको मिले। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी क़ानूनदां लोग ऐसा ही आदर्श दण्डविधान तैयार कर रहे हैं। अमेरिकन लॉ इंस्टीट्यूट का यह कार्य अभी तक पूरा नहीं हुआ है। सन् १६३० में शेलडन ग्लूक ने अपनी पत्नी एलीनर के सहयोग से ५०० अपराधियों के चरित्र की[1] मीमांसा करके यह साबित किया है कि किस प्रकार एक ही प्रकार के अपराध तथा एक ही परिस्थिति में किये गये अपराध के अपराधियों में समानता होती है। अतएव इनके दण्ड में भी समानता होनी चाहिए। ग्लूक पति-पत्नी ने यह भी साबित कर दिया था कि उन ५०० अपराधियों में ७५ प्रतिशत को कोई मानसिक रोग नहीं था पर ८७ प्रतिशत मनोविकृति के शिकार ज़रूर थे।

अपराध की व्याख्या करना कठिन है। फिर मनोविकृति की व्याख्या करना और भी कठिन है। क्रेसी ने यहाँ तक लिख दिया है कि सभी बच्चे अपराधी होते हैं। डा० मार्शल क्लिनार्ड ने कहा है कि जीवन के प्रवाह में एक आदमी अपराध की ओर बह जाता है। दूसरा संयत जीवन की ओर चला जाता है। यह स्वेच्छया नहीं होता, अनायास भी हो जाता है। डा० क्लिनार्ड ने बारबार कहा है कि अपराधी कार्य मानवीय है। न तो अप्राकृतिक है और न अमानवीय है। एक अमेरिकन खोज से सिद्ध हुआ है कि बड़े ज़िद्दी स्वभाव के ८८ प्रतिशत लोग अपराधी होते हैं और जिनकी परीक्षा की गयी उनमें ३६ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे निकले जो सरल तथा संयत स्वभाव के थे।

कौन जानता है कि वास्तव में उसका स्वभाव कैसा है, कब उबल पड़ेगा। कब क्या होकर रहेगा ? उत्तेजना तो हरेक के जीवन में होती है। शान्त से शान्त व्यक्ति भी उत्तेजित हो सकता है। तब मानसिक रोगी और विकृतमना का उत्तेजित हो जाना तो और भी सम्भव है। ऐसी दशा में उसके प्राण न लेकर पागलखाने भेजने में ही मानवता का अधिक कल्याण है।

यूनाइटेड किंगडम—ग्रेट ब्रिटेन का पागलपन सम्बन्धी एक क़ानून

[1] Sheldon Glueck, Eleaner Glueck : *500 Criminals Cases* (1930).

सन् १६१३ का है ।[१] उस कानून के अनुसार निम्नलिखित व्यक्तियों को मानसिक रोगी माना गया है :

१. **जड़**—जन्मना मानसिक रोगी, वे अपने शरीर की भी रक्षा नहीं कर सकते ।

२. **अशक्त**—जन्मना या बचपन से मानसिक रोगी—पर वे जड़ नहीं होते । फिर भी अपने को सँभाल नहीं पाते ।

३. **दुर्बल-मना**—न तो जड़ हैं, न मूर्ख हैं । पर इतने रोगी अवश्य हैं कि उनकी रक्षा करनी पड़ती है । उनको सँभालना पड़ता है ।

४. **नैतिक अशक्यता**—बचपन से ही उनमें स्थायी मानसिक रोग के लक्षण पैदा हो जाते हैं । स्वभाव दुष्ट हो जाता है और अपराधी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है ।

किन्तु, 'नैतिक अशक्यता' एक बहाना-सा हो गया है । इस प्रकार की कमज़ोरी को प्रकट करना एक फ़ैशन में शामिल है । जो लोग मनोविज्ञान के विद्यार्थी हैं तथा मन की गति को समझते हैं उनका कहना है कि नैतिक अशक्यता कोई भिन्न तथा पृथक् रोग नहीं है । मन के रोग से भिन्न पहलू पैदा होते हैं जो चित्त को न जाने किस मार्ग पर उतार देते हैं ।[२] अतएव ऊपर जो चार श्रेणियाँ दी गयी हैं वे वास्तव में एक ही वृक्ष की शाखाएँ हैं और अन्ततोगत्वा एक ही हैं । मानसिक रोग की समीक्षा या जाँच केवल क़ानून के पन्ने पढ़कर नहीं हो सकती । इसके लिए मनोविज्ञान की जानकारी होनी चाहिए ।

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की लोक सभा में जब यह सवाल पेश हुआ कि प्राण-दण्ड की प्रथा समाप्त की जाय अथवा नहीं, दो सदस्यों ने समाप्त करने का घोर समर्थन किया था । आर० टी० पेगेट और एस० एस० सिलवरमान ने कहा था कि "बाद में जो बातें मालूम हुई हैं, उनके आधार पर उस अपराधी को छूट जाना चाहिए था पर अब वह कहाँ से छूटेगा । वह तो मर गया है । इस दण्ड की यह सबसे बड़ी ख़राबी है कि एक बार जो सज़ा दे दी गयी वह फिर वापस नहीं ली जा सकती । उसका अन्तिम रूप ही उसकी सबसे बड़ी खराबी है ।" ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्य क्रिस्टोफर होम्स ने ६ अगस्त, १६५३ में लिखा था कि जितनी जल्दी प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त हो जाय उतना ही अच्छा होगा । सन् १६५० में लार्ड टेम्पुलउड ने लिखा था कि इस सज़ा को समाप्त कर देने से कभी भी न तो हानि हुई है और न होगी ।

[१] Mental Deficiency Act, 1913.

[२] Dr. Hamblin Smith : *Psychology of the Criminal* (1922), pp. 153-155.

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्राणदण्ड

संयुक्त राज्य अमेरिका में ४२ प्रदेश हैं तथा केन्द्रीय सरकार है। वहाँ २० प्रदेशों में प्राणदण्ड की प्रथा अभी चालू है। सन् १९६० में इन २० प्रदेशों में ५७ अपराधियों को प्राण देने पड़े थे। इनमें से ४५ व्यक्ति हत्या के लिए, ८ व्यक्ति बलात्कार के लिए, २ बच्चे भगा ले जाने के लिए, १ डकैती के लिए तथा एक को किसी आजीवन क़ैदी पर घातक प्रहार करने के लिए प्राण देना पड़ा था। सन् १९५५ से १९६० के वर्षों के आँकड़ों से पता चलता है कि फाँसी की सज़ा पाये एक व्यक्ति को ११ साल तक मरने की प्रतीक्षा करनी पड़ी। वाशिंगटन में उस बन्दी को ११ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

सन् १९६० के प्रारम्भ में २१० प्राणदण्डित व्यक्ति मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे जिनमें से ५७ को फाँसी हुई थी। पर इन ५७ में से केवल ९ ऐसे थे जिनको उसी साल सज़ा मिली थी। प्रतीक्षा करने वालों में ३ महिलाएँ थीं। १७५ व्यक्ति हत्या के लिए, ३४ बलात्कार के लिए, २ भगाने के लिए, १ डकैती के लिए तथा १ घातक प्रहार के अपराध में दण्डित थे। इनमें ११० नीग्रो तथा १०० गोरे चमड़े वाले थे। हत्या करने वालों की औसतन उम्र ३० वर्ष की थी जिनमें से १३ की उम्र १७ से १९ साल, ४५ की उम्र २० से २४ साल तथा ५१ की उम्र २५ से २९ साल थी। ७४ विवाहित थे, ८५ अविवाहित तथा १६ तलाकशुदा थे।[1]

भारतवर्ष में प्राणदण्ड

अगस्त १९६१ तथा अप्रैल १९६२ में राज परिषद् के कुछ सदस्यों ने भारतीय दण्डविधान से प्राणदण्ड को समाप्त करने का प्रयत्न किया था। पिछले दस साल में लोकसभा अथवा राज्य परिषद् में प्राणदण्ड समाप्त करने का यह तीसरा प्रयत्न था। स्वराज्य मिलने के बाद ही सन् १९४९ में लोकसभा में यह आवाज़ उठायी गयी थी। उस समय भारत के गृहमन्त्री सरदार पटेल ने प्राणदण्ड का समर्थन करते हुए २९ मार्च, १९४९ को कहा था कि "यह अवसर प्राणदण्ड समाप्त करने के अनुपयुक्त है। कई बार इस सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है और अन्ततोगत्वा निश्चय यही रहा कि प्राणदण्ड रहना ही चाहिए।"

दूसरी बार राज्य परिषद् में यही सवाल उठा। तत्कालीन गृहमन्त्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने २५ अप्रैल, १९५८ को उत्तर दिया था, "मेरे विचार से हरेक व्यक्ति यही चाहता है कि न कोई मारा जाय और न किसी

[1] National Prison Statistics, U. S. Department of Justice, No. 26, March, 1962.

के प्राण लिये जायँ। किन्तु, हमको इस सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना होगा।

"यदि हम प्राणदण्ड को समाप्त कर दें तो क्या हत्याएँ बढ़ेंगी या हत्याएँ कम होंगी! मेरे विचार से वैसा समय नहीं आने वाला है जब हत्याएँ कम हो जायँ—इस दण्ड को क़ायम रखना ही होगा।"

सन् १६६१ में जब तीसरी बार यह सवाल उठा तब राज्य परिषद् में पटेल या पन्त जैसा तेज़ जवाब देने वाला नहीं था और सरकार की ओर से पुराने दक़ियानूसी तर्क पेश कर दिये गये। ऐसी बहसों के मौक़े पर सरकार की ओर से जो आँकड़े पेश किये जाते हैं उनमें यही दुहाई दी जाती है कि सरकार कम से कम लोगों को फाँसी देने का प्रयत्न करती है और दण्डित लोगों की सज़ा कालापानी में बदल देने की चेष्टा करती है। किन्तु, सरकार ऐसा क्यों करती है। यदि वह समझती है कि हत्या करने वाले का प्राण लेना ही चाहिए तो फिर उदारता की या दया की क्या बात है? क्या ऐसा तो नहीं है कि सरकार के मन में यह चोर बैठा हुआ है कि बेगुनाहों को भी क़ानून की चपेट में फाँसी मिल जाती है, अतएव बहुत सावधानी से इस दण्ड का उपयोग करना चाहिए—और सावधानी बरतते हुए भी यदि बेगुनाह फाँसी पर लटक गया तो उस अभागे की हत्या की ज़िम्मेदारी किस पर होगी? यदि हरेक व्यक्ति जिसे अदालत हत्यारा साबित कर देती है, हत्यारा तथा ख़तरनाक है तो फिर उस पर दया करने का सवाल ही नहीं उठता। मालूम होता है कि सरकार को अपनी अदालतों पर विश्वास नहीं है। जिनको प्राणदण्ड में विश्वास है उनको ऐसा साफ़-साफ़ कह देने में झेंपना नहीं चाहिए।

सरदार पटेल ने सन् १६४६ में कहा था कि यद्यपि देश में हत्याएँ बढ़ी हैं पर देश में फाँसी दिये जाने वालों की तादाद बराबर घट रही है:—

वर्ष	फाँसी
१६४४.	७६२
१६४५	७३६
१६४६	५३६
१६४७	२७१
१६४८	२६०
१६४६	२६० (लगभग)

पं० गोविन्द वल्लभ पन्त ने सन् १६५८ में कहा था कि जिन देशों ने प्राणदण्ड समाप्त किया है उनमें फ़ी दस लाख व्यक्ति पीछे ४ से अधिक हत्या नहीं होती जबकि भारत में फ़ी दस लाख व्यक्ति पीछे २६ हत्याएँ होती हैं, यानी भारत में ७०० प्रतिशत अधिक हत्याएँ होती हैं। उनका एक तर्क यह

भी था कि संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस तथा ग्रेट ब्रिटेन में जितने अपराधों के लिए फाँसी होती है उससे कहीं कम अपराधों के लिए भारतवर्ष में फाँसी होती है। किन्तु यह बहुत ही ग़लत तर्क था। राज्य, भौगोलिक परिस्थिति, समाज, सभ्यता, हरेक बात का अन्दाज़ लगाकर तब तुलना करनी चाहिए। बड़ी आबादी वाले देशों में कुछ हिस्से ऐसे हो सकते हैं जहाँ हत्याएँ बहुत अधिक होती हों पर अधिकांश हिस्सों में हत्या होती भी न हो। तब, ऐसे तर्क करने से तो कोई लाभ न होगा। यह बात दूसरी है कि सरकारी तर्कों में आँकड़ों की गहराई में नहीं पैठा जाता।

सन् १९५० से १९५३ तक

भारतवर्ष में आज सर्वत्र यानी सभी प्रदेशों में प्राणदण्ड लागू है। पर, देशी राज्यों के विलीनीकरण के पहले ऐसा नहीं था। ऐसी बहुत सी देशी रियासतें थीं जहाँ प्राणदण्ड समाप्त था और उनके यहाँ हत्या इत्यादि में कभी वृद्धि नहीं हुई। सन् १९४९ तथा १९६२ के भारत में एक अन्तर यह भी है कि राज्यों का पुनः विभाजन हो गया है। बम्बई प्रदेश को महाराष्ट्र प्रदेश कहते हैं। पुराना सौराष्ट्र गुजरात हो गया है। भूपाल तथा विंध्य प्रदेश मध्य प्रदेश में विलीन हो गये हैं। हैदराबाद-दकन आन्ध्र प्रदेश बन गया है। त्रिवांकुर तथा कोचीन राज्य मिलाकर केरल प्रदेश बन गया है।

आसाम, मैसूर, त्रिवांकुर, कोचीन में सन् १९४९ से लेकर अब तक कोई फाँसी नहीं हुई है। सौराष्ट्र में सन् १९५१ में तीन पुराने अपराधियों को फाँसी हुई थी पर सन् १९५० और सन् १९५१ में एक भी नयी फाँसी नहीं हुई। विंध्य-प्रदेश में सन् १९४९ में कोई फाँसी नहीं हुई, सन् १९५० तथा सन् १९५१ में एक-एक फाँसियाँ हुईं तथा सन् १९५२ में एक भी फाँसी नहीं हुई। अजमेर, बिलासपुर, कुर्ग, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर तथा त्रिपुरा में सन् १९४९ से एक भी फाँसी नहीं हुई। भोपाल में सन् १९४९ में तीन व्यक्ति फाँसी पर लटके थे। उसके बाद से १९५३ तक कोई फाँसी नहीं हुई। सन् १९५० में दिल्ली में एक फाँसी हुई। उसके बाद कोई फाँसी नहीं हुई।

कुर्ग में सन् १९४९ में ५ हत्याएँ हुईं, सन् १९५० में ४। कुर्ग में प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त करने के कारण हत्याओं की संख्या बराबर कम होती गयी। सन् १९४९ में ५ हत्याएँ हुईं। सन् १९५२ में ३ तथा सन् १९५३ में केवल २ हत्याएँ हुईं। दिल्ली में सन् १९४९ में २६ हत्याएँ हुईं। सन् १९५० में १८, सन् १९५१ में १६ तथा सन् १९५२ में २६ हत्याएँ हुईं।

यह ध्यान रखने की बात है कि अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर और त्रिपुरा रियासतों में, उनके विलीनीकरण के पूर्व

सन् १९४९ से प्राणदण्ड की प्रथा ही समाप्त कर दी गयी थी और एक भी फाँसी नहीं हुई। जितने लोगों को फाँसी की सज़ा होती है, उतने लोगों को फाँसी होने लगे तो जल्लाद को एक दिन का भी अवकाश न मिले। पर छोटी अदालत से लेकर बड़ी अदालत और फिर सरकार की छानबीन के बाद बहुत कम लोगों को वास्तव में जान से हाथ धोना पड़ता है। सन् १९६० में उत्तर प्रदेश में ३१२ व्यक्तियों को फाँसी की सज़ा सुनायी गयी पर ६६ की जानें गयीं। सन् १९५७ में ४५९ को फाँसी की सज़ा हुई और ३७ व्यक्ति फाँसी पर लटकाये गये थे। मद्रास प्रदेश में सन् १९५१ में १२१ को तथा सन् १९५७ में १९७ को प्राणदण्ड सुनाया गया पर फाँसी क्रमशः २८ तथा ४६ व्यक्तियों को हुई।

वर्तमान आन्ध्र प्रदेश का नाम पहले हैदराबाद-दकन राज्य था। वहाँ सन् १९४९ में ७७ व्यक्तियों को फाँसी की सज़ा सुनायी गयी थी। १९५०, १९५१ तथा १९५२ में क्रमशः ४७, ६३ तथा १२९ व्यक्तियों को प्राणदण्ड सुनाया गया। पर केवल १९५१ में एक व्यक्ति का प्राण लिया गया और अन्य वर्षों में कोई फाँसी नहीं हुई। हमारे देश में सन् १९४९-१९५३ के बीच में सबसे अधिक फाँसियाँ हुईं।

सन् १९५२ से १९५७ के बीच में प्राणदण्ड की स्थिति निम्नलिखित थी :–

प्रदेश	मृत्युदण्ड प्राप्त बन्दियों की संख्या					फाँसी पर लटकाये गये बन्दियों की संख्या				
	१९५३	'५४	'५५	'५६	'५७	१९५३	'५४	'५५	'५६	'५७
आसाम	२	...	...	२	१	...	...	...	१	१
उड़ीसा	४	६	...	३	०	४	१	३	१	०
उत्तर प्रदेश	३१६	३९८	३६९	३५५	४५९	४८	३२	४५	३३	३७
मैसूर	२१	२०	६६	४२	१४	७	१	१२	१	१
बम्बई	४३	२९	६५	७५	२९	१९	२	१७	८	३
बंगाल	३	७	२	१८	१५	...	१	२	१	०
बिहार	३३	२६	४५	२४	१७	५	४	५	२	०
मध्य प्रदेश	३३	५१	४१	३३	५७	४	४	९	२	८
पंजाब	७६	३९	३४	५८	२१	४७	३३	१९	२५	४
राजस्थान	१८	१३	६	१२	११	२	४	४	...	२
मद्रास	१९७	१२४	१३५	१९२	१२१	४६	४४	३७	३२	२८
आन्ध्र	५८	६३	२२	२०	१८	४	९	९	३	०
योग	८०४	७७६	७८५	८३४	७६३	१८६	१३५	१६२	१०९	८४

इस प्रकार ऊपर दिये गये प्रदेशों में सन् १९५३ से १९५७ के पाँच वर्ष में मृत्यु दण्डित तथा मृत्यु दण्ड प्राप्त व्यक्तियों की संख्या इस प्रकार थी :—

प्रदेश	मृत्यु दण्डित	फाँसी हुई
आन्ध्र	३८७	२३
आसाम	५	२
बंगाल	४५	६
बम्बई	२४१	४९
केरल	११५	२५
मद्रास	७६९	१८७
मैसूर	१६३	२२
मध्य प्रदेश	२१५	३७
उड़ीसा	१३	९
पंजाब	२२८	१२८
राजस्थान	६०	१२
योग	२,२४१	५००

सन् १९५७ के आँकड़े पूरे नहीं हैं। दो प्रदेशों के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं, अतः फाँसियों की संख्या ५०० से कुछ अधिक होगी। सन् १९४९ में लोकसभा में गृहमन्त्री ने बतलाया था कि जितने लोगों को प्राणदण्ड होता है उनमें से केवल चालीस फ़ीसदी को फाँसी होती है। सन् १९५३-५७ के बीच में सौ में से पचीस से अधिक को फाँसी नहीं हुई। २२४१ को फाँसी की सज़ा सुनायी गयी थी। लगभग सवा पाँच सौ के प्राण लिये गये। अतः एक चौथाई को ही संसार छोड़ना पड़ा।

दिन प्रति दिन हमारे देश में अदालतों का रुख़ भी बदलता जा रहा है। अब हमारी अदालतें भी चेष्टा करती हैं कि जहाँ तक हो सके प्राणदण्ड का कम से कम उपयोग किया जाय। इसका एक उदाहरण दे रहा हूँ।

सन् १९६१ के अन्त में मद्रास प्रदेश के पुलिस विभाग की सन् १९५९ के कार्यों की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। उससे पता चलता है कि :—

१९५९ में मद्रास प्रदेश में

१. पिछले साल से जितने मामलों की जाँच हो रही है	५८	२०
२. अदालतों में विचाराधीन मामले	२३१	३३

३. १९५९ में पुलिस के सामने जितने मामले आये	८०३	२४७
४. जितने लोगों को सज़ा मिली	४२५	१२८
५. अदालत से छूट गये	२७०	७२

यह तो मानना ही पड़ेगा कि जितने लोगों को अदालत ने छोड़ दिया उनके साथ कोई पक्षपात नहीं हुआ बल्कि पुलिस ने उन पर ग़लत मुक़द्दमे भी चलाये होंगे। भारतवर्ष में हर साल लगभग बारह लाख बन्दी जेलों में दाख़िल होते हैं पर देश भर के जेलों की औसतन आबादी डेढ़ लाख होती है।

आइकमैन का मामला

सन् १९६१ में एक ऐतिहासिक मुक़द्मा चला था।

आइकमैन नामक एक व्यक्ति पर हज़ारों यहूदियों को घोर यातना देकर मारने का अभियोग था। हिटलर के शासन काल में जर्मनी में यहूदियों पर बड़े अत्याचार हुए थे। उस अनाचार के लिए नियुक्त प्रधान अधिकारी आइकमैन थे। इज़रायल की सरकार ने किसी प्रकार आइकमैन को पकड़वा लिया और अपनी अदालत में मुक़द्मा चलवाया। अदालत ने अपराधी को प्राणदण्ड सुनाया। इज़रायल ने वर्षों पूर्व प्राणदण्ड समाप्त कर दिया था। आइकमैन को फाँसी देकर उन्होंने एक नया काम किया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रकाशित होने वाले पत्र "लाइफ़ इंटरनेशनल" ने इसी सम्बन्ध में सार्वजनिक मत प्रकाशित करने के लिए अपने पन्ने खोल दिये थे। हर देश से भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते गये। इस प्रकार प्राणदण्ड के पक्ष तथा विपक्ष में नये विचार प्राप्त हो गये।

विक्टर गोलांज ने उसी पत्र में लिखा था :—

"हमको किसी व्यक्ति के पिछले कुकर्मों पर ध्यान न देकर भगवान और उसकी अनुकम्पा पर विचार करना चाहिए।"

यूनान की राजधानी एथेंस के बड़े पादरी आर० एल० ब्रूशबर्गर ने गोलांज का घोर विरोध करते हुए लिखा था—

"किसी हत्यारे को छोड़ देना न्याय, सत्यता तथा विधान के प्रतिकूल कार्य करना होगा। अगर ऐसा करना है तो अदालतों को बन्द कर देना चाहिए, कारागार ख़ाली कर देने चाहिए तथा सभी न्यायाधीशों को निकाल देना चाहिए। भगवान ही आपकी नयी सभ्यता का भला करे। मैं स्वयं प्राणदण्ड के विरुद्ध हूँ। किन्तु, आइकमैन का मामला ही निराला है। हरेक समाज में प्राणदण्ड की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय के पहले जल्लाद को हम अनिवार्य दूषण समझते थे। इसे लज्जाजनक पेशा समझा जाता था। समाज

में सबसे नीच काम समझा जाता था। पर पुराने ज़माने में जल्लाद न्यायाधीश के कठोर नियन्त्रण में रहता था। किन्तु निरंकुश शासन में जल्लाद का दर्जा सबसे ऊपर होता है। उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है। यदि सभ्यता की रक्षा करनी है तो ऐसे जल्लाद को वही स्थान देना होगा जो पहले था, यानी समाज में सबसे नीचा स्थान।"[1]

नीदरलैण्ड्स के रॉटरडम नगर के एस० डी० एब्रमॉफ़ ने लिखा था :—

"इस क्रूरता के लिए आइकमैन ज़िम्मेदार नहीं है प्रत्युत वह समाज ज़िम्मेदार है जिसने उसको ऐसी दूषित शिक्षा दी। आज वह जो कुछ है उसके लिए समाज उत्तरदायी है।"

जर्मनी की एक महिला डोरोदी बरनेट ने इस सम्बन्ध में लिखा था :—

"आइकमैन को मार डालने से क्या लाभ होगा? उसका जातिवाद तो एक विचारधारा का प्रतीक है। इस विचारधारा को समाप्त करने में आइकमैन को मार डालने से कोई सहायता न मिलेगी।"

पादरी ब्रूशबर्गर प्राणदण्ड के विरुद्ध होते हुए भी आइकमैन को मार डालने के पक्ष में थे पर इस प्रथा का विरोधी ऐसे घोरतम अपराध में भी अपनी नीति का अपवाद करने के लिए तैयार न होगा। बुरी बात किसी भी परिस्थिति में अच्छी बात नहीं हो सकती।

अस्तु, इज़रायल ने प्राणदण्ड की प्रथा समाप्त कर रखी है पर आइकमैन के प्रति उनका क्रोध इतना प्रज्वलित था कि राष्ट्रपति ने आइकमैन का दया का प्रार्थनापत्र अस्वीकार कर दिया और मई १९६२ के अन्तिम सप्ताह में आइकमैन को प्राण छोड़ना पड़ा।

इस सम्बन्ध में भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के विचारों से हम सहमत नहीं हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि इंगलैण्ड की तरह हमारे देश के महान् नेता भी अधिकार में आने के पूर्व प्राणदण्ड के सम्बन्ध में जो विचार रखते थे, उसे अधिकार में आने पर छोड़ देते हैं। नेहरू जी भी इसकी एक मिसाल हैं। ४ सितम्बर, १९४८ को उन्होंने जार्ज बर्नार्ड शॉ नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश लेखक को एक पत्र लिखा था। उसमें वे लिखते हैं :—

"यह सही है कि मैंने पहले प्राणदण्ड के विरुद्ध विचार प्रकट किये हैं पर अब मैं सोचता हूँ कि साधारणतः मेरे मन में शंका पैदा हो गयी है कि क्या किसी आदमी को १५ से २० वर्ष तक जेल में रखने से मौत बेहतर नहीं है। आज जीवन इतना सस्ता हो गया है कि कुछ अपराधियों को फाँसी पर लटका देना कोई विशेष महत्व नहीं रखता। कभी तो मन में यह

---

[1] *Life International*, Vol. 31, No. 9.

विस्मय पैदा होता है कि क्या संसार में जीवित रहने का दण्ड सबसे कठोर दण्ड नहीं है ?"

पता नहीं कैसे नेहरूजी कहते हैं कि जीवन इतना सस्ता है कि उसका कुछ के लिए कोई महत्व न होगा। मृत्यु शय्या पर पड़े एक रोगी से पूछिए कि क्या वह मर कर अपनी बीमारी से छुटकारा पाना चाहता है या बीमारी लेकर जीवित रहना चाहता है। कोई नहीं मरना चाहता। चाहे बीस वर्ष की सजा हो या असाध्य रोग हो, हर दशा में छुटकारे की क्षीण आशा जीवन को मधुर बनाये रहती है। मानव जीवन की प्रिय निधि है—आशा। आशा का दीपक बुझ गया तो जीवन भी बुझ गया।

हमारा अनुरोध

हम नहीं चाहते कि किसी के जीवन का दीपक मनुष्य के हाथों से बुझा दिया जाय। जो जीवन देता है वही उसे ले भी सकता है। जिसने किसी की जान ले ली उसने ईश्वर के प्रति ऐसा अपराध किया है जो दण्ड की सीमा के परे है। अब हम उसकी जान लेकर स्वयं उस परिधि को पार कर रहे हैं। यदि राज्य को प्रतिशोध में प्राण लेने का अधिकार है तो व्यक्ति को भी अपना प्रतिशोध लेने का अधिकार होना चाहिए। समूह की रक्षा के नाम पर राज्य सामूहिक अपराध नहीं कर सकता। जब यह मान लिया गया कि सभी हत्याएँ जानबूझकर केवल रक्त की प्यास बुझाने के लिए नहीं की जातीं तो यह भी मान लेना होगा कि इच्छा न रहते हुए भी, क्षणिक आवेश में हत्या करने वाला वास्तविक अपराधी नहीं है। अदालतें भी अब हरेक हत्यारे को अपराधी घोषित करने में घबड़ा रही हैं।

प्राणदण्ड से समाज की रक्षा नहीं होती, उससे भय नहीं बढ़ता। आवेश, कामवासना, परिस्थिति, ये सब आतंक से, भय से भयभीत होने वाली चीज़ें नहीं हैं। इनकी रोकथाम के अनेक उपाय हैं। फाँसी का तख़्ता भय का संचार करता होगा पर वह अपनी ओर हत्यारों को खींचता भी होगा। सौ वर्ष पूर्व ब्रिटिश उपन्यासकार चार्ल्स डिकेंस ने लिखा था :—

"प्राणदण्ड के साथ कुछ ऐसा आकर्षण सन्निहित है कि दुर्बल तथा दुष्ट-हृदय व्यक्ति उसके प्रति आकृष्ट होते रहते हैं।"

इस आकर्षण को समाप्त करना होगा। व्यक्तिगत हत्या के लिए राजकीय हत्या की प्रणाली समाप्त करनी होगी। तभी समाज का कल्याण होगा।

११

अनन्त यात्रा

इस पुस्तक का यह अन्तिम अध्याय है। हमने अपराध की व्याख्या और उसके निदान के लिए जो यात्रा प्रारम्भ की थी वह इस अध्याय से समाप्त होती है। किन्तु, सच बात तो यह है कि हम किसी ठोस तथा अकाट्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके हैं। हमने इस समस्या को केवल गुदगुदा दिया है, छेड़ दिया है। विचार के लिए सामग्री प्रस्तुत कर दी है। पर उसका हल निकालना हमारी सामर्थ्य के बाहर है। अपराध, अपराधी तथा अभियुक्त की समस्या सतयुग से चली आ रही है और कलियुग में उसका अन्त होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती। अपराधहीन समाज कल्पना से परे वस्तु है। जब नियम बनेंगे तो उनके तोड़ने वाले भी पैदा होंगे। नियम की रचना समाज की रचना के साथ होती है। दोनों एक दूसरे के साथ साधन और साध्य के समान मिले जुले हैं। अतएव इस सम्बन्ध में कुछ नयी बात और नया निदान खोज निकालने के लिए यात्रा करना अनन्त यात्रा है। निष्कलंक मनुष्य अथवा निष्कलंक समाज शायद ही कभी मिले। चूँकि हम ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं इसलिए हमको केवल भगवान ही निष्कलंक तथा पाप-पुण्य से परे मालूम होता है। जो लोग प्रभु की सत्ता नहीं मानते उनके लिए वह भी सहारा नहीं है। हम तो इतनी प्रार्थना करके अपने मन के बोझ को हल्का कर लेते हैं—

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथा योग्यम् तथा कुरु॥

यानी "मेरे जैसा कोई पापी नहीं है और तुम्हारे जैसा पाप को नष्ट करने वाला नहीं है। यही समझकर हे भगवति, जो उचित हो, वही करो।"

अपराध और अपराधी कम किये जा सकते हैं। उनकी बाढ़ रोकी जा सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि समाज सतर्क रहे। अपनी भूलों को पहले समझे। दूसरे की भूलों को बाद में देखे। दूसरे का दोष निकालने के

पहले अपने दोष की ओर ध्यान देना चाहिए। अपराध की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है यदि हम अपराधी को मनुष्य समझें। मनुष्य के साथ मानवीय व्यवहार करना सीखें।

कोई भी मानवीय बीमारी चिकित्सा से ही दूर होती है, दण्ड से नहीं। प्रतिशोध से नहीं। बन्दी को समाज में पुनः स्थापित करना है, उसे समाज के योग्य नागरिक बनाना है। यह तभी सम्भव है जब उसे जेल में बन्द करके भी समाज से अलग नहीं कर दिया जाय। उसका सम्बन्ध समाज से बना रहना चाहिए। सबसे आवश्यक वस्तु है उसका पारिवारिक सम्बन्ध क़ायम रखना। परिवार से सम्बन्ध बना रहेगा तो उसका खिंचाव उसे सही मार्ग की ओर खींचता जायगा। स्वीडन में २१ दिसम्बर, १९४५ के क़ानून की धारा ३६ के अनुसार बन्दी को थोड़े-थोड़े दिनों बाद घर जाने की छुट्टी दे दी जाती है—यात्रा का समय छोड़कर दो दिन से तीन दिन तक वे अपने घर रह सकते हैं। स्वीडन में सन् १९५२ में २,५२७ बन्दियों को तथा सन् १९५४ में ३०८५ बन्दियों को घर जाने की छुट्टियाँ दी गयी थीं। स्वीडिश सरकार का अनुभव है कि ऐसी छुट्टी पाने वाले वन्दियों में लगभग १५ प्रतिशत ऐसे भी होते हैं जो इस रियायत का दुरुपयोग करते हैं यानी दो दिन के लिए घर गये, चार दिन बैठे रहे। पर इस प्रणाली से बन्दी के पुनर्वास में जेल को बड़ी सहायता मिलती है।

कुछ देशों में यह रियायत स्त्री को नहीं दी जाती। भय रहता है कि घर जाकर वह गर्भवती होकर न लौटे या और कोई परेशानी पैदा हो जाय। पश्चिमी जर्मनी में पुरुप बन्दियों को सात दिन की छुट्टी दी जा सकती है किन्तु यह अवकाश केवल घर जाने के लिए मिलता है। यूनान में हर छः महीने की सज़ा भुगतने पर पाँच दिन की छुट्टी मिलती है। उत्तर प्रदेश में तीन साल सज़ा भोगने के बाद घर जाने के लिए एक महीने की छुट्टी मिलती है। पर इस रियायत का उपयोग प्रदेश में बहुत कम होता है। यूरोप के २४ देशों में पुरुष बन्दी को घर जाकर शादी करने की भी इजाज़त है। भारतवर्ष में किसी प्रदेश में यह सहूलियत नहीं है। अधिकांश खुले कारागारों में अपनी मज़दूरी को बन्दी जमा कर सकता है। घर नहीं भेज सकता। प्रायः सभी बड़े देशों में जेल में धर्म तथा नैतिकता पर व्याख्यान देने के लिए वैतनिक अथवा अवैतनिक व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं।

बन्दी की सहूलियतें

भारत के जेलों में बन्दियों के लिए क्रमशः सुविधाएँ बढ़ायी जा रही हैं। उत्तर प्रदेश के जेलों में कुछ सुविधाएँ इस प्रकार हैं—

१. हर तीसरे वर्ष घर जाने के लिए एक महीने की छुट्टी ।

२. जेल में अच्छी चालचलन और व्यवहार रखने वाले बन्दी को (कतिपय अपराधों को छोड़कर), एक तिहाई सज़ा भुगतने के बाद प्रोबेशन (आरक्षण) पर छोड़ा जा सकता है । इस प्रकार एक वर्ष की सजा वाला बन्दी चार महीने में छूट सकता है ।

३. स्त्री बन्दियों को अपने बाल बच्चों से मिलने की अधिक से अधिक सुविधा दी जाती है । यदि बच्चा छोटा हुआ तो अपनी माता के साथ जेल में रहता है । उसे दूध, मिठाई, खिलौना आदि दिया जाता है ।

४. खेतिहर क़ैदियों को बोवाई या फ़सल की कटाई के अवसर पर घर जाने की छुट्टी दी जा सकती है ।

५. जेलों में यह दण्ड नहीं दिया जा सकता कि उसकी मिलाई बन्द कर दी जाय ।

६. कारागारों के लिए ग़ैर-सरकारी दर्शक नियुक्त होते हैं । इन्हें प्रायः बन्दियों से मिलना चाहिए । उनके परिवार की समस्याओं में सहायता करनी चाहिए और यदि परिवार पर अर्थसंकट हो तो सहायता दिलाने का प्रबन्ध करना चाहिए ।

७. अक्सर जेलों में ऐसे जलसे इत्यादि करने चाहिए जिसमें बाहर के लोगों को भी निमन्त्रित किया जाय ताकि बाहरी नागरिकों से बन्दी का सम्पर्क बना रहे ।

८. धार्मिक या सामाजिक पर्वों पर उत्सव मनाना चाहिए । ऐसे अवसरों पर अधिक अच्छा भोजन मिलना चाहिए ।

९. जहाँ तक सम्भव हो बन्दियों को मिलाई के अवसर पर घर वालों से खुले स्थान में मिलने दिया जाय । ऐसा नहीं करना चाहिए कि बन्दी सींखचे के भीतर रहे और मिलने वाले बाहर से बातें करें ।

हमारी सम्मति में यह नियम बहुत अच्छे हैं । आवश्यकता है इनके समुचित पालन की ।

आधुनिक सभ्यता तथा अपराध

यह तो स्पष्ट है कि संसार में सभी अपराधशास्त्री बड़ी तत्परता और लगन के साथ अपराधी के सुधार की समस्या पर काम कर रहे हैं । हेनरिक लेखक के शब्दों में, वे साधारण तर्क से ऊपर उठकर, मानवीय सहानुभूति के सहारे काम करना चाहते हैं । सभी देशों में विचारपति लोग अपराध का फ़ैसला करते समय क़ानून के साथ ही साथ मनुष्यता का भी मेल रखना चाहते हैं । पर यह सब होते हुए भी अपराध तथा अपराधी दोनों बढ़ रहे हैं । इस विषय

में पुराने सिद्धान्त तो समाप्त हो गये। युद्ध के समय या ग़रीबी के कारण अपराध बढ़ता है, यह कोई नहीं कहता। धनी मुल्कों में, शान्तिपूर्ण वातावरण में अपराध और भी तेज़ी से बढ़ रहा है। काम-वासना ही अपराध का कारण है, यह बात भी ग़लत साबित हो चुकी है। डा० लुई लंडन और फ्रांक कैप्रियो[1] ने अपनी एक पुस्तक में इस धारणा का पर्याप्त खण्डन किया है। उनके कथनानुसार सह-मैथुन भी एक मनोवैज्ञानिक रोग है। इसे दूर किया जा सकता है। वे हर प्रकार के वासना के गन्दे अपराधों को भी उतना हेय तथा अप्राकृतिक नहीं समझते जितना हम समझते हैं।

आज की दुनिया में अपराध की समस्या पर १९ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। उनमें बड़े महत्व के लेख होते हैं। आँकड़े होते हैं। एक के बाद दूसवे अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय सम्मेलन इसी सम्बन्ध में विचार करने के लिए होते रहते हैं। न्यूयार्क में कारागारों की समस्या पर विचार करने के लिए एक पुरानी संस्था है।[2] उसके भूतपूर्व मन्त्री डा० एनक कॉब वाइन्स ने सन् १८६८ में सलाह दी थी कि अपराध की समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय रूप से सदैव विचार होना चाहिए। सन् १८७२ में लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड सुधार सम्मेलन हुआ था। तब से प्रायः प्रतिवर्ष ऐसे सम्मेलन कहीं न कहीं होते रहते हैं और अपराध तथा अपराधी की समस्या पर गवेषणा-पूर्ण विवेचन सुनने और पढ़ने को मिलता है।

सन् १९५० में दि हेग में अपराध निरोध पर जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था उसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि दण्ड देने के पहले अपराध तथा अपराधी की सभी परिस्थितियों की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। जब तक इन सब बातों का पता न लग जाय दण्ड का समुचित निर्णय नहीं हो सकता। साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि दुबारा अपराध करने की प्रवृत्ति रोकने के लिए अपराधी को कुछ शर्तों पर सज़ा की अवधि के पहले छोड़ना चाहिए ताकि उसको जीवन में सही मार्ग पर ज़ल्दी स्थापित किया जा सके।

सन् १९५१ में पेरिस कांग्रेस ने सलाह दी थी कि मौजूदा कारागार की प्रणाली पर विचार करना होगा। अपराधी को जेल भेजकर हम समूचे परिवार को छिन्न-भिन्न कर देते हैं इसलिए छोटी अवधि की क़ैद की सज़ा एकदम बन्द कर देनी चाहिए। आजकल के कारागार ऐसे हैं कि उनमें थोड़े दिनों के लिए भी बन्द होने पर स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। क्षयी ऐसी बीमारियाँ

Louis S. London and Frank S. Caprio : *Sexual Deviations*.
Prison Association, New York.

पकड़ लेती हैं और जेल का घुन शरीर को सदा के लिए निकम्मा कर देता है। सन् १९५० में मनोवैज्ञानिकों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव किया था कि असामाजिक व्यक्ति की चिकित्सा के लिए मनोविश्लेषण नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपराध विज्ञान की तीन शाखाएँ हैं—मनोविज्ञान, दण्डशास्त्र तथा अपराधशास्त्र। बिना इन तीन शाखाओं को एक में मिलाये, बिना इन तीनों का एक साथ समन्वय किये अपराधी और अपराध की चिकित्सा और व्याख्या नहीं की जा सकती।

महायुद्ध का प्रभाव

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आँकड़ों से यह सिद्ध है कि दिन प्रतिदिन संसार के हर कोने में अपराध बढ़ते जा रहे हैं। कुछ अपराधशास्त्रियों ने यह मत क़ायम किया था कि महायुद्ध के दिनों में आर्थिक व्यवस्था की गड़बड़ी के कारण अपराध बढ़ते हैं। किन्तु, इस सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व गृह-मन्त्री श्री शूतर एदे ने इस भावना का खण्डन किया है। २१ नवम्बर, १९५१ को ब्रिटिश महिलाओं के राष्ट्रीय संघ के सम्मुख भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि चाहे आर्थिक गड़बड़ी के कारण ही हो, विगत महायुद्ध के अन्त में सन् १९४५ में अपराधों की संख्या चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। पर सन् १९४८ में ग्रेट ब्रिटेन में जितने अपराधी बालक बालिकाएँ अदालत के सामने पेश किये गये। उतनी बड़ी संख्या सन् १९३३ के बाद कभी नहीं सामने आयी थी। चौदह वर्ष की उम्र के नीचे २६,७१५ बालिकाएँ तथा बालकों को तथा १४-१७ वर्ष की उम्र के १६,९९१ को विभिन्न अपराधों के लिए अदालतों से सज़ा मिली थी। किन्तु सन् १९५० के प्रथम छः महीने में ही १४ वर्ष से कम १३,२९५ तथा १४-१७ वर्ष तक के ८,४८० बालक बालिकाओं को सज़ा मिल चुकी थी। आधा साल बाकी पड़ा था। सन् १९४९ की तुलना में, केवल छमाही में ही बाल-अपराधों में ढाई से तीन प्रतिशत वृद्धि हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि महायुद्ध के जिम्मे ही कलंक नहीं थोपा जा सकता।

अपराध का मूल कारण अभाव या दरिद्रता नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका तो बहुत धनी देश है। ग्रेट ब्रिटेन में फ़ी व्यक्ति की औसतन वार्षिक आमदनी २६०५ रुपया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ७,३१८ रुपया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग ४ लाख परिवार की वार्षिक आमदनी ८००० रुपये से ऊपर है। फिर भी, उस देश में सन् १९६१ में १९,२६,०९० गम्भीर अपराध हुए थे। वर्ष में अपराधों का औसत इस प्रकार था—

अपराधों का वर्गीकरण	१८५८-६० का औसत	१९६१ में
कुल अपराध	१६,८८,७६०	१९,२६,०६०
हत्या	८,५६०	८,६००
ज़बर्दस्ती बलात्कार	१५,२५०	१६,०१०
डकैती	८१,१४०	६१,६६०
लड़ाई झगड़ा—वासना के भी	१,२२,७१०	१,३३,०२०
सेंधमारी	७,३३,६००	८,५२,५००
चोरियाँ	४,२८,८००	४,६८,१००
मोटर कार की चोरी	२,६८,४००	२,२६,२००

धनी तथा समृद्ध इंगलैण्ड (वेल्स भी) में अपराधों में वृद्धि भयंकर है :

अपराध	वर्ष १९३८	वर्ष १९६१
चोरी	१,९९,९५१	५,३१,४३०
सेंधमारी	४६,१८४	१,६४,९८६
चोरी का माल लेना	३,४३३	११,७७७
जालसाजी	१७,०९७	३९,६५१
काम-वासना के अपराध	५,०१८	२०,४०४
दूसरे पर आघात, हत्या आदि	२,७२१	१७,६०१
अन्य अपराध	६,८१६	१९,०५१
	२,८३,२२०	८,०६,९००

सबसे अधिक पुलिस लन्दन में तैनात है। लार्ड टेम्पुलउड ने उस देश के मैजिस्ट्रेट समुदाय की वार्षिक सभा में कहा था कि सन् १९४८ में ब्रिटेन में क्रिमिनल जस्टिस ऐक्ट पास होने के बाद लन्दन के क्षेत्र में अपराधी को किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड देना वर्जित हो गया था। इस नियम का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि मारपीट के मामले में ७·७ प्रतिशत की कमी हो गयी। डकैती इत्यादि में २२ प्रतिशत की कमी हुई। १८ अप्रैल १९४९ से उस देश में एक नया क़ानून लागू हो गया है। इसके अनुसार अपराधी को जेल न भेजकर सुधार-गृह में शिक्षा के लिए भेजा जाता है तथा जिन्होंने वास्तव में अपराध नहीं किया है पर उनमें अपराध की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है, उनको भी सुधार-गृहों में रखा जाता है। इसका परिणाम भी बहुत अच्छा हुआ है। यदि अपराधी को यह मालूम रहता है कि अमुक अपराध करने पर उसे अमुक अवधि तक जेल में रहना पड़ेगा, वह उसी हिसाब से अपना कार्यक्रम बना लेता है। पर सन् १९४९ के क़ानून ने बहुतों के लिए यह

अवधि समाप्त कर दी है। उस क़ानून के अनुसार अपराधी को तब तक जेल में रखा जायगा जब तक उसमें पूर्ण सुधार न हो जाय। ग़ैर मियादी क़ैद से अपराधी बहुत घबड़ाता है।

लार्ड टेम्पुलउड की सलाह है कि बन्दी के सुधार की शिक्षा वर्तमान कारागारों के एक निश्चित कक्ष में नहीं दी जा सकती। इसके लिए पृथक् संस्था या कारागार होना चाहिए।

अपराध पर शहरी जीवन का प्रभाव

संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में सन् १९६० के सितम्बर महीने में लन्दन में द्वितीय अपराध निरोध कांग्रेस हुई थी। ८० प्रदेशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। इस विषय में सभी एकमत थे कि बाल-अपराध और वयस्क-अपराध दोनों काफ़ी बढ़ गये हैं। पर इस वृद्धि का एक कारण यह भी है कि पहले जिन छोटी-मोटी बातों को अपराध नहीं माना जाता था, वे भी अब अपराध के दायरे में आ गयीं हैं। इसलिए कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा सलाह दी थी कि अपराध के आँकड़ों को अनावश्यक रूप से बढ़ाना नहीं चाहिए। हरेक देश में नियम यह होना चाहिए कि बाल-अपराधी उसी को समझें जो दण्ड विधान की धाराओं के अन्तर्गत आता हो तथा उसी अपराध को अपराध समझें जिसके लिए बालिग़ लोग भी दण्डित हो सकते हैं। जीवन की साधारण त्रुटियों को अपराध नहीं समझना चाहिए। हरेक व्यक्ति के जीवन में साधारण त्रुटियाँ होती रहती हैं, होती ही हैं। अतः उसे अपराधी नहीं कहना चाहिए।

ऊपर हमने जिन अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों का ज़िक्र किया है उनसे जो ख़ास बात पैदा होती है वह इतनी ही है कि अपराध वास्तव में स्वतः कोई सत्ता नहीं रखते। जिस समाज में व्यक्ति रहता है उसके आचार-विचार के नियमों पर ही अपराध की सत्ता निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में स्कूल से या घर से भाग जाने वाले बच्चों को अपराधी समझा जाता है पर किसी बालिग़ आदमी को इन दोनों कामों के लिए दण्ड नहीं दिया जाता। उसी देश में बिना अपराध किये हुए बच्चों पर भी पुलिस निगरानी रख सकती है। किन्तु, आज के अपराधशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि पुलिस को बच्चों का अभिभावक मान लेना या बना देना उचित बात नहीं है। न्यूयार्क की पुलिस ने यह फ़ैसला किया है कि ऐसी सामाजिक सेवा करना पुलिस के कर्तव्य के दायरे में नहीं है।

हमने लन्दन कांग्रेस का ज़िक्र किया था। सन् १९६० की इस महासभा ने एक बड़ा काम किया है। उसने अपराध निरोध के कार्यों के सम्बन्ध में पुलिस के कर्तव्य की व्याख्या कर दी है। उसने यह साफ़ कह दिया कि समाज-

कल्याण का कार्य करने वाली संस्थाओं के साथ पुलिस की गणना नहीं करनी चाहिए। पुलिस का काम समाज कल्याण विभाग के कार्यों का अंग नहीं बन सकता, नहीं बनाना चाहिए। पुलिस का काम अपराध रोकना अवश्य है पर वह नये ढंग के बाल-अपराधों को रोकने की ओर ध्यान नहीं दे सकती। जो काम समाज कल्याण या समाज-सेवा की परिधि में आते हैं, उनमें पुलिस का हस्तक्षेप अवांछनीय है।

जनता का आचार और पुलिस

इंगलैण्ड के लिवरपूल नगर की पुलिस ने व्यक्ति के आचार-व्यवहार को ठीक रखने की ज़िम्मेदारी ले रखी है। किन्तु, स्वयं इंगलैण्ड के और नगरों की पुलिस भी लिवरपूल की पुलिस के इस कार्य से सहमत नहीं है। पर इस बात का निर्णय कौन करेगा कि स्वयं पुलिस का किस प्रकार का आचार-व्यवहार होना चाहिए ! समाज में अपराधी वही है जो अपने को सामाजिक व्यवस्था में ठीक से न चला सके। मैनुअल लोपेज़ रे ने "पुलिस और बाल-अपराध" पर अपनी पुस्तिका में लिखा है कि यदि समाज की व्यवस्था के साथ ठीक से अपने को मिलाकर न चलने वाले को अपराधी कहने लगें तो ऐसे कितने आदमी मिलेंगे जो अपने समाज में या घर में भी उसकी व्यवस्था के साथ पूरी तरह से सम्बन्ध स्थापित करके रहते हों। व्यतिक्रम तो हरेक से होता रहता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामाजिक सेवा विभाग के भूतपूर्व परामर्शदाता यानी ऐडवाइज़र मैनुअल लोपेज़ रे का कहना है कि आज हम अपराधी तथा असामाजिक व्यक्ति की एक बडी भ्रमपूर्ण व्याख्या करते हैं। साधारणतः यही कहा जाता है कि जो व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में अपने को खपा न सका, उससे मेल करके अपने को न चला सका वही अपराधी है। वास्तव में ऐसा नहीं होता। समाज की व्यवस्था में ठीक से चलने वाला व्यक्ति किसी दिन उन्मादवश किसी की हत्या कर दे या छत के ऊपर अपने किसी साथी के साथ बातें करते हुए मज़ाक़ में ही उसे धक्का दे और साथी नीचे गिरकर मर जाय—दोनों ही दशा में वह अपराधी कहा जायगा। उस पर हत्या का अभियोग लगेगा। अतएव वह अपराधी न होते हुए भी अभियुक्त हो गया। किन्तु, यह कौन कहेगा कि उस व्यक्ति में समाज की व्यवस्था के प्रतिकूल चलने का भारी दोष था। सोलहों आना समाज में घुल-मिलकर उसकी व्यवस्था का पालन करते हुए कौन रहता है, कौन चलता है। अतएव यह नहीं भूलना चाहिए कि हरेक अपराधी वास्तव में असामाजिक व्यक्ति नहीं है तथा हरेक अभियुक्त वास्तव में अपराधी नहीं है। हरेक अपराधी न तो समाज की व्यवस्था से बेमेल व्यक्ति है और न तो हरेक ग़ैर-अपराधी समाज की व्यवस्था

में पूरा मेल वाला व्यक्ति है। हम लोग भ्रान्त धारणा के कारण ही अपराधी तथा अभियुक्त दोनों को ठीक से नहीं समझ पाते हैं।

अपराधी की चिकित्सा से अधिक महत्वपूर्ण है अपराधी के आचरण की समुचित परीक्षा। संयुक्त राज्य अमेरिका के विसकौंसिन विश्वविद्यालय के अध्यापक डा० मार्शल बी० क्लिनार्ड ने वर्षों से परिश्रम करके यह जानने का प्रयास किया है कि अपराधी के आचरण के भीतर कौनसा मर्म छिपा है और जो रहस्य छिपा है उसकी छानबीन कैसे की जाय। सन् १९४० से खोज करते-करते बीस वर्ष में वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिस समाज में जिस प्रकार का तथा जिस सीमा तक सांस्कृतिक विकास होगा, उस समाज में प्रचलित आचार-विचार के अनुसार ही अपराध तथा अपराधी की व्याख्या की जा सकेगी। इसीलिए डा० क्लिनार्ड का मत है कि कतिपय मामलों में अपराध शास्त्र के सार्वभौम सिद्धान्त हो सकते हैं पर जिस प्रकार हरेक राष्ट्र का अपना भिन्न संविधान, भिन्न दण्ड शासन तथा न्याय शास्त्र होता है वैसे ही उनका भिन्न अपराध शास्त्र भी होगा। अर्थात् हरेक देश का अपना पृथक् "राष्ट्रीय अपराध शास्त्र" होगा।

शहर का जीवन और अपराध

यह निर्विवाद है कि देहातों की तुलना में शहरों में कहीं अधिक अपराध होते हैं। यह सोचने की बात है कि ऐसा क्यों होता है? नगरों के जीवन में क्या दोष है जिससे अपराधी की अधिक मात्रा में वहीं उत्पत्ति होती है। शहराती शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या है। आमतौर से यह माना जाता है कि छः वर्ष की उम्र से २१ वर्ष की उम्र के बीच में जिसका अधिकतर जीवन नगर या ग्राम में बीता हो उसकी वही संज्ञा होनी चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका के इओवा नगर की छानबीन करने से पता चला कि जिस व्यक्ति का जीवन ६-२१ वर्ष के बीच में शहर में जितना अधिक रहा है, वैसा ही वह अपराध की ओर अधिक उन्मुख होता है। दूसरी बात यह भी है कि देहाती और शहराती के अपराधी कार्य में एक अन्तर है। शहराती आदमी चोरी, परायी सम्पत्ति-हरण आदि के अपराध ग्रामीण की तुलना में कहीं अधिक करता है।

इस सम्बन्ध में ओलाफ़ किनबर्ग नामक विद्वान ने एक सुझाव दिया है। वे कहते हैं कि केवल नगर में ही रहने से अपराधी प्रवृत्ति नहीं बढ़ती। संयुक्त राज्य अमेरिका के नगरों में अपराध इसलिए बढ़ा है कि वहाँ परदेशी तथा शरणार्थी बहुत आ गये हैं। उनकी तथा अमेरिकन संस्कृति में संघर्ष के कारण एक ऐसी मानसिक विषमता पैदा हो गयी है जिससे जनता का नैतिक ह्रास हुआ है। स्टीफ़ेन हरविट्ज़ ने दूसरी बात कही है। उनका कथन है कि

अपराधी प्रवृत्ति व्यक्तिगत जीवन, परिवार तथा स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। ग्राम और नगर के जीवन का अपराधी प्रवृत्ति पर प्रभाव समझने के लिए यूरोप के सबसे प्रगतिशील तथा शहराती देश स्वीडन में जाँच पड़ताल की गयी। विगत डेढ़ सौ वर्षों से इस देश में न तो कोई युद्ध हुआ है, न कोई आक्रमण हुआ है, और न शरणार्थी समस्या ने ही परेशान किया है। स्वीडन के ५२ कारागारों में १७ से २० वर्ष की उम्र के १०१ युवकों की परीक्षा की गयी। इसमें से ७४ युवक ऐसे थे जिनका जीवन अन्य की अपेक्षा घोर शहराती था। १८ व्यक्ति आधे शहराती तथा आधे देहाती कहे जा सकते थे। ९ व्यक्ति एक प्रकार से देहाती ही थे। अन्य देशों में भी ऐसी ही जाँच की गयी तो वहाँ भी यही सिद्ध हुआ कि जो देश जितना अधिक शहराती होगा, जिस देश में ग्राम्य जीवन जितना कम होगा उस देश में अपराध और अपराधी की संख्या उतनी ही अधिक होगी। नगर के चोर परायी सम्पत्ति अपहरण के अपराध अधिक करते हैं। स्वीडन में यह सिद्ध हुआ है कि विभिन्न वर्गों तथा समुदायों के सम्पर्क में आने के कारण ही अपराधी प्रवृत्ति बढ़ती है या पैदा होती है। स्वीडन में अपराधी नागरिकों में ७२ प्रतिशत ऐसे थे जिनका सम्पर्क एक से अधिक समुदाय से हुआ था। देहाती व्यक्ति अपने एक वर्ग तथा समुदाय में रहने का आदी रहता है। अतएव उसके परस्पर के सम्बन्ध भी बहुत होते हैं। इसलिए एक दूसरे से स्नेह भी अधिक रहता है। शहर के जीवन में पड़ोसी से राम-राम करने की नौबत भी नहीं आती। सम्पर्क की बात तो दूर रही, परस्पर सम्बन्ध होता ही नहीं।

नगर में बाल-अपराध

नगर के अपराधियों में बालक-बालिकाओं का औसत अधिक होता है। जितनी बड़ी आबादी होगी, उतना अधिक अपराध होगा। जो देहात नगर से जितना निकट होगा वहाँ उतना ही अधिक अपराध होगा। नगर तथा देहातों की दूरी घटती जा रही है। यातायात के साधनों की सुविधा के कारण अब उतनी दूरी नहीं रही। अब आबादी के घनी होने या न होने का भी उतना प्रभाव नहीं है जितना कि यातायात आदि के कारण निकट सम्बन्ध का महत्व है। इसीलिए अब देहातों में बाल अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं। देहातों पर नगर के सम्पर्क का प्रभाव इतना बुरा पड़ रहा है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में देहाती क्षेत्र तथा छोटे नगरों में बड़े नगरों की तुलना में बाल-अपराध अधिक शीघ्र गति से बढ़ रहा है।[१]

१ *Report of the Congress on Juvenile Delinquency—86th Congress* U. S. Department of Health, Education and Welfare, 1960, p. 4.

नगर तथा देहात, दोनों का जीवन आज अनैतिकता की ओर बढ़ रहा है। मानव जीवन में चरित्र तथा कर्तव्य की मर्यादा दिन प्रतिदिन गिरती जा रही है। अपराधी समुदाय की एक नयी परम्परा तथा नयी संस्कृति बनती जा रही है। समाज के नियम तथा समाज के संगठन की ओर ध्यान न देकर हम अपने मन तथा कर्म से असामाजिक जीवन का सृजन कर रहे हैं। नयी सभ्यता के आवेश में धर्म, कर्तव्य, ईश्वर तीनों का अस्तित्व ही हमारे लिए समाप्त होता जा रहा है। अपराध तथा अपराधी की समस्या को हल करने वाले अपराध शास्त्री को एक बार यह भी सोचना चाहिए कि समाज में ईश्वर, धर्म, कर्तव्य तथा पाप-पुण्य की भावना को पुनः स्थापित करके क्या हम अधिक उन्नत, श्रेष्ठ तथा अपराधहीन समाज की रचना नहीं कर सकते! बिना धर्म के समाज प्रगति नहीं कर सकता। बिना ईश्वर-भक्ति के मानव जीवन निरर्थक है।

सहायक पुस्तकों की सूची

1. Administration Report on the Working of Immoral Traffic in Women and Girls' Act, for the year 1959, Madras, Government—1960.
2. AICHORN, A., *Wayward Youth.*
3. ALEXANDER, STATUTE AND ZILBOORG, *The Criminal, the Judge and the Public*, 1957.
4. All India Jail Committee Report, 1919-1920, Government of India.
5. All India Jail Manual Committee Report, 1957-1958.
6. Annuals of the American Academy of Political and Social Sciences, September, 1941.
7. Annual Abstract of Statistics, No. 91, 1954, France.
8. ARTHUR COLLIS AND VERA E. POOL, *These Our Children*, 1960.
9. Administration Report of the Probation Branch of Jail Department, Madras State, 1961.
10. A Treatise on the Medical Jurisprudence of Insanity, 1838.
11. BARBARA WOOTON, *Social Science and Social Pathology*, George Allen and Unwin, 1959.
12. BARNES, H. E., *Society in Transition.*
13. BARNES, H. E. AND NEGELY K. TEETERS, *New Horizons in Criminology*, 1959.
14. BENTHEM, *Principles of Morals and Legislations.*
15. BERNALDO DE QURROS, C., *The Modern Theories of Criminality.*
16. BRACE, CHARLES LORING, *Gesta Christie*, 1882.
17. बृहस्पति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति

18. BURT CYRIL., *The Young Delinquent*, 1938.
19. C. N. RALPH, *Women of the Streets*, 1955.
20. CALVERT E. ROY AND THEODORE CLAVERT, *The Law Breaker*.
21. चाणक्य नीति
22. Crime in the United States—Uniform Crime Reports, 1961, Federal Bureau of Investigations, U. S. A.
23. Children's Bureau Statistical Series, No. 8, 1954.
24. Comparative Survey of Juvenile Delinquency, Part IV—Asia and the Far East—1953.
25. *Convicts Redeemed*, All India Crime Prevention Society, 1960.
26. Criminal Statistics, England and Wales, 1961, London.
27. CRAW, F. A. E., *Animal Genetics*, 1925.
28. D. FOOD., *The Delinquent Child and the Community*, Constable and Co., London, 1957.
29. DICEY, A. V., *Law and Public Opinion in England*, 1952.
30. DU CANE, E. F., *The Punishment and Prevention of Crime*, 1885.
31. EXNER, FRANZ, *Criminal Biology*.
32. Federal Prisons, 1961, Federal Bureau of Prisons, U. S. A.
33. FOX L. W., *The Place of Open Institution in the Penal System and in the Community*, United Nations, 1955.
34. FRANKNEL, CHARLES, *The Case for Modern Man*, 1957.
35. FURSTEIN REIN, *Causes and Motives of Juvenile Delinquency*, 1956.
36. FURTH, REYMOND, *Human Types*, 1957.
37. GARIFALO, RAFAELO, *Criminology*, 1884.
38. GILLINS, *Taming the Criminals*.
39. GLUECK, SHELDON, *Mental Illness and Criminal Responsibility*, 1956.
40. HALL, J. C. F., *Boy Crime in Burma*, 1939.
41. HAMBLIN SMITH, *Psychology of the Criminal*, 1922.
42. HARRIS B. PECK AND VIRGINIA BELLSMITH, *Treatment of the Delinquent Adolescent*, 1957.

43. HEALY, WILLIAM, *The Individual Delinquent*, 1927.
44. HOWARD, JOHN, *The State of Prisons.*
45. International Review of Criminal Policy, United Nations, No. 7 and 8, 1954 and 1955.
46. International Review of Youth Magistrates, Brussels, 1960.
47. J. M. TANNER AND B. INHELDER (Ed.), *Discussion on Child Development*, 1956.
48. JAGGER, GUSTAW, *Discovery of Soul*, 1884.
49. J. EDWARDS, *Mens Rea in Statutory Offences*, 1955.
50. Journal of Social Therapy, Vol. 2, No. 3, December, 1952.
51. Journal of Criminal Law, No. 11, August, 1958.
52. Journal of Rehabilitation in Asia, October, 1961.
53. Journal of Indian Medical Association, September, 1961.
54. Journal of Criminal Science, Macmillan & Co., 1950.
55. Juvenile Delinquency in Post-War Europe—European Committee on Crime Problems, Strasbourg, 1960.
56. KEIFER, OTTO, *Sexual Life in Ancient Rome*, 1951.
57. KISCH, E. H., *The Sexual Life of Women in its Physiological, Methodological and Hygienic Aspects.*
58. KIRKPATRICK, CLIFFORD, *The Family as Process and Institution.*
59. KLUCKHOHN, C., *Miror for Man*, 1950.
60. LEWIS F. LAWES, WARDEN, *Meet the Murderer*, 1940.
61. LEO W. SIMONS AND HAROLD G. WOLFF, *Social Science in Medicine*, 1961.
62. *Life International*, New York, October 23, 1961.
63. LOPEZ-REY, MANUEL, *Police and Juvenile Delinquency*, 1961.
64. महाभारत
65. मनुस्मृति
66. M. ABRAMS, *The Teenage Consumer*, London Press Exchange, 1959.
67. MALINOWSKI, BRONSLAW, *The Sexual life of Savages*, 1960.
68. *Mens Rea in Statutory Offences*, 1948.

69. *Mental Abnormality and Crime*, 1949.
70. MERZ CHARLES, *Bigger and Better Murders*, 1928.
71. Modern Methods of Penal Reform, International Penal and Penitentiary Commission.
72. NADEL, S. F., *The Theory of Social Structure*, 1956.
73. Newsletter of International Union of Child Welfare, March/April, 1961.
74. National Prison Statistics, U. S. Department of Justice, No. 26—March, 1962.
75. *Newsletter*, No. 60—Oct., 1962—South Africa.
76. New Forms of Juvenile Delinquency : Their Origin, Prevention and Treatment—General Report prepared by Wolf Middendorff, Judge, Federal Republic of Germany, United Nations, 1960.
77. New Forms of Juvenile Delinquency : Their Origin, Prevention and Treatment—Report prepared by the Secretariat, United Nations, 1960.
78. New York State Youth Commission, Youth Service News, 1959.
79. OSBORNE, T. M., *Society and Prisoners.*
80. Penal Practise in a Changing Society—U. K. Home Department, London, 1959.
81. PINEL *Medical and Philosophical Treatise on Mental Alienation*, 1901.
82. Police and Mental Health of Children, UNESCO, 1956.
83. Prevention of Juvenile Delinquency in Selected European Countries, U. N. O., 1955.
84. RAO, JAGANNATH D., *Law Relating to Confession*, 1961.
85. Report Annual, United Nations, 1954.
86. REISS, IRA, *Pre-marital Sexual Standard in America.*
87. Report on the Administration of Jails, West Bengal, 1961.
88. Report on the Prison Administration of Uttar Pradesh, 1960.
89. Report of Madras Police—Government of Madras, 1960.
90. Report of the Administration of Police, Government of Andhra State, 1958, Published in 1961.

91. Report to the 86th Congress on Juvenile Delinquency—U. S. Government, 1960.

92. Report of Prison Association, New York, 1961.

93. Report on the Administration of Police, Kerala Government, 1961.

94. Report on the Administration of Police, Himachal Pradesh, 1960.

95. SANGER, W. W., *The History of Prostitution*, 1910.

96. SEN, P. K., *Penology : Old and New*, 1943.

97. *Sexology*, New York, 1961.

98. SMITH, HAMBLIN, *Psychology of the Criminal*, 1922.

99. Social Case-Work, New York, November, 1959.

100. TAPPAN, PAUL W., *Crime, Justice and Correction*, 1960.

101. TRAVER, F., *Anatomy of a Murder*, 1958.

102. T. C. N. GIBBENS, *Trends in Juvenile Delinquency*, World Health Organisation, Geneva, 1961.

103. U. P. Jail Industries Committee Report, 1955-56.

104. U. P. Prison Administration Reports.

105. U. S. A. Government, National Prison Statistics, 1961.

106. WESTERMARK, E., *Origin and Development of the Moral Idea*, 1912.

107. *World Mental Health*, Vol. 4, December, 1952.